म.म. हरिहरोपाध्यायनिर्मितं

भर्तृहरिनिर्वेदम्

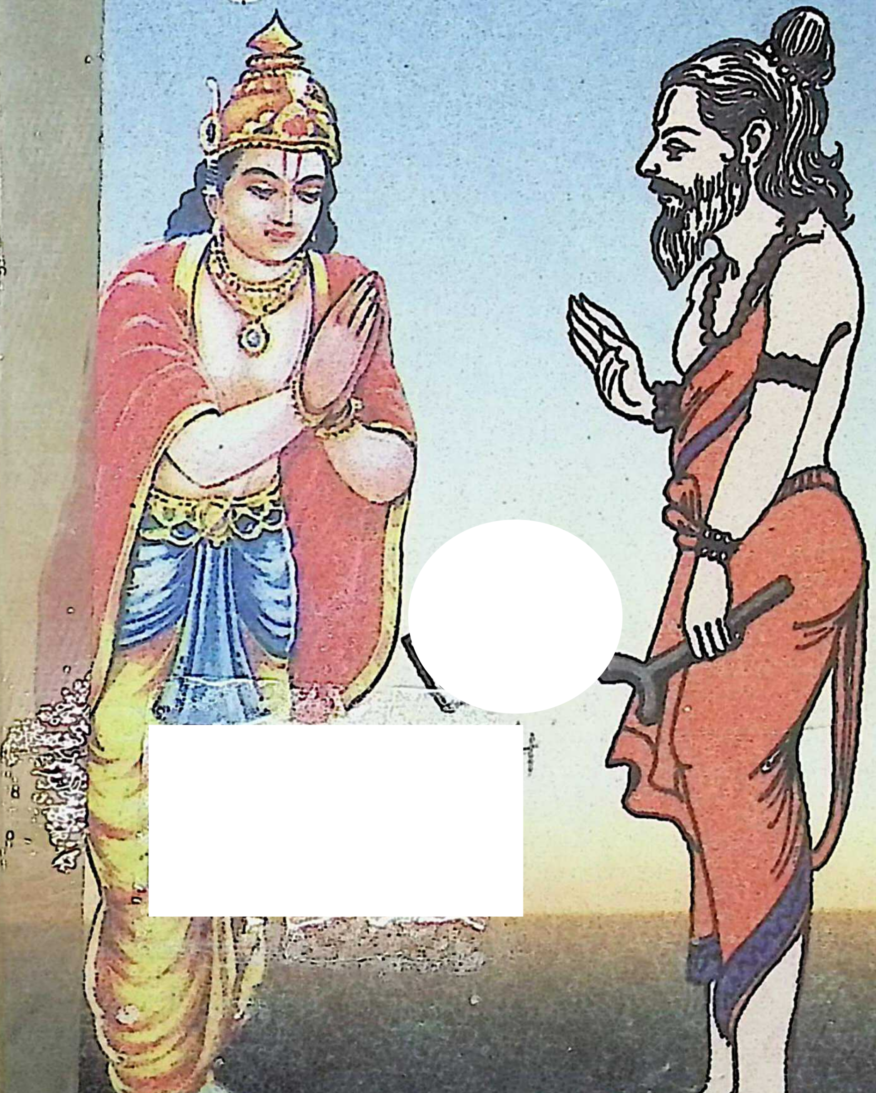

डॉ. उदयनाथ झाः 'अशोकः'

देखी बहुत निराली महिमा सत्संग की।
सत्संग में मिलते हैं हीरे, पर मिलते हैं मोती हैं ...
जिनके बीज निराली, ...
सत्संग [illegible] जो करते हैं नेक काम
करमें ही रहे [illegible]
सत्संग हो [illegible] डूबते की सांस
सदा रहे खुश हाली [illegible]
सत्संग में सब मिल कर आओ [illegible]
[illegible] होने होते हैं [illegible]
जो डूबते हैं वो सब जीते हैं और [illegible] हैं
यह बात [illegible] है।
सबरे को सत्संग में [illegible], फूलचन्द माली [illegible]
शिव [illegible] कहे [illegible] है।

म.म. हरिहरोपाध्यायनिर्मितं

भर्तृहरिनिर्वेद-नाटकम्

(म.म.प. मुकुन्दझावख्शी प्रणीतया सुखबोधिन्याख्यया व्याख्यया डॉ. एल्.एच्.ग्रे कृताङ्ग्लानुवादेन प.वचनेशमिश्र विरचित-हिन्दीपद्यानुवादेन च विभूषितम्)

'जयन्ती' व्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ. उदयनाथ झाः 'अशोकः'

आचार्य (द्वय) एम्.ए. (द्वय) साहित्यरत्नम्
पी-एच्.डी., विद्यावाचस्पतिश्च

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
श्रीसदाशिव-परिसरः, पुरी (उत्कलाः)

जयश्रीप्रकाशनम्, पुरी
शकाब्दः १९२७

भर्तृहरिनिर्वेदनाटकम्

म.म.हरिहरोपाध्यायविनिर्मितम्

सुखबोधिनी - म.म.प. मुकुन्दझावख्शी

आंग्लानुवादः - डॉ. प्रो.एल्.एच्.ग्रे

परिशिष्टगत -

हिन्दी अनुवादः - आचार्य प. वचनेश मिश्रः

भूमिकालेखक : जयन्तीव्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ. उदयनाथ झाशर्मा 'अशोकः'

प्रकाशिका -

श्रीमतीनन्दा झा, एम्.ए.

जयश्री प्रकाशनम्, पुरी - ७५२००१

दूरभाषः - २२७५१० (०६७५२)

प्रथम-संस्करणम् - १९२७ शकाब्दः

मूल्यम् - २००/-

मुद्रकः -

ग्राफिक् प्वाइण्ट

कचेरागली, पुरी, दूरभाष - २२४६१०

समर्पण

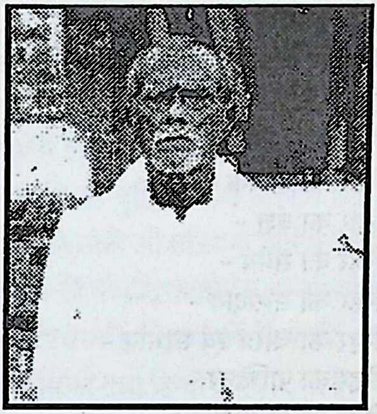

प्रथमाक्षर से लेकर व्याकरणाचार्य पर्यन्त
जिनके श्रीचरणों में बैठकर ज्ञानार्जन किया,
उन्हीं पितामह - भ्राता
वैयाकरण केशरी प. चन्द्रमाधव झा
की पावन स्मृति में...............

विषयसूची

१.	नैवेद्यम्		
२.	भूमिका		
	i)	शान्तरस : एक समीक्षा -	०१
	ii)	सं. साहित्य में हरिहर -	१७
	iii)	हरिहर के प्रसंग भ्रान्ति और उसका निराकरण -	२१
	iv)	भर्तृहरिनिर्वेदकार का परिचय -	३९
	v)	हरिहर का जन्म -	३९
	vi)	हरिहर का मात्रिक -	४०
	vii)	हरिहर का वंश -	४२
	viii)	हरिहर का समय -	४५
	ix)	हरिहर का सम्प्रदाय -	४८
	x)	हरिहर का चरित्र एवं स्वभाव -	४९
	xi)	हरिहर का पाण्डित्य -	४९
	xii)	हरिहर का निवासस्थान -	५१
	xiii)	हरिहर की रचनाएँ -	५२
	xiv)	हरिहर का काव्यसौष्ठव और शैली -	५६
	xv)	हरिहर पर प्राचीन कवियों का प्रभाव -	५९
	xvi)	भर्तृहरिनिर्वेद के व्याख्याकार -	६१
	xvii)	राजा भर्तृहरि और उनकी नाटकेतर वैराग्य कथा -	६५
	xviii)	भर्तृहरिनिर्वेदकी कथावस्तु -	७१
	xix)	चरित्रचित्रण -	७७-८६
३.	i)	प्रथम अंक -	१
	ii)	द्वितीय अंक -	२४
	iii)	तृतीय अंक -	५०
	iv)	चतुर्थ अंक -	८२
	v)	पंचम अंक -	११४
४.	उपसंहार -		१६१
५.	श्लोक सूची -		१९३-१९४

INTERNATIONAL ASSOCIATION OF SANSKRIT STUDIES

Prof. Ram Karan Sharma
President

63, Vigyan Vihar, Delhi - 110092 (India)
In India : (0) 11-22150045
In U.S. (00) 1-415-401-0290

नैवेद्यम्

महामहोपाध्याय हरिहरोपाध्याय विरचित 'भर्तृहरिनिर्वेदम्' भाषा, शैली, कथोपकथन आदि की दृष्टिसे अपने आप में सर्वाङ्गपरिपूर्ण अत्यन्त उत्कृष्ट 'दृश्यकाव्य' है, जिसकी लोकप्रियता और प्रचार विश्वविश्रुत है। इस ग्रन्थरत्न की सम्प्रेषणीयता की श्रीवृद्धि करती है विद्यावाचस्पति डॉ. श्री उदयनाथ झा 'अशोक' जैसे साहित्यमर्मज्ञ विद्वान् की 'जयन्ती' व्याख्या। झाजी की पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत भूमिका तथा हिन्दी अनुवाद भी इस श्रीवृद्धि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

मुझे तो इस पुस्तक में एक साथ कई व्याख्याओं को देखकर बहुत ही आनन्द हुआ और मैं प्रिय डॉ. उदयनाथ बाबू को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि उन्होने मेरा इतना सम्मान किया कि इसमें एक नैवेद्य देने का शुभ अवसर प्रदान किया तथा नाटककार के सम्पूर्ण परिचय से परिचित करवाया, जिससे मैं अभी तक दूर - दूर ही था।

विद्वान् सम्पादक / अनुवादक / व्याख्याकार / भूमिका लेखक डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक' को शतशः बधाई, तथा मेरी यह आशा और अभिलाषा है कि इन्हें प्रतिष्ठा और सुयश मिले।

(प्रो. डॉ. रामकरण शर्म्मा)

SHRI JAGANNATH SANSKRIT VISHVAVIDYALAYA

Professor H. K. Satapathy
M.A.LL.M. Ph.D Sahitya-Puran-Acharya
Professor & Head, Sahitya & Principal Investigatior,
Major Research Project (Spons. by UGC)
Shri Jagannath Sanskrit Vishvavidyalaya
Srivihar, Puri - 752003 (Orissa)

: 251790 (O), 251344 (R)
9861071618 (Mobile)
Fax : (06752) 251073
E-mail : harekrishna@yahoo.com

Date : ....
Ref. No. : ....

संस्कृतवाङ्मये रसस्य चर्चा बहुसुप्राचीनकालादेव प्रचलिताऽस्ति। 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति...' इत्यादि वेदवाक्यतः ज्ञायते यत् रसः भवति सच्चिदानन्दमयः। अतः एवं भूतः आत्मस्वरूपः भवति रसः। एतदर्थं मनुष्यजन्मनः वा चराचरसृष्टेः उषः कालादेव रसस्य चर्चा परिदृश्यते। किन्तु परवर्त्तिनिकाले अयमेव सच्चिदानन्दमयः रसः साहित्यिकानां मूर्द्धन्यभूततत्त्वरूपेण विवेचितः सन् विभावानुभावव्यभिचारिभावसम्बलित काव्यिकरसरूपेण परिचितः अभवत्। बहूनामालंकारिकाणां मतानुसारेण अयं रसः काव्यस्यात्मा संजातः। काव्यरसयोर्मध्ये अविनाभावसम्पर्कोऽपि तैः आकलितः।

रसः बहुधा। कदाचिन्नवरसानां परिकल्पना कदाचित्ततोऽधिकानामपि रसानां साहित्यशास्त्रे गणना कृता। एतेषु सर्वेषु रसेषु कस्य रसस्य कीदृशं प्राधान्यम् इति विषये आलंकारिकाणां मध्ये महान् मतभेदः। केचित् शृङ्गारमेव मूलरसत्वेन आमनन्ति। अतः भोजराजेनोक्तं - 'शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनन्ति' इति। पुनश्चोक्तं- 'शृङ्गारी चेत् रसः काव्यं सर्वं रसमयं भवेत्' इति। केषांचिदालंकारिकाणां मतानुसारं वीररसः एव मूलभूतः रसः। अतः काव्यस्य मुख्यरसत्वेन शृङ्गारः वीर एव वा परिगण्यते। अन्येषां मतानुसारं करुण एव मौलिकः रसः। तदुक्तं भवभूतिना -

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्-
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥'

करुणरसं मुख्यरसत्वेन अङ्गीकृत्य बहूनि काव्यानि रचितानि येषु बाल्मीकेः रामायणं सुप्रसिद्धम्। अन्ये च शान्तरसः मौलिकः यथा अभिनवगुप्तेनोक्तम् -

'स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥' इति

सम्प्रति प्रश्नः शान्तरसः नाट्ये सम्भवति किम् ? न भवति इति मनसि निधाय मम्मटेन नाट्यशास्त्रादुद्धृतं यत् -

'शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुत चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'॥ इति

किन्तुनाट्यशास्त्रस्येदं पद्यं बहुषु संस्करणेषु अन्यथा दृश्यते। यथा -

'शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः'॥

वस्तुतः अयमेकः विवदमानविषयः। तथापि नाट्ये शान्तरसः सम्भवतीति प्रमाणयितुं विशिष्टनाट्यकारेण हरिहरेण प्रस्तुतं भर्त्तृहरिनिर्वेदनाटकं विरचितम्। एतदर्थं तेन नाटकस्य प्रथमाङ्के उक्तं -

'शृङ्गारादिरनेकजन्म-मरण-श्रेणी समासादितै-
रेणीदृक्प्रमुखैः स्वदीपकसखैरालम्बनैरर्जितः।
अस्त्येव क्षणिको रसः प्रतिपलं पर्यन्तवैरस्यभू -
र्ब्रह्माद्वैतसुखात्मकः परमविश्रान्तो हि शान्तो रसः'॥

महामहोपाध्याय - सर्वतन्त्र स्वतन्त्र-हरिहरोपाध्यायविरचितं 'भर्त्तृहरिनिर्वेदनाटकम्' संस्कृतवाङ्मयस्य एकम् अमूल्यरत्नस्वरूपम्। अस्य नाटकस्य साङ्गोपाङ्गाध्ययनपूर्वकं पाण्डित्यपूर्णञ्चापेक्षणीयं सम्पादनं विशिष्टसाहित्यविदुषा डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक' महोदयेन कृतम्। अतः ते प्रशंसार्हाः। विशिष्टसाहित्यिकरूपेण तथा चिन्ताशीलगवेषकभावेन डॉ. झा महोदयस्य ख्यातिः सर्वविदिता। निश्चप्रचमिदं यत् डॉ. झामहोदयैः सम्पादितमिदं नाटकं संस्कृतवाङ्मयं समृद्धं करिष्यति। डॉ. झामहोदयस्य पीयूषवर्षिणी लेखनी गतिशीला भवतु तथा भगवतः जगन्नाथस्य असीमया कृपया तस्य सारस्वतं जीवनं सन्ततं मधुमयमस्तु इति मे कामना।

हरेकृष्ण शतपथी

(प्रो. डॉ. हरेकृष्णशतपथी)

प्राक्कथन

कवि के मस्तिष्क में अभिव्यक्त चमत्कारपूर्ण भाव ही 'काव्य' कहलाता है। इस भावके गद्य - पद्यात्मक होने से काव्य के भी दो भेद कहे गये हैं। यदि देखा जाए, तो इन दोनों काव्यों का संयुक्त प्रतिनिधित्व 'रूपक' ही करता है, 'चम्पू' नहीं। चम्पू में न तो गद्य का स्वातन्त्र्य होता है और न पद्य का। क्यों कि दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं। जब कि रूपक में ये दोनों अपने अस्तित्व को बनाये रखते हैं। इतना ही नहीं, श्रव्य-दृश्यात्मक भेद करने से रूपक दृश्यकाव्य में जाता है, परन्तु पात्रों के परस्पर संवादके श्रवण किये जाने के कारण एक प्रकार से इसे श्रव्यकाव्य भी कहा जा सकता है। चतुर्विध अभिनय के द्वारा चरित्र प्रदर्शन किये जाने के कारण यह विधा श्रव्यकी तुलना मे बहुत ही अधिक प्रभाव डालता है, अतः संस्कृत साहित्य में नाटक का अत्युच्च स्थान है। कहा भी गया है कि काव्यों में नाटक ही एकमात्र रम्य है और कवित्व का पर्यवसान भी नाटक में ही होता है - 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' तथा 'नाटकान्तं कवित्वम्'। यही कारण है कि आचार्य भरत को भी कहना पड़ा - 'नाटकं पञ्चमो वेदः'। क्यों न हो -

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाटके यन्न विद्यते ॥'

वस्तुतः आज यदि यह विधा न होती, तो निश्चय ही हमारे सामने कालिदास-भास-भवभूति - श्रीहर्ष-जयदेव-शेक्सपीयर - जान गाल्सवर्दी-इब्सन-वर्नार्डशॉ आदि कोई भी न होते।

'णट् नृत्तौ' धातुसे 'नटन्तीति नाटकाः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'ण्वुल्तृचौ' सूत्रसे ण्वुल् प्रत्यय करने पर नट वाचक 'नाटक' की सिद्धि होती है। और ये नाटक (अभिनेता) जिस काव्य में होता है, उसे ही 'नाटक' कहते हैं - 'नाटका अभिनेतारः सन्ति यस्मिंस्तत् नाटकम्' - ऐसी व्युत्पत्ति करने पर

'नाटक' पदसे 'अर्श आदिभ्योऽच्' से अच् करके 'नाटक' पद निष्पन्न होता है। प्रायः इसी कारण आपामरजन रूपकोपरूपकमात्र को 'नाटक' कहते हैं। एक दृष्टि से यह सही भी है, क्यों कि अभिनेय साहित्य का प्रधान अंग 'नाटक' ही तो है।

संस्कृत नाटकों की संख्या बहुत अधिक नहीं है, परन्तु उसे बहुत कम भी नहीं कहा जा सकता। शताधिक नाटककार तो गिनाये ही जा सकते हैं। संस्कृत में नाटकों का प्रणयन प्राचीन परम्परानुसार दो ही रसों को अंगी बनाकर किया जाता रहा है - शृंगार और वीर। परन्तु अन्य रस (करुणादि) भी सर्वथा उपेक्षित नहीं रहे, हाँ शान्त की उपेक्षा अथवा उसका विरोध अवश्य होता रहा। क्यों कि शान्त को लेकर रसशास्त्र में विभिन्न प्रकार के मत देखे जाते हैं। जैसे -

१) यह कोई रस नहीं है।

२) यह रस तो है, पर इसका नाटक में कोई स्थान नहीं है, मात्र श्रव्यकाव्य में ही है।

३) शान्त का काव्य में भी कोई स्थान नहीं है। क्यों कि भूमानन्द प्राप्तिरूप काव्य के प्रयोजन की सिद्धि इससे नहीं होती। सुख, आनन्द, प्रतिक्रिया आदि के अभाव के कारण शान्तका समावेश काव्यमें भी सम्भव नहीं है; जब कि काव्यके लिए इन सबका होना नितरां आवश्यक है।

४) शान्तरसका स्थायीभाव भी विवादास्पद है; क्यों कि निर्वेद, शम और उत्साह तीनों को अलग-अलग विद्वानों ने इसका स्थायी कहते रहे हैं।

ऐसी स्थिति में 'भर्तृहरिनिर्वेद' का लिखा जाना निश्चय ही एक क्रान्तिकारी कदम है। क्यों न हो, विद्वानों ने जब यह देखा कि श्रृंगार या वीर रस प्रधान नाटकों में कोई नयी बात नहीं आ रही है और परीश्रमसाध्य दुर्बोध्य शास्त्रीय तत्त्व सरलतया जन-जनके अन्तर्घट तक इसी नाटक के माध्यम से

पहुँच सकता है, तब उनलोगोंने एक नये प्रकार के नाटकों का लिखना प्रारम्भ किया, जिसे शास्त्रीय नाटक या प्रतीक नाटक कह सकते हैं। इसकी शुरुआत हुई श्रीकृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' से, जिसे म.म. गोकुलनाथ उपाध्याय ने 'अमृतोदयम्' के माध्यम से आगे बढ़ाया। स्वाभाविक है, कवियों को तो उस विन्दुको भी छूना है, जिसे किसी ने छूआ तक नहीं है, 'जहाँ न जाए रवि, वहाँ जाए कवि'। कवि स्वतंत्र होता है, 'निरंकुशाः कवयः', उन्हें इस काव्यसंसार का ब्रह्मा माना गया है- 'अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः'। फिर वे नये प्रायोग न करें तो भला कवि कैसा, प्रजापति किसका ? वह कोई 'जिरॉक्सकॉपी' थोड़े है, वह तो निर्माता है, कर्त्ता है।

श्रीकृष्ण मिश्र से ही प्रेरणा लेकर हमारे आचार्य हरिहरने उपेक्षित पड़े शान्त को मुख्य रस बनाकर इस नाटक का प्रणयन किया और कहा -

'श्रृंगारादिरनेक जन्ममरणश्रेणी समासादितै-
रेणीदृक्प्रमुखैः स्वदीपकसखैरालम्बनैरर्जितः।
अस्त्येव क्षणिको रसः प्रतिपलं पर्यन्त वैरस्यभू-
र्ब्रह्माद्वैत सुखात्मकः परमविश्रान्तो हि शान्तो रसः॥'

वस्तुतः यदि देखा जाए तो नाटक के क्षेत्र में ये दोनों क्रान्तिकारी कार्य, नवीन शुरुआत मिथिला ने ही प्रारम्भ की। जैसे आधुनिक समय में भीं गान्धी का आन्दोलन हो या फिर जे.पी.का, क्रान्तिकारी शुरुआत बिहार से ही हुई थी। हमारे मत में श्रृंगार रस में जो स्थान महाकवि कालिदास का है, करुण में जो स्थान महाकवि भवभूति का है, शान्तरस में भी वही स्थान महाकवि हरिहर को जाता है।

यह 'भर्तृहरिनिर्वेद' नाटक नाटकीय सभी लक्षणों से युक्त है, इस में शुरु से अन्त तक नाटकीयता का निर्वहण भली भाँति हुआ है, कवि की कल्पनाशक्ति भी खूब निखर आयी है। अनेक शास्त्र और विधाके पारङ्गत विद्वान् हरिहर, लगता है अपने पूर्वज (प्रपितामह) मणिक उपाध्याय के

भैरवानन्द नाटक से भी प्रेरणा ग्रहण किये थे। माणिक ने जहाँ अपने से शताब्दियों पूर्व (ईशा पूर्व) हुए महातांत्रिक और अघोरी 'भैरवानन्द' को आधार बनाकर नाटक रचे थे; वहीं हरिहरने भी सैकड़ों वर्ष पूर्व हुए गुरु गोरखनाथ को लेकर इस नाटक की रचना की। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि उत्तर से दक्षिण तक तो इसकी व्याख्या या अनुवाद किये ही गये; वल्कि देश से बाहर भी, सुदूर अमेरिका तक में इस पर काम किये गये। इतना ही नहीं, लगभग इनसे सौ वर्ष बाद भी इनके भ्रातुष्प्रपौत्र म.म. भवानीदत्त ने इसी नाम (भर्तृहरिनिर्वेद) से एक दूसरे नाटक की रचना की, जिस पर विलासपुर (छत्तीसगढ़) के डॉ. एन्.पी. शुक्ल ने काम किया है।

रंगमंच की दृष्टि से भी यह नाटक बहुत लोकप्रिय रहा है। न केवल मिथिला में, अपि तु समग्र भारतवर्ष में इसका मंचन किया जाता रहा है। इनमें कुछ उपलब्ध साक्ष्य और सूचना के आधार पर सबसे पहले इसका मंचन १९०९ में पं. वचनेश मिश्र के निर्देशन में प्रतापगढ़ के कालाकांकर राज्य में किसी विशेष उत्सव पर हुआ था; जिसकी सूचना हमें पं.वचनेश मिश्र स्मारक ग्रन्थ पृ. सं. ३१८ से मिलती है। दूसरा मंचन प्रायः १९११ - १२ में पं. वचनेश मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद का हुआ था जिसकी सूचना हमें इसी अनुवाद की भूमिका से मिलती है। यह मंचन कालाकांकर की ही 'जॉर्ज थ्रियट्रिकल कम्पनी' के द्वारा किया गया था। तीसरा मंचन १९४८ में डॉ. अरुणोदय नटवर जानी के निर्देशन में बडोदरा में हुआ था। इसमें हरिभाई पटेल, कु. अमृता देशवानी, (कोई अज्ञात नाम) मुलगाँकर आदि ने हिस्सा लिया था। एक बार इसका और कही किं तु बिहार में मंचन हुआ, जिसमें डॉ. जयमन्त मिश्र (वर्त्तमान में संस्कृत के अ. भा. मूर्द्धन्य विद्वान्) ने भी भाग लिया था। इसका प्रमाण 'सारस्वत कुसुमांजलि' (डॉ. जयमन्त मिश्र अभिनन्दन ग्रन्थ) का १०९ वाँ पृष्ठ ही है।

मेरे पिताजी डॉ. गंगानाथ झा 'बुझनुक' के निर्देशन में भी १९७८ में यह नाटक इसहपुर संस्कृत कालेज (का.द.सं. विश्ववि.) परिसर में उसी महाविद्यालय के सहायतार्थ खेला गया था। मुझे पूरा पूरा स्मरण है कि उस नाटक में डॉ. सतीरमण झा, डॉ. गोपालजी झा, पं. हरिनारायण झा, श्री दुर्गानाथ झा एवं प्रो. इन्द्रनाथ ठाकुर क्रमशः भर्तृहरि, भानुमती, गोरखनाथ, देवतिलक और दुराख्यायी की भूमिका में आये थे। १९९४ में जब दिल्ली के राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान का वार्षिकोत्सव मनाया जा रहा था, तो उसमें भारत वर्ष के सभी संस्कृत शिक्षण संस्थाओं को नाट्य प्रतियोगिता में सम्मिलित होने का अनुरोध पत्र गया था। तीन दिनों तक मावलंकर हॉल में चली इस प्रतियोगिता में शृंगेरी (कर्णाटक) से मेरे ही निर्देशन में राजीवगान्धी केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के छात्र-छात्राओं ने भाग लिया था। उसमें नाटक तो यही मंचन हुआ था, परन्तु आवण्टित समय के अनुरोध वश नाटक को अति संक्षेप कर दिया गया था। कथावस्तु मूल नाटक की थी, गद्यांश को जहाँ सरल और सहज बोधगम्य बनाया गया था; पद्यांश को वहीं बहुत ही, वल्कि सर्वथा ही कम कर दिया गया था। प्रतियोगिता में यह नाटक प्रथम आया था, न केवल नाटक में प्रथम हुआ था, बल्कि सात सदस्यीय निर्णायक मण्डल की अनुशंसा पर सम्पूर्ण प्रतियोगिता में सर्वोत्तम पुरुष कलाकार, सर्वोत्तम नारी कलाकार, सर्वोत्तम निर्देशक का भी पुरष्कार इसी 'भर्तृहरिनिर्वेद' को मिला था। पुरष्कार एवं प्रमाणपत्र देने वाले थे तत्कालीन मानव संसाधन विकास मन्त्री श्री अर्जुन सिंह। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस नाटक में राजा, रानी, योगी, मन्त्री, सूत्रधार, दुराख्यायी, नटी और रानी की सखियों का अभिनय किये थे क्रमशः -श्री सूर्यनारायण भट्ट, भवानी टी. गाँवकर, बालकृष्ण एच्. एस्, सन्तोष कुमार सी. के., नागेन्द्र एस्. गुम्मानी, रमाकान्त भट्ट, श्रीवृन्दा, त्रिवेणी एच्. एस्. और पूर्णावती ए.।

अस्तु ; प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या 'जयन्ती' (जिसे मैं ने अपने गुरु और पितामह भ्राता स्व. प. चन्द्रमाधव झा की अर्द्धांगिनी और अपनी इष्टमंत्र देने वाली गुरुआनी के नाम पर रक्खा है) में कहीं - २ वाक्यों व अर्थों की पुनरावृत्ति को हमने अर्थबोध कराने का एक माध्यम मात्र बनाया है, विद्वज्जन उसे पुनरुक्ति दोष मानने या बनने से मुझे बचायेंगे। कहीं -२ शब्दानुवाद करना तो कहीं -२ भावानुवाद करना हमारी इसी सोच की विवशता थी कि अल्पज्ञों को भी हम किस रूप में अर्थज्ञान करा सकें। अतः इसे पाठकगण 'स्वजनेषु पक्षपातः' के नयानुसार किसी अन्यथा भाव से ग्रहण न करेंगे, ऐसी आशा और विश्वास है।

यहाँ मैं उन विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनकी पुस्तकों, लेखों व विचारों का मैंने अनुवादक्रम में अध्ययन किया है, उनसे सहायता ली है अथवा उनका अनुसरण किया है। भूमिका भाग में हमने जिन विद्वानों की मान्यताओं - सिद्धान्तों का अनुगमन किया है, उनके प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हुए उन विद्वानों व मित्रों से क्षमा चाहता हूँ, जिनके सुझाबों का इसमें अक्षरशः अनुपालन किसी न किसी कारणवश नहीं हो सका है। वस्तुतः स्थानाभाव और समयाभावके कारण प्रस्तुत पुस्तक में उन सभी बातों को भी स्थान नहीं दिया जा सका है, जिनको मनोनीत कर इसे प्रकाशित करने की कभी योजना बनी थी अथवा मन में विचार स्फुटित हुआ था।

अन्ताराष्ट्रिय ख्याति के महाविभूति गुरुकल्प आचार्य डॉ. रामकरण शर्मा जी, जिनके कुलपतित्व काल में अध्ययन करने का सुअवसर मिला और जो हमारे परिवार के सदैव हित चिन्तक रहे हैं - का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने अपना नैवेद्य देकर मुझे पावन किया है तथा आत्मीयबन्धु प्रो. डॉ. हरेकृष्ण शतपथी जी का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपनीं 'शुभाशंसा' देकर मुझे चिरऋणी बना लिया है।

यहाँ मैं अपने सहकर्मी विद्वान् मित्र श्रद्धेय डॉ.श्रीनिवास आचार्य जी के सहयोग को कतई नहीं भुला सकता और न हीं अपने अनुजकल्प प्रिय शिष्य ठाढ़ी (अन्धरा - ठाढ़ी, मधुबनी) ग्राम निवासी श्री रवीन्द्रनाथ झा (साहित्याचार्य, शिक्षाशास्त्री) के द्वारा हस्तलेख कॉर्बन कॉफी करके श्रीवचनेश मिश्र के अनुवाद को उपलब्ध कराने के उपकार को ही भूल सकता हूँ। अतः जहाँ मैं श्री आचार्यजीके प्रति कृतज्ञ हूँ, वहीं आयुष्मान् चि. रवीन्द्रजीको अशेष आशीष और स्नेह देता हूँ। इसी प्रकार म.म.मुकुन्द झा वख्शी की टीका और उस संस्करण की छाया प्रति भेजनेवाले सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयके अध्यापक प्रिय मित्र डॉ. हेतराम कछवाहजीका भी आभारी हूँ, जिनके सहयोग के बिना यह कार्य पूरा ही न हो पाता। इसी क्रममें यदि मैं अपने परिवार के सदस्यों का स्मरण न करुँ तो सब 'गुड़ गोबरनाथ' हो जाएगा, क्यों कि पत्नी सहित तीनों लड़के, लेखन के क्रम में मुझे पारिवारिक दायित्व से दूर रक्खे और किसी प्रकार की बाधा न हो इस ओर पूरा का पूरा तत्पर रहे।

अन्त में निष्पक्ष सुधीजनों से विनम्र निवेदन है कि इस पुस्तकगत त्रुटियों को मेरी अज्ञता समझकर दूर करेंगे। आलोचक बन्धुओं व दोषज्ञों से भी यही प्रार्थना है कि -

'तद्विद्वांसोऽनुग्रहणन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः।
सन्तः प्रणयवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः ॥
न चात्रातीव कर्त्तव्यं दोषदृष्टि परं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥'

विशेष बातें भूमिका में वर्णित ही हैं, अतः पिष्टपेषण के भय से यहीं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ।

वसंतपञ्चमी
१४१२ साल

विद्वज्जनानुचर,
उदय नाथ झा 'अशोक'

भूमिका

शान्तरस : एक समीक्षा

यद्यपि काव्यशास्त्रियों के मत मे आठ ही रस मुख्य माने गये हैं - शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत[1]। परन्तु कुछ अन्य आचार्यों ने और भी अतिरिक्त रसों की कल्पना की है। इनमें शान्त, वात्सल्य, प्रेयान्, उर्जस्वि, माया आदि मुख्य हैं। फिर भी उन आठ रसों के अतिरिक्त शान्त को छोड़ प्राय: किसी भी रस में नाटक की रचना नहीं हुई है। इसीलिए प्राय: रत्नकोशकारने नाटक में भी शान्तरस की सत्ता मानी है - 'करुणाद्भुतशान्ताश्च नवनाट्ये रसा स्मृता:'। इतना ही नहीं यही बात इनसे पहले आचार्य भरत ने भी कहा था - ऐसा कुछ संस्करणों का मत है।

धनिक, धनंजय आदि आचार्यों ने बहुत सूक्ष्म विचार कर यह प्रतिपादित किया है कि रसानुभूति के समय चित्त की चार अवस्थाएँ होती हैं - विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप - 'विकास-विस्तरक्षोभ- विक्षेपै: स चतुर्विध:'। ये चारों अवस्थाएँ क्रमश: शृंगार, वीर, वीभत्स और रौद्र रस में होती हैं - 'श्रृंगारवीरवीभत्सरौद्रेषु मनस: क्रमात्', अतएव मौलिक चार ही रस मान्य हैं। शेष हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण रस में भी चित्त की ये ही अवस्थाएँ होती हैं। जैसा कि कहा है - 'हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि'। भरत के मत में भी शृंगार से हास्य रस की उत्पत्ति होती है, रौद्र से करुण रस की, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक की। जैसे -

---

१. शृंगार-हास्यकरुणरौद्रवीरभयानका:।
वीभत्साद्भुत-संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता: ॥ नाट्यशास्त्र ६/१६, का.प्र. ४/२९

'श्रृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणे रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः ॥'

अभिप्राय यह है कि भरत प्रतिपादित आठ रसों में मुख्य रस चार ही हैं और शेष चार रस तो क्रमशः एक - एक रस से निकला हुआ है । वस्तुतः यह कल्पना मनोवैज्ञानिक आधार पर ही की गयी है ।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि प्रथमतः चार रस हुए, फिर आठ और उसके बाद परवर्त्ती आचार्यों की कल्पना से इसकी संख्या बढ़ती गई । शान्त, वात्सल्य, लौल्य, स्नेह, प्रेयान्, ऊर्जस्वि, भक्ति, मधुर, माया, आदि विभिन्न रस जुटते गये । परन्तु इनमें भी कई आचार्यों ने प्राधान्याप्राधान्य की दृष्टि से अलग-अलग मूलरसों की कल्पना की है । अर्थात् अलग-अलग आचार्यों ने अपनी अपनी दृष्टि से किसी एक विशेष रस को भूल रस मान लिए । जैसे महाकवि भवभूति ने करुणरस को तो भोजराज ने शृंगार को मुख्य रस बताया[२] । विश्वनाथ के पूर्वज नारायणपण्डित के मत में अद्भुतरस ही सर्वोच्च रस है । जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है - 'तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्' । जब कि आ. अभिनवगुप्त शान्तरस को ही एकमात्र मूलरस स्वीकार करते हैं -

'स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्त्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥'

न केवल अभिनवगुप्त ही, अपि तु इनका गुरु भट्टतौत ने भी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यकौतुक' में मोक्षप्रद होने के कारण शान्तरस को ही सभी रसों में सर्वश्रेष्ठ कहा है । जैसा कि लोचनकार लिखते हैं- 'मोक्षफलत्वेन चार्य शान्तो रसः परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वेभ्यः रसेभ्यः प्रधानतमः । स चायमस्मद् उपाध्याय भट्टतौतेन काव्यकौतुके अस्माभिश्च

२.क) 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' - उ.रा.च.
ख) 'शृंगारमेव रसनाद् रसमामनामः' - शृंगारप्रकाश

तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयः पूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना'[3]। इन रसों की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से होती है, जैसा कि आचार्य भरत का सूत्र है -'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। आचार्य मम्मट भी कहते हैं -

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥'
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः[4]॥'

अर्थात् लोक का कारण, कार्य और सहकारी ही काव्य या नाटक में प्रयुक्त होने से विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव कहलाते हैं तथा उन आलम्वनोद्दीपनादि विभावरूप कारण, कार्य एवं सहकारियों के योग से व्यक्त रत्यादिरूप स्थायीभाव 'रस' कहलाता है। अभिप्राय यह है कि रति आदि की उत्पत्ति के जो कारण हैं वे 'विभाव' शब्द से, कार्य 'अनुभाव' शब्द से और सहकारी 'व्यभिचारिभाव' शब्द से कहे जाते हैं। रति आदि के जो कारण होते हैं, उसके दो भेद हैं - आलम्बनरूप एवं उद्दीपनरूप। उदाहरणार्थ शकुन्तला और दुष्यन्त एक दूसरे की प्रीति के आलम्बन रूप कारण होते हैं, क्यों कि दोनों को देखकर एक दूसरे के मन में प्रेम या रति की उत्पत्ति होती है। इस प्रीति या रति को उद्बुद्ध करने वाली चान्दनी, उद्यान, नदीतट आदि सामग्री को ही आचार्य उद्दीपनविभाव मानते हैं। कारण ये पूर्वोत्पन्न रति को उद्दीप्त करने वाले होते हैं। इस प्रकार ये दोनों विभाव मिलकर स्थायीभाव को व्यक्त करते हैं। रस की प्रक्रिया में तो ये दोनों विभाव मात्र रस के बाह्य कारण माने गये हैं; रसानुभूति का आन्तरिक और मुख्य कारण तो स्थायिभाव ही है। सामान्यतः यह स्थायिभाव मनके भीतर स्थिर रूप से संसुप्त किंवा प्रसुप्त रहता है, जो अवसर प्राप्त होने से अनुकूल

---

३. लोचन ३/२६ पृ. २२१ ४. का. प्र. ४/२७-२८

आलम्बन उद्दीपन विभाव को किंवा उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर न केवल अभिव्यक्त होता है, वल्कि हृदय के अन्दर एक अपूर्व आनन्द का संचार भी कर देता है। यही 'संचार' किंवा 'अभिव्यक्ति' रस्यमान होने से 'रस' रूपता को प्राप्त हो जाती है। इन स्थायीभावों की संख्या आठ रस होने के कारण आठ ही मानी गई है। यथा -

'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।-
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः[५]।।

अर्थात् व्यवहारदशा में मनुष्य को जिस-जिस प्रकार की अनुभूति होती है, उसी को ध्यान में रखकर इन स्थायिभावों की परिकल्पना की गयी। परन्तु 'शान्त' को रस मानने वाले कहते हैं कि आत्मदीनता रूप 'दैन्य' भी व्यक्ति के मन में सदा स्थिर रहनेवाला संस्कार है; फिर इसे क्यों न स्थायिभाव की कोटि में रक्खा जाय। क्यों कि मनोवैज्ञानिक जिसे मूल प्रवृत्तियों से सम्बद्ध 'मनः संवेग' कहता है, उसीको साहित्यशास्त्रियों ने 'स्थायिभाव' का नाम दिया है। अतः इन दोनों तत्त्वों में कोई भेद नहीं है। उदाहरणार्थ 'काम' नामक मनः संवेग की ही मूलप्रवृत्ति 'कामप्रवृत्ति' होती है और यही 'काम' नामान्तर से 'रति' स्थायिभाव बनकर 'शृंगार' रस प्रस्तुत करता है। वस्तुतः काम, नारी और रति में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। क्यों कि गीता (१६/२१) में जिसे काम कहा है, उसी को शंकराचार्य नारी का नाम दिया है - 'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी'। इसी प्रकार 'दैन्य' नामक 'मनःसंवेग' की मूल प्रवृत्ति 'आत्मदीनता' है और यही 'दैन्य' 'निर्वेद' नामान्तर से स्थायिभाव होकर 'शान्त' रस को उत्पन्न करता है। जैसा कि मम्मट लिखते हैं -

'निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः[६]'।

---

५. का.प्र. ४/३०
६. का.प्र. ४, सूत्र - ४७/३५

यह निर्वेद न केवल स्थायिभाव है, वल्कि तैंतिस परिगणित व्यभिचारी भावों में भी एक है।

'निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथासूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः[७]॥'

उद्‌बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि तथा उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं, उनको ही व्यभिचारीभाव कहते हैं। अर्थात् जो रसों में नाना रूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं, वही व्यभिचारिभाव होते हैं।

आचार्य भरत ने स्थायीभाव निरूपण के बाद 'निर्वेद' आदि तैंतिस व्यभिचारी भावों का निरूपण किया है। परन्तु इन तैंतिसों में निर्वेद ही प्रथम माना गया है; जब कि निर्वेद अमंगल रूप है। कहते हैं अपने आप को तुच्छ मानना अथवा विषयों से वैराग्य भाव का होना ही निर्वेद है। अर्थात् तत्त्वज्ञान या ईर्ष्या आदि से अपने सम्बन्ध में तुच्छता का भाव। इसी कारण यह निर्वेद सांसारिक जीवों के लिए अमंगल रूप है। मम्मट ने भी कहा है - 'निर्वेदस्यामंगलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थम्[८]' अर्थात् स्वावमाननारूप किं वा विषयवैराग्यरूप होने के कारण निर्वेद प्रायः अमंगलरूप है, अतएव उसका प्रारम्भ में ग्रहण करना उचित नहीं, फिर भी व्यभिचारीभाव और स्थायीभाव दोनों में, उसकी गणना होने के कारण उभयरूपत्वात् उसका प्रथम ग्रहण किया गया हैं। यहाँ पर 'प्रायः' शब्द के प्रयोग से यही लगता है कि ईर्ष्या आदि से उत्पन्न निर्वेद को अमंगल नहीं माना जाय। अस्तु।

निर्वेद के लक्षण में आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि के कारण अपने आपको धिक्कारना ही निर्वेद है -

---

७. ना.शा. ६/१८-२१

८. का.प्र. ४, सूत्र - ४७ से पहले

'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्'[९] । इसके होने से दीनता, चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, विवर्णता और उच्छ्वास आदि उत्पन्न होते हैं । जैसा कि कहा है - 'दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत्'[१०] । विश्वनाथ का यह निर्वेद लक्षण नाट्याचार्य भरतमुनि के निर्वेदलक्षण का सारांश मात्र लगता है -

'इष्टजनविप्रयोगाद् दारिद्रयाद्व्याधितस्तथा दुःखात् ।
परवृद्धिं वा दृष्ट्वा निर्वेदो नाम सम्भवति ॥'
वाप्पपरिप्लुतनयनः पुनश्च निःश्वासदीर्घमुखनेत्रः ।
योगीव ध्यानपरो भवति हि निर्वेदवान् पुरुषः[११] ॥'

एक ओर जहाँ स्वावमानन अथवा आत्माधिक्षेप का ही दूसरा नाम 'निर्वेद' माना गया है, वहीं शारदातनय के मत में तत्तत् कारणों से चित्त की शून्यता ही निर्वेद है -

'निर्वेदः शून्यचित्तत्त्वं वेदोवित्तविनिर्गमात्'[१२] ।

पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं कि वेदान्त आदि के द्वारा ब्रहमरूप नित्य और संसाररूप अनित्य वस्तुओं के विचार करने से जिस विषय विरक्ति की उत्पत्ति होती है, वही अनित्यवस्तुओं से प्राप्त वितृष्णा - वैमुख्य नामक चित्तवृत्ति 'निर्वेद' कहलाता है - 'नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः' । इनके मत में स्थायी वैराग्य ही निर्वेद होता है, न कि प्रसूति वैराग्य, गृहकलहरूप वैराग्य, श्मशानवैराग्य आदि । ये अस्थायी वैराग्य शान्तरस के व्यभिचारी भाव तो हो सकते हैं, पर स्थायीभाव नहीं ।

यही 'निर्वेद' शान्तरस का स्थायीभाव है, जिसे 'शम' भी कहा गया है । विश्वनाथ का यह मानना है कि वैराग्य दशा में आत्मरति से होने वाला आनन्द ही शम है - 'शमो निरीहावस्थायामात्मविश्रामजं सुखम्'[१३] ।

---

९. सा.द. ३/१४२, द.रू. ४/९
१०. सा.द. ३/१४२
११. ना.शा. ७/२९-३०
१२. भावप्रकाशन २/१
१३. सा.द. ३/१८०

यहाँ यह भी नितान्त अवधेय है कि किसी भी वस्तु को रस मानने के लिये तीन वस्तु का होना अत्यन्त आवश्यक है, और वे हैं - विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव। जैसा कि पहले कहा जा चुका है - 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। यहाँ 'शान्त' को रस मानने के पीछे मिथ्यात्व रूप से भाव्यमान जगत् ही उसका आलम्बन विभाव है, जब कि इसके उद्दीपन विभावों में पवित्र आश्रम, तीर्थ, सत्संग आदि को लिये जा सकते हैं। इसी तरह रोमांच आदि इसके अनुभाव और स्मृति, मति, जीवदया आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्ग के साधनभूत प्रवृत्तिधर्मों से विपरीत निवृत्तिधर्मप्रधान और मोक्षफल वाला जो यह 'शान्तरस' है, उसे रसात्मक सत्ता की दृष्टि से आचार्य भरत ने 'क्वचिच्छमः' कहने के बाद भी नाट्यशास्त्र में परिगणित नहीं किया है। और न ही 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' के आधार पर प्राचीन आचार्यों एवं महाकवियों ने शान्तरस का नाटक में प्रतिपादन ही किया है। वल्कि दशरूपककार धनंजय ने तो यहाँ तक कह डाला कि - 'शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाष्ट्येषु नैतस्य'। परन्तु उद्भट ने सर्वप्रथम अपने काव्यालंकारसंग्रह में शान्तरस की स्थापना करके यह बात दिया है कि इस का भी महत्त्व कम नहीं है। आगे चलकर आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने शान्तरस की मान्यता का पुरजोर समर्थन किया। अभिनवगुप्त के मत में मोक्षरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए शान्तरस की स्वीकृति अनिवार्य है। कुछ आचार्यों ने तो उदात्तवृत्तियों के प्रेरक होने के कारण शृंगार, वीर और शान्त-इन तीन रसों को ही प्रधान रस स्वीकार किया है। जबकि आधुनिक विद्वान् श्रीरामास्वामी शास्त्री[१४] के मत में नाट्यशास्त्र के छठ्ठे अध्याय में आया शान्तरस का वर्णन प्रक्षिप्तांश है।

आचार्य जगन्नाथ यह मानकर चलते हैं कि आचार्य भरतमुनि ने - 'वीभत्साद्भुतशान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः' ही कहा होगा, वह प्रक्षिप्तांश

---

१४. वड़ौदा से प्रकाशित नाट्यशास्त्र (द्वि.सं.) की भूमिकामें।

नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, जगन्नाथ ने तो शान्त को तीसरा ही रस स्वीकार किया है। शृंगार-करुण को छोड़ शेष सभी रस बाद में ही आते हैं-

'शृंगारः करुणः शान्तो रौद्रोवीरोऽद्भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चैव वीभत्सश्चैति ते नव॥'

इसी तरह इसके स्थायी में भी वे निर्वेद को तीसरा स्थान देते हैं -

'रतिः शोकश्च निर्वेद क्रोधोत्साहश्च विस्मयः।
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी॥'

शान्तरस के सम्बन्ध में आचार्य भरत से लेकर बादके आचार्यों तक विभिन्न विचार देखे जाते हैं या यों कहें कि आचार्यों में मतैक्य नहीं रहा है, अत्युक्ति नहीं होगी। भरत ने जहाँ इसे एक अतिरिक्त रस माना है, वहीं कई विद्वान् रसों की संख्या आठ के बदले नव मानते हैं। और 'शान्त' को भी मुख्य रस की ही कोटि में स्थान देते हैं।

विश्वनाथ, वेणीदत्त आदि विद्वानों व आचार्यों के अनुसार 'शान्त' एक वह रस है, जो कि शमरूप स्थायीभाव का आस्वाद होता है और जिसका आश्रय उत्तम प्रकृति का व्यक्ति होता है। इसका वर्ण कुन्दपुष्प एवं चन्द्रमा आदि के समान सुन्दर श्वेत स्वीकार किया गया है, जब कि इसके देवता भगवान् श्रीनारायण हैं।

कुछ लोग 'शान्त' को रस ही नहीं मानते। ये कहते हैं कि दुःख निर्मुक्त, सुख निर्लिप्त, चिन्ताशून्य, द्वेषरहित, रागवर्जित, समस्त कामनाओं से उत्तीर्ण, समलोष्टाश्मकांचन, एक अनिर्वचनीय स्वरूप ही शान्तरस का स्वरूप है और इसे ही मुनिगण समझाते आ रहे हैं। साथ ही यह जो उसका अनुभव उस मोक्ष अथवा परमात्मस्वरूप प्राप्ति में ही सम्भव है, जिसमें विभाव आदि का विभावन, व्यभिचारीभावों का परिपोषण कदापि सम्भव नहीं है। तब फिर विभावानुभावव्यभिचारिभावों के संयोग से निष्पन्न होने वांला रस इसे कैसे माना जाय।

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु सम प्रधानः ॥

इत्येवं रूपस्य शान्तरसस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तत्र संचार्यादीनामभावात् कथं रसत्वम् ? इसका विश्वनाथ ने भरपूर एवं सप्रमाण खण्डन कर यह दिखला दिया है कि शान्तरस का स्थायीभाव जो 'शम' है, वह कुछ अलग ही 'शम' है और इसमें व्यभिचारी भावों के परिपोष आदि की चर्चा असंगत नहीं, वल्कि सर्वथा संगत ही है। दूसरी ओर जैसे पुरुषार्थचतुष्टय में मोक्ष का पार्यन्तिक महत्त्व सिद्ध है वैसे ही रसों में भी शान्त का पार्यन्तिक आस्वाद भी सिद्ध है ही।

ये लोग 'शान्त' को रस न मानने के पीछे यह तर्क देते हैं कि जहाँ मन की सब प्रकार की वृत्तियाँ और शरीर की चेष्टाएँ निस्पन्द और शान्त हो जाएँ वहाँ रस लेने या फिर आनन्द लेने की बात ही कहाँ उठती। ये कहते हैं क़ि नाटक देखने या काव्य सुनने का अर्थ है मन बहलाना और रस का आनन्द लेता, न कि विरक्त या साधु बनना। जिनके मन में विरक्त बनने की बात रहती है, वे दार्शनिक ग्रन्थ पढ़ते हैं, साधु-सत्संग करते हैं, न कि नाटक देखते या न काव्य पढ़ते।

इतना ही नहीं, इसके स्थायीभाव को लेकर भी आदिकाल से ही मतभेद रहा है। क्यों कि कुछ लोग 'शम' को, तो कुछ लोग 'निर्वेद' को इसका स्थायीभाव मानते रहे हैं। काव्यानुशासन (२/९६) दशरूपक (४/३५), भावप्रकाश (१/२६), अभिवभारती (६/३३५), साहित्यदर्पण (३/२४५) आदि ग्रन्थों में 'शम' को ही शान्त का स्थायीभाव कहा गया है। जब कि मम्मट, भानुदत्त आदि आचार्य 'निर्वेद' का ही नाम लेते[१५] हैं।

---

१५. का.प्र. ४/३५ तथा 'निर्वेदस्थायिभावकः' - र.त. पृ. ११५

अपने 'अभिवभारती' में आचार्य प्रवर अभिनवगुप्त भले ही 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव मानते हों, 'शमशान्तयोः पर्यायत्व तुं हासहास्याभ्यां व्याख्यातम्' लिखे हों, परन्तु फिर भी वे 'निर्वेद' का ही पक्ष लेते हुए दिखाई देते हैं - 'तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी' (पृ. २६९)। अभिनवभारतीकार अपनी कृति में शान्त व निर्वेद पर खूब व्यापक विचार करते हैं। जब कि इन सबसे भिन्न 'ध्वन्यालोक' जैसे कालजयी रचना में आचार्य आनन्दवर्द्धन तृष्णाक्षय सुख आदि को शान्तरस का स्थायीभाव स्वीकार करते हैं (३/९६५)।

आचार्य विश्वनाथ का यह कहना कि 'शान्तः शमस्थायिभावः उत्तमप्रकृतिर्मतः' (३/२४५) लगता है कोई नवीन तथ्य नहीं है, वल्कि प्राचीन मान्यता का ही अनुसरणमात्र है। काव्यानुशासनकार ने भी शम को ही स्थायीभाव माना है, जिसका अभिप्राय तृष्णाक्षय लिया है - '...तृष्णाक्षयरूपः शमः स्थायिभावश्चर्वणां प्राप्तः शान्तो रसः[१६]'। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्रगुणचन्द्र ने भी शम को ही माना है - 'एवमादिभिर्विभावैः काम-क्रोध-लोभ-मान-मायाद्यनुपरक्तपरोन्मुखता-विवर्जिताक्लिष्ट चेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति'[१७]। इन आचार्यों से रसकौस्तुभकार वेणीदत्त बहुत प्रभावित दिख पड़ते हैं, जिन्होंने शम को शान्त का स्थायीभाव मानते हुए कहा है - 'शान्तः शमस्थायिभावः श्वेतः श्रीपतिदैवतः'[१८]।

कुछ लोगों के मत में शान्तरस का स्थायीभाव 'शम' (शान्तितृष्णा का अत्यन्ताभावजन्य सुखविशेष) का नट में होना सम्भव नहीं है, क्यों कि वह तो मात्र अनुकरण करता है। इसीलिए नाटकादि दृश्यकाव्य में आठ ही रस मान्य हैं -

---

१६. काव्यानुशासन २/१७

१७. नाट्यदर्पण, तृतीयविवेक

१८. र.कौ. पृ. १२०

'शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात् ।
अष्टावेव रसानाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥'

परन्तु अन्य भी किसी रस का स्थायीभाव तो नट में रहता नहीं, वह तो अनुकरण के द्वारा उसका प्रदर्शन मात्र करता है। अतः जैसे अन्य रस का नाट्य में सद्भाव माना जाता है, उसी प्रकार शान्त का भी मानना चाहिये -

'अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।
तदचारु यतः कंचिन्न रसं स्वदते नटः ॥'

'निर्वेद' को स्थायीभाव मानने वाले आचार्य मम्मट ने यद्यपि निर्वेद का लक्षण तो नहीं किया है, पर उनका 'निर्वेद' दारिद्र्यादि प्रभव न होकर तत्त्वज्ञानप्रभव 'निर्वेद' ही लगता है। वह स्वावमानन नहीं हो सकता। कारण इसके उदाहरण में इन्होंने जो पद्य दिया है, उसमें तो स्वावमानन का कोई अभिप्राय प्रगट ही नहीं होता। वल्कि वहाँ चित्रित तत्त्वज्ञानी की 'भावना' सर्वत्र शिवाद्वैत का दर्शन कर रही है, जिसे 'समदर्शिता' का प्रतीक कह सकते हैं। अतएव मम्मट का 'निर्वेद' दारिद्र्य, व्याधि, अवमानन, अधिक्षेप, इष्टजनवियोग आदि कारणवशात् उत्पन्न निर्वेद न होकर तत्त्वज्ञानसम्भूत निर्वेद ही है, जो कि स्वावमानरूप नहीं होता। मम्मट का 'निर्वेद' अभावरूप न होकर भावरूप है, क्यों कि समदर्शिता ब्रह्मभाव है और समदर्शी ब्रह्मभूत होते हैं। अतः इनके 'निर्वेद' का नामान्तर 'तृष्णाक्षय सुख' हो सकता है, जो कि आनन्दवर्द्धन की परिकल्पना है - 'शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव'[१९]। मम्मट और आनन्दवर्द्धन के मतों का समीकरण अभिनवगुप्त ने बड़ा ही सुन्दर प्रस्तुत किया है - 'तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदस्तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषः रस्यमानताकृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः'[२०]।

---

१९. ध्वन्या. उद्योत ३ २०. ध्वन्या.लोचन - ३/२६

भानुदत्त के मत में स्थायीभाव और व्यभिचारीभाववाला 'निर्वेद', दोनों भिन्न पदार्थ है। इनके मत में जो 'निर्वेद' व्यभिचारी भाव है, वह है स्वावमानना अथवा संसार में हेयता बुद्धिरूपी निर्वेद - 'स्वावमाननं निर्वेदः संसारे हेयत्वबुद्धिर्वा निर्वेदः'[२१], जब कि काम, क्रोध आदि दोषों का शान्ति-स्वरूप 'निर्वेद' स्थायीभाव है[२२]। यही शान्तिरूप स्थायी शाङ्गर्धर[२३], हेमचन्द्र[२४] आदि के मत में 'शम' है। केवल नामभेद है। क्यों कि शाङ्गर्धर के अनुसार विषयों से विमुखता का नाम ही 'शम' है, जब कि हेमचन्द्र के अनुसार किसी प्रकार की इच्छा का अभाव 'शम' कहलाता है।

काव्यप्रदीपकार म.म.गोविन्दठाकुर का मत है कि आत्मरति से होनेवाला आनन्द 'शम' ही शान्तरस का स्थायीभाव है, न कि सभी चित्तवृत्तियों का अभावरूप 'निर्वेद'। निर्वेद तो शान्त का केवल व्यभिचारी भाव है। परन्तु यहाँ अन्यव्याख्याकार इनसे सहमत नहीं हैं, उनके मतमें 'निर्वेद' और 'शम' दोनों समानार्थक शब्द हैं। विश्वनाथ का भी जो 'शम' है, उसका अभिप्राय 'निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्' है, न कि 'वैराग्य आदि के द्वारा निर्विकारचित्तता'। यही शम आत्मस्वभावरूप है, तत्त्वज्ञान-आत्मज्ञानरूप है और यही निर्वेदरूप है[२५]। अभिनवभारतीकार के मत में चाहे 'शम' हो या निर्वेद, दोनों आत्मस्वभावरूप ही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शम, निर्वेद, तृष्णाक्षय सुख या आत्मज्ञान पदों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, अपि तु शब्दभेद मात्र प्रतीत होता है।

शान्तरस का आलम्बन संसार की असारता, क्षणभंगुरता है। इसी को यदि और स्पष्ट करें तो अनित्यता किं वा दुःखमयता आदि के कारण समस्त सांसारिकविषयों की निःसारता का ज्ञान, नश्वरता का बोध अथवा साक्षात्परमात्मस्वरूप का ज्ञान ही इसका आलम्बनविभाव होता है। ऋषि

---

२१. र.त. ५/५१ २२. र.त. ७/११५ २३. संगीतरत्नाकर - ७/५१३
२४. काव्यानुशा. टीका पृ. १०१ २५. अभिनवभारती

आदि के पवित्र आश्रम, हरिद्वार आदि पवित्र तीर्थस्थान, रमणीय एकान्तप्रदेश, भगवान् की लीलाभूमियाँ, महात्माओं का संग, शास्त्रश्रवण, श्मशान, मृतक आदि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। संसार के दुःख में दुःखी होना, त्याग की तत्परता, अश्रु, पश्चात्ताप, ग्लानि, रोमांच आदि जहाँ इसके अनुभाव हैं; वहीं धृति, स्मृति, मति, ग्लानि, दैन्य, असूया, हर्ष, विबोध, उद्वेग, जड़ता, निर्वेद, प्राणियों पर दया आदि इसके संचारीभाव किं वा व्यभिचारी भाव होते हैं। इन्हीं सबको संक्षेप में इस प्रकार बताया गया है कि -

'अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ॥
पुण्याश्रम हरिक्षेत्र तीर्थरम्यवनादयः।
महापुरुषसंगाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ॥
रोमांचाद्याश्चानुभावास्तथा स्युः व्यभिचारिणः।
निर्वेदहर्षस्मरण मतिभूतदयादयः[२६] ॥'

आचार्य भानुदत्त के मत में 'निर्वेद' ही पुष्ट होकर शान्तरस हो जाता है। अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर नामके जो विकाररूप दोष हैं, इनका शमन ही शान्त है। सांसारिक विषयों के दोषों के स्वरूप और उनके निराकरणों पर विचार एवं विरक्ति की भावना आदि इस शान्तरस के विभाव हैं तथा आनन्दाश्रु, रोमांच, हर्ष एवं गद्गदवचन इसके अनुभाव हैं[२७]।

यद्यपि शान्तरस को नाटक में अंगी बनाना प्रायः किसी का अभिमत नहीं है, परन्तु स्पष्टरूप से केवल धनञ्जय, शारदातनय, भानुदत्त सरीखे कुछ आचार्य ही नाट्य में शान्तरस की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। इनके मत में शान्तरस में सभी क्रियाओं का अभाव हो जाता है। अतः उसका अभिनय

---

२६. काव्यशिखा - III शिखा २७. र.त. VII पृ. ११५

करना सम्भव नहीं है[२८]। जब कि आचार्य मम्मट के 'शान्तोऽपि नवमो रसः' सूत्र में शान्त का अस्तित्व श्रव्य और दृश्य दोनों काव्यों में माना गया है।

नाटक अभिनयप्रधान होता है और अभिनय है चतुर्विध आंगिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य। इन्हीं चतुर्विध क्रियाओं के द्वारा दर्शकों को रस की प्रतीति करायी जाती है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाय तो इन चतुर्विध अभिनय के द्वारा दृष्टि और श्रोत्र दोनों इन्द्रियों से लोक की अवस्थाओं के अनुभव के कारण जो रस निष्पत्ति होती है, वह केवल श्रवण अथवा पठन के योग्य श्रव्यकाव्य से नहीं हो सकती। आचार्य भरत भी कहते हैं -

'भावाभिनय सम्बद्धान् स्थायिभावाँस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः[२९]॥'

परन्तु शान्तरस में सभी क्रियाएँ किंवा चेष्टायें समाप्त हो जाती हैं। फिर रसों की प्रतीति कैसे होगी ? क्यों कि मन, बुद्धि और उनके साथ अन्य ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों की जड़ता होने पर विरसता ही उत्पन्न हो सकती है, रस नहीं। नाटक में किसी भी दर्शक को निश्चेष्ट, नाट्यव्यापाररहित अभिनय देखकर कभी आनन्द नहीं आ सकता।

इसके ठीक उलट, रुद्रट निर्वेद से भी आनन्द की प्राप्ति मानते हैं और इसीलिए उसे रस भी माना है - 'निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः'[३०]। जबकि रत्नकोशकार ने नाट्य में भी शान्तरस की सत्ता मानी है -

---

२८.क) तस्य समस्त व्यापार प्रविलयरूपस्याभिनययोगात्- दशरूपक अवलोकटीका - ४, पृ. ३१४

ख) विलीनः सर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेत्।
अतोऽनुभावराहित्यन्न नाट्ये भवेत्॥ भावप्रकाशन - १, पृ. २६

ग) नाट्यभिन्ने परं निर्वेद स्थायिभावकः शान्तोऽपि नवमो रसः भवति। - र.त.सप्तम तरंग, पृ. ११५

घ) रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य॥ - दशरूपक - ४/३५

ङ) अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः - नाट्यशा. ६/१६, का.प्र. ४/२९

२९. ना.शा. ६/३३

३०. काव्यालङ्कार - १२/४

'शृंगारवीरवीभत्स रौद्रहास्यभयानकाः ।
करुणाद्भुतशान्ताश्च नवनाट्ये रसाः स्मृताः ॥'

रंगमंच पर सम्भोग या वध वर्जित हैं, किन्तु इस कारण से शृंगार या रौद्ररस का नाट्य में अभाव नहीं माना जाता। कारण सम्भोग आदि के लिए व्यक्ति के विविध प्रयत्नों का इस प्रकार अभिनय किया जाता है कि उनकी चरम अवस्था सम्भोग आदि का अनुभव दर्शक रंगमंच पर देखे बिना ही कर लेता है। इसी प्रकार शान्तरस की चरम अवस्था समस्त क्रियाओं का अभाव है, जिसका अभिनय तो रंगमंच पर नहीं हो सकता; परन्तु पुरुष की समस्त क्रियाओं के अभावरूप शान्त की और प्रयत्न दिखाकर रंगमंच पर शान्तरस का अभिनय किया ही जा सकता है। पुरुष क्यों अपनी इच्छाओं का दमन करना चाहता है, इसके लिए वह क्या-क्या प्रयत्न करता है अथवा प्रयत्न के मध्य में उसे कौन से प्रलोभन घेर लेते हैं, वह किस प्रकार इसमें डूबता उतरता हुआ अन्त में अपनी इच्छाओं आदि का दमन करने में सफल होता है। इन सबका अभिनय तो रंगमंच पर हो ही सकता है तथा इन सबके सजीव अभिनय से सहृदय सामाजिक शान्तरस का आस्वादन तो कर ही सकते हैं[३१]। इतना ही नहीं, नाटक में शान्त रस की सत्ता को अस्वीकार करने वाले भानुदत्त भी शान्तरस में क्रिया हीनता को नहीं मानते। ये कहते हैं कि काम, क्रोध आदि दोषों का शमन ही निर्वेद की अवस्था है और दोषों की शान्ति होने पर मनुष्य निष्काम क्रिया करता है, जैसे भगवान् बुद्ध। इस सबके आधार पर यह निश्चित है कि शान्तरस का भी अभिनय नाटक में हो सकता है। जब कि विशिष्टाद्वैत दर्शन के मूर्द्धन्य आचार्य वेदान्तदेशिक भी 'शम' के अभिनय अथवा वर्णन में कोई भेद नहीं मानते और न ही कोई अनुपपत्ति मानी है[३२]।

३१.क) The number of Rasas-V.Raghavan, P. 24
ख) Essays on Indian Poetics- Shanta Rasa - by - Satyadeva Chaudhary, P. 76-78

३२. संकल्पसूर्योदय १/१९

भले ही पूर्वाचार्य निर्वेद को अमंगलप्राय मान लें और अमंगल होने के कारण वह सुखद भी न हों, पर शान्तरस सुखात्मक है - ऐसा आचार्यों ने प्रतिपादित किया है। रामचन्द्रगुणचन्द्र के मत में समस्त रस दो भागों में विभक्त है - सुखात्मक और दुःखात्मक। इनमें शृंगार-हास्य-वीर-अद्भुत व शान्तरस सुखात्मक हैं और करुण, रौद्र, वीभत्स एवं भयानक दुःखात्मक[३३]। जब कि आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार अभिनवगुप्त सभी रसों को उभयात्मक मानते हैं यानि प्रत्येक रसमें सुख और दुःख दोनों का समावेश रहता है[३४]।

स्वाभाविक है, जब भारतीय नाट्य परम्परा में शान्तरस प्रधान नाटकों का निषेध हो अथवा विवादों से ग्रस्त हो तो फिर क्यों कोई इस प्रकार का नाटक रचेगा ? लेकिन यह अपवाद हो या न्यूनतम प्रतिशत, संस्कृत नाट्यसाहित्य में शान्तरस प्रधान नाटकों की रचना कमोवेश होती जरूर रही है। मिथिला का यह गौरव है कि यहाँ दो-दो प्रसिद्ध शान्तरसप्रधान संस्कृत नाटकों की रचना हुई है। यथा श्रीकृष्ण मिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय और दूसरा हरिहरोपाध्याय का भर्तृहरिनिर्वेद। वैसे श्रीहर्ष के 'नागानन्द' को भी कुछ लोग शान्तरस प्रधान नाटक मानते हैं, परन्तु मुझे नहीं लगता कि उसे शान्तरस प्रधान नाटक कहा जा सकता है। शान्त और दयावीर में अन्तर है, क्यों कि शान्त में अहंकार का लेश भी नहीं होता और दयावीर में वह रहता ही है। विश्वनाथ का कहना है कि - 'निरहंकाररूपत्वात् दयावीरादिरेष नो'[३५]। नागानन्द में नायक जीमूतवाहन के हृदयगत जो अहंकार है, वह शान्त नहीं है, अतः उसे निरहंकार नहीं कहा जा सकता, जब कि शान्तरस में निरहंकार का होना नितान्त आवश्यक है। इस कारण 'नागानन्द' दयावीरप्रधान नाटक है, न कि शान्तरस प्रधान।

---

३३. नाट्यदर्पण पृ. १५९ ३४. का.प्र. सूत्र - ४४
३५. सा.द. ३/२४९

भर्तृहरिनिर्वेद के रचयिता श्रीहरिहरने नान्दी के बाद सूत्रधार के मुख से अपना नाम मात्र कहलबाया है - "श्रीहरिहरप्रणीतेन भर्तृहरिनिर्वेद नाम्ना शान्तरसप्रधानेन नाटकेन --- ।" इसके अतिरिक्त पूरे नाटक में कहीं भी उनका कुछ परिचय प्राप्त नहीं होता । अतएव उनके परिचय के लिए बाह्याभ्यन्तर प्रमाण को ही आधार बनाकर निर्णय करना होगा ।

संस्कृत जगत् में बहुत सारे हरिहर नामक विद्वान हुए हैं, जिनमें केवल हरिहरोपाध्याय ही न्यूनातिन्यून तीन-चार प्रसिद्ध हैं । अत: रचना और रचनाकार को लेकर भ्रम उत्पन्न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । संस्कृतसाहित्य के इतिहास ग्रन्थों को देखने से हमें ज्ञात होता है कि "हरिहर" नामक कम से कम ये निम्नांकित विद्वान् तो अवश्य ही हुए हैं, जैसे -

१. शार्ङ्गधरपद्धति एवं पद्यावली में उद्धृत और चर्चित हरिहर, जो जैनाचार्य हरिहर और हरिहराचार्य से भिन्न एवं प्राचीन हैं ।

२. नृसिंहाचार्यके पुत्र हरिहर, जिन्होंने अनर्घराघव की व्याख्या की है[१] । कुछ लोगों के मत में ये ही अमरुशतक के व्याख्याकार भी हैं । यह निर्विवाद है कि भट्टिकाव्य के व्याख्याकार, अमरुशतक के व्याख्याकार से भिन्न कदापि नहीं थे ।

३. रामविद्वत्सूरि के पुत्र, जिन्होंने विद्वदलंकार[२], शृंगाररसबन्धप्रदीपिका[३], शृंगारभेदप्रदीपिका[४] (यह कोक्कोक रचित रतिरहस्य की व्याख्या है और इसका दूसरा नाम शृंगारभेदप्रदीप एवं शृंगारदीपिका भी है) शब्दभेदप्रदीपिका[५] तथा तेलगूभाषा में भागवतकाव्य की रचना की है[६] ।

---

१. तंजावुर कैटलग VIII ३३१५
२. सं काव्यशा . का इति. एस.के.दे - पटना १९७३, पृ. ३०३
३. तंजा. कैट. XVI ७३५९
४. टी. सी. II २४५२, मैसूर कैट. २०७, डी. सी. VIII २९५०
५. सी.सी. I ६६१
६. पोइट, पार्ट III, वीरेशलिंगम्

आपका समय १४५० ई. के आसपास माना जाता है। कहते हैं आप ही मालवा नरेश अर्जुनदेववर्म (१३ वीं श.) से अपने विद्यावल पर अपार धन अर्जित किये थे। आपही के श्लोक को विद्याधर ने अपनी "एकावली" में उद्धृत किया है। किन्तु मालवा नरेश और इनके समय में पर्याप्त अन्तर होने से दोनों का समकालिक होना जँचता नहीं है।

४. रति दर्पणकार हरिहर किसी "चन्द्र" नामक कवि के पुत्र हैं[७]।

५. एक हरिहर चित्रभानुकाव्य[८] और जानकीमाणिक्यस्तव[९] के कर्त्ता हैं। कुछ लोग इन्हें मैथिल मानते हैं, पर वे इस दिशा में कुछ ठोस प्रमाण प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं।

६. हृदयदूतकाव्य को कुछ लोग हृदयदर्पण नाम देकर इसके कर्त्ता को रतिदर्पणकार हरिहर से अभिन्न बताने का प्रयास करते हैं। पर हृदयदूत काव्य के अध्ययन से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये उनसे सर्वथा भिन्न और हृदयदूत नामक काव्य के रचयिता हैं। हाँ, यह सही है कि प्रतिलिपिकार ने एक जगह "हृदयदत्तकाव्य" लिखकर भ्रम करने वालों को एक अवसर अवश्य दे रक्खा है।

७. प्रस्तावरत्नाकरकार हरिहर उपर्युक्त हरिहरों से भिन्न तो अवश्य हैं, किन्तु ये कौन थे - अनुसन्धान सापेक्ष है।

८. पद्यामृततरंगिणी और पद्यावली के रचयिता हरिहर उपर्युक्त सभी हरिहरों से भिन्न हैं। किन्तु कुलप्रबन्धकाव्यकार हरिहर आप हैं या नहीं सन्देह है। एक विद्वान् ने पद्यावली एवं कुलप्रबन्धकाव्य के रचयिता हरिहरों को तो एक माना है, पर वे पद्यामृततरंगगिणी को उनकी रचना नहीं मानते। इनके मत में पद्यामृतंरंगिणी किसी मुक्तावलीकार की रचना है और यह मुक्तावली कोई दर्शनिकग्रन्थ रहा होगा। दूसरी बात कि कुलप्रबन्धकाव्य एवं पद्यावली में दो ऐसे पद्य हैं जो दोनों में समान पाये जाते हैं। पर पद्यामृततरंगिणी का एक भी

---

७. टी. सी. III ४१४० ८. सी.सी. I ७६२ ९. वही

पद्य इन ग्रन्थों में नहीं है और न इन ग्रन्थों का ही कोई पद्य उसमें उद्धृत हुआ है।

९. शंखपराभवव्यायोगकार हरिहर सिद्धसारस्वत गौड़ देशवासी प्रमाणित होते हैं और इनका काल १३ वीं.श. का पूर्वार्द्ध माना गया है। व्यायोग की प्रस्तावना से यह विदित होता है कि हरिहर भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे, जब कि प्रबन्धकोश के अनुसार आप नैषधकार श्रीहर्ष के वंशज सिद्ध होते हैं। आपकी भाषा में सांगीतिक अनुप्रासों की लहरी देखते ही बनती है -

“भद्रे भारति भावनीयविभवे भव्ये भव प्रेयसि
भ्रान्तिभ्रंशपरे भवार्तिशमनि भ्रूभंगभीमाहवे।
भक्तिप्रह्वभयापहारिणि भव भ्रश्यद्वराविर्भवद्
भारे भोगविभूतिदायिनि भुवे भासां भवत्यै नमः।”

यहाँ यह स्मर्तव्य है कि भीमविक्रमव्यायोग के रचयिता व्यास मोक्षादित्य आप ही के शिष्य थे

१०. उपर्युक्त भीमविक्रमव्यायोगकार व्यासमोक्षादित्य से भिन्न एक दूसरे मोक्षादित्य के पुत्र हरिहर का पता चलता है, जो एक कवि के रूप में चर्चित हैं।

११. हरिहर नामक केवल आचार्य ही नहीं हुए, वल्कि कुछ प्रजापालक भी हुए हैं। इनमें १३७९-१४०४ ए.डी. में स्थित रहे राजा हरिहर बुक्क द्वितीय, हिन्दुपति हरिहरदेव, कर्नाटवंशीय हरिहर देव जो हरिसिंह देव से प्रसिद्ध पाई; मुख्य हैं।

इन सब हरिहरों के अतिरिक्त प्रायशः पाँच छः हरिहर मिथिला में भी प्रसिद्ध हुए हैं। जिनमें प्रथम हरिहर तो वे हैं, जिन्होंने १२ वीं.श. के मध्यभाग में पारस्कर गृह्यसूत्र के ऊपर हरिहरभाष्य की रचना की थी, और जिसकी चर्चा बुधवालवंशीय पं. वासुदेव शर्मा जी करते हैं[१०]। शुक्लयजुर्वेदीय

---

१०. हिष्ट्री आफ नव्यन्याय इन मिथिला - डी. सी. भट्टाचार्य

कात्यायनश्रौत्रसूत्र पर भाष्य[११] लिखने वाले हरिहर शर्मा भी प्रायः आप ही हैं।

२. पिंगलछन्दः सूत्र की व्याख्या "पिंगलतरंगिणी" के रचयिता म.म. हरिहर उपाध्याय[१२] उपर्युक्त हरिहरभाष्यकार से भिन्न और अर्वाचीन हैं।

३. फन्दहवार खनाम मूलक वत्सगोत्रीय मंगरौनी निवासी म.म. हरिहर उपाध्याय, गोकुलनाथोपाध्याय के समकालीन और मिथिला के सुप्रसिद्ध सिद्धपुरुषों में एक तथा अद्वितीय तान्त्रिक मदनोपाध्याय के चचेरे भाई थे। आप म.म. रामभद्रउपाध्याय के पौत्र थे तथा मराडी राज्य में पक्ष-प्रतिपक्ष-परिग्रह के अवसर का निम्न श्लोक आप ही दोनों भाइयों से सम्बद्ध है -

"हरिहर ! परिहर गर्वङ्कविराजगजांकुशो मदनः।
मदन ! विमुद्रय वदनं स्मर हरचरितं पुरातीतम् ॥"

कहते हैं द्वैतंनिर्णयादि धर्मशास्त्रीयग्रन्थ आप ही ने रचा है।

डॉ. त्रिलोकनाथ झा के मत में म.म.गोकुलनाथ (१६५०-१७५०) के प्रपितामह थे सदुपाध्याय हरिहर (१५५० ई.) जो "नीकार"से प्रसिद्ध थे। निकार अथवा नीकार से प्रसिद्ध हरिहर के पिता थे म.म. रुचिपति। मदन उपाध्याय तो गोकुलनाथ के ही चचेरे भाई थे, इनके चाचा म.म. मधुसूदन के बालक[१३]। परन्तु कुछ लोगों ने यह भी मत व्यक्त किया है कि नीकार नाम से प्रसिद्ध हरिहर से भिन्न और अर्वाचीन दूसरे हरिहर भी इसी वंश में हुए हैं, जो सम्बन्ध में मदन उपाध्याय के चचेरे भाई लगते थे। अर्थात् इस वंश और गाँव में दो हरिहर हुए हैं।

४. बलियासय माण्डरमूलक काश्यपगोत्रीय हरिहर उपाध्याय का समय १४ वीं.श. के आसपास अर्थात् १३५० ई. से १४५० ई. के बीच माना

---

११. सं.सा. का इतिहास - वा.गैरोला, पृ. १४७
१२. बी. आर. एस., पटना, पाण्डुलिपि सूची - VI
१३. श्रीअमर अर्चना, पृ. २९८, दरभंगा

जाता है। कुछ लोगों के मत में आप विद्यापति के समकालीन थे और विद्यापति ने अपनी कीर्त्तिलता में आपका उल्लेख भी किया है। जब कि कुछ लोगों के अनुसार आप किसी ओइनिवार नरेश के धर्माधिकरणिक रहे हैं[१४]। ये आश्रयदाता नरेश राजा देवसिंह रहे होंगे अथवा राजा कीर्त्तिसिंह, या फिर दोनों। इनके धर्माधिकरणिक अर्थात् न्यायमन्त्री होने से आप निश्चय ही धर्मशास्त्र के पण्डित रहे होंगे, परन्तु आपकी कोई भी रचना प्राप्त नहीं होती। आप माधू उपनामक जयधर के पुत्र थे तथा कोलेश्वर उपनामक मुरारि उपाध्याय आप के पौत्र थे। मुरारि ने अपनी शुद्धिदीपिका में एक वंशावली भी दी है, जिसके अनुसार रविशर्मा के पुत्र श्रीरामशर्मा हुए, श्रीरामशर्मा के जयधर, उनके हरिहर, उनके रुद्रधर, फिर रुद्रधर के मुरारि। इन्हीं हरिहर के भ्रातुष्पौत्र थे पण्डितराय रघुनन्दन, जिनके भ्रातृज गंगानन्दकवीन्द्र हुए हैं।

५. एक हरिहर मालतीमाधव और अनर्घराघव नाटकों के व्याख्याकार हैं। नृसिंहाचार्य के पुत्र अनर्घराघव व्याख्याकार हरिहर से आप भिन्न और मैथिल थे[१५]। न जाने पिंगलतरंगिणीकार पूर्वोद्धृत हरिहर से आप भिन्न थे या नहीं ; इस दिशा में अनुसन्धान अपेक्षित है।

६. अब हमारे चरितनायक म.म. हरिहर उपाध्याय आते हैं, जिनके जीवन और रचनाओं के सम्बन्ध में हम आगे वर्णन करेंगे।

इतने हरिहरों के होने के कारण और नाटक में कविका कुछ भी परिचय नहीं मिलने के कारण भर्तृहरिनिर्वेदकारका निर्विवाद परिचय होने पर भी इन्हें विवादास्पद और भ्रामक बना दिया गया है।

हरिहर के प्रसंग भ्रान्ति और उसका निराकरण -

कुछ लोगों के मत में भर्तृहरिनिर्वेद, प्रभावती परिणय और हरिहरसुभाषित (सूक्तिमुक्तावली ?) के रचयिता एक नहीं हैं।

---

१४. कृष्णमाधव चिन्तामणि, भाग २, पृ. १३२
अलंकारसमुद्‌ग, भूमिका पृ. ३०

१५. सी. एम्. एस. के .एस. एस. १९९५, पृ. ११३

प्रभावतीपरिणयकार और सुभाषितकार हरिहर जहाँ अभिन्न हैं, वहीं भर्त्तृहरिनिर्वेदकार हरिहर इनसे भिन्न ।

यहाँ उन विद्वानों के मतों का अवलोकन किया जाए, जिन्होंने इन्हें हरिहरसुभाषितकार (प्रभावती परिणय नाटककार) से भिन्न कहा है ।

१. भर्तृहरिनिर्वेद को इनकी कृति मानने में कोई प्रमाण नहीं है । किसी प्रतिलिपिकार ने एक साथ हरिहरसुभाषित और भर्तृहरिनिर्वेद की प्रतिलिपि की थी । जिसे एक ही खेत में उपजे हुए आलू-भाटा का सम्बन्ध कहा जा सकता है[१६] ।

२. कतिपयेषां मतेन भर्तृहरिनिर्वेदनाटकम् बलियास माण्डरवंशीय धर्माधिकरणिक हरिहरोपाध्यायस्य (१३८० ई.) वर्त्तते[१७] ।

३. भर्तृहरिनिर्वेदनाटक के रचयिता बलियासवंशीय धर्माधिकरणिक हरिहर शैव थे, जो विद्यापति के समकालिक थे.. । ...विद्यापति के समय किसी प्रभावशाली गोरखपन्थी महात्मा का मिथिला में प्रादुर्भाव हुआ था । अतः विद्यापति ने ''गोरक्षविजयनाटक'' की एवं हरिहरने 'भर्तृहरिनिर्वेद' नाटक की रचना की[१८] ।

४. ...... प्रभावतीपरिणय एवं सूक्तिमुक्तावली में समान पद्यों से अपना विस्तृत परिचय देनेवाले हरिहर भर्तृहरिनिर्वेद में केवल अपने नाम से ही परिचय दें यह संगत नहीं लगता है[१९] ।

५. कुछ लोग भर्तृहरिनिर्वेद नामक नाटक को भी हरिहर के नामसे निर्दिष्ट करते हैं, परन्तु म.म.मुकुन्द झा वक्शी द्वारा लिखित भर्तृहरिनिर्वेद की भूमिका से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि भर्तृहरिनिर्वेद के रचयिता हरिहर, प्रभावतीपरिणय के प्रणेता हरिहर से भिन्न पुरुष थे । आर.एल.मित्र एवं काशी प्रसाद जायसवाल ने अपनी सूचनाओं में क्रमशः पृष्ठ १५९ तथा ८८ में प्रभावतीपरिणय के श्लोक उद्धृत करते हुए यह बातें स्वीकृत की हैं[२०] ।

---

१६. कृ.मा.चि. II पृ. १८६ १७. वही पृ. १३२
१८. अलं. समु. भू. पृ. ३० १९. वही पृ. ३०
२०. प्र.प.भू. पृ. ३०-३१, चौखम्बा १९६९, आ. रामचन्द्रमिश्र

६. भर्तृहरिनिर्वेद किसी धर्मशास्त्रनिबन्धा हरिहर की रचना है । इस बात को प्रो.रमानाथ झा ने वंशानुक्रमजनित काल भेद के द्वारा प्रमाणित कर दिया है[२१] ।

अब यदि हम विचार करें तो ये सारे भ्रामक मत तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में स्वत: नष्ट हो जाते हैं ।

क - कहा गया है कि भर्तृहरिनिर्वेद को सुभाषितकार की रचना मानने में कोई प्रमाण नहीं है, किसी एक ही लिपिकार ने इन दोनों ग्रन्थों की प्रतिलिपि की थी। यदि इन्हीं की बातों को सत्य मान लिया जाय तो भर्तृहरिनिर्वेद सुभाषितकार की रचना नहीं है - इसी में क्या प्रमाण है ? वल्कि एक ही लेखक की रचनाओं को किसी एक ही विद्वान् ने प्रतिलिपि की थी - क्या यह प्रमाण पर्याप्त नहीं कि दोनों के प्रणेता एक हैं । दूसरी बात यह कि उक्त मत के लेखक का पी-एच्.डी.शोधप्रबन्ध ही भर्तृहरिनिर्वेदकार पर है और इन्होंने अपने शोधप्रबन्ध में युक्तियुक्त रीत्या सप्रमाण प्रतिपादित भी किया है कि भर्तृहरिनिर्वेद, प्रभावतीपरिणय और हरिहरसुभाषित तीनों ग्रन्थ एक ही हरिहर की रचना है[२२] । जब उनसे उनके 'कृष्णमाधवचिन्तामणि' में प्रकाशित इस लेख के प्रसंग, पत्रके द्वारा पूछा गया कि आपही ने भर्तृहरिनिर्वेद को सुभाषितकार की रचना सिद्ध किया है, फिर यह विपरीमत का लेख आपने कैसै लेखा ? तो उनका पत्रोत्तर में कुछ ऐसा जबाव था कि - 'ये पंक्तियाँ हमारी नहीं हैं, ...(अमुक) या.... (अमुक) ने इसे बीच में जोड़कर मेरे लेखको भ्रामक बना दिया है । आप हमारा मूल लेख मंगाकर देख सकते हैं, जो मैने.....(अमुक) जी को प्रकाशनार्थ दरभंगा भेजा था' ।

ख- यह तो रहा डॉ. भक्तिनाथ झा के लेख का स्पष्टीकरण । अब एक और प्रमाण को देखते हुए हमें बहुत कुछ निराकरण स्वत: हो जाएगा ।

---

२१. वही

२२. मि.वि.वि. दरभंगा, शोधनिर्देशक - डा. टी.एन्. झा

भर्तृहरिनिर्वेद का 'शैत्यायादृत्यमूर्ध्ना ..... शान्तिः शिवाय' वाला मंगलाचरण ही मुक्तावली व्याख्या का मंगलाचरण है । दोनों में एक ही मंगलाचरण का होना और व्याख्यान्त में - '....श्रीराघवशर्म्मसूनुः[२३] ...' का होना क्या इस बात का प्रमाण नहीं कि भर्तृहरिनिर्वेदकार राघवशर्म्मा के पुत्र हैं ?

ग- दूसरी बात यह आई है कि विद्यापति के समय मिथिला में कोई प्रभावशाली गोरखपन्थी महात्मा आये थे, अतः विद्यापति और हरिहर ने अपने अपने ढ़ंग से नाटकों की रचना की थी । यहाँ पहली बात तो यह है कि विद्यापति के समय कोई गोरखपन्थी महात्मा आए थे, इसकी सूचना न तो किसी इतिहासग्रन्थ से मिलती है, न अनुश्रुति से और न ही किसी भी अन्य पुस्तक से । यहाँ तक कि विद्यापति कृत गोरक्षविजय से भी इस बात की पुष्टि नहीं होती । फिर ऐसे महात्मा के आने की कपोल कल्पना कर बैठना कहाँ तक संगत होगा स्वयं पाठक ही विचार कर सकते हैं । रही बात एक विषय को लेकर नाटक रचने की, तो विभिन्न समयों में विभिन्न लोंगों के द्वारा एक ही विषय पर नाट्य रचना करना क्या सम्भव नहीं है ? जब कि एक ही नाम से कई रचनाएँ भी पाई जाती हैं, फिर एक ही विषयक कई रचनाएँ हैं नहीं क्या? 'उषाहरण' नाम से देवानन्द, रत्नपाणि, हर्षनाथ और विश्वनाथ ने नाटक की रचना की है, क्या ये सभी एक ही समय के थे ? प्रभावतीपरिणयकार विश्वनाथमहापात्र और हरिहरोपाध्याय क्या समसामयिक हैं ? यदि ऐसा है तो फिर विद्यापति और हरिहर ही क्यों भवानीदत्त उपाध्याय क्यों नहीं उनके समकालिक हैं ? क्यों कि डॉ. नरेन्द्र प्रसाद शुक्ल, विलासपुर तथा डॉ. प्रमोदरंजन मुखोपाध्याय, कलकत्ता के आलेखों के आधारपर इन्होने भी तो भर्तृहरिनिर्वेद नामसे एक पृथक नाटक की रचना की है ।

घ- तीसरी बात यह आई है कि दो ग्रन्थों में समान पद्यों से अपना विस्तृत परिचय देनेवाले कवि अपनी तीसरी रचना में मात्र अपने नामसे ही परिचय देते हैं ।

---

२३. इण्डियन एण्टीक्वैरी IV पृ. ३७९

यहाँ पहले तो यह सम्भव कि है भर्तृहरिनिर्वेद नाटक उनकी प्रथम रचना हो, जिसमें उन्होंने अपना पूरा परिचय नहीं दिया होगा। फिर बाद में लोगों के कहने से या फिर स्वयं के अनुभव से वे बाद के दोनों ही ग्रन्थों में अपना विस्तृत परिचय दे डाले हों अथवा यह उनकी अन्तिम रचना हो, जिसमें ख्यातिलब्ध हो जाने के कारण अधिक परिचय की आवश्यकता ही न पड़ी हो। इतना ही नहीं, वास्तविकता तो यह है कि हरिहरसुभाषित का सर्वप्रथम प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से काव्यमाला के अन्तर्गत १९१४ ई. में हुआ था और उसके तीनों ही संस्करणों में वे दो पद्य नहीं थे, जिन पद्यों को लेकर विस्तृत परिचय की बात आयी है। उन तीनों ही संस्करणों को देखने से यह पता चलता है कि ये दोनों पद्य बाद में (१९४९ में) जोड़े गये हैं। जब कि इन संस्करणों के अतिरिक्त भी कुछ (चार) पाण्डुलिपियों को प्रो. रमानाथ झा ने उपलब्ध किया था, जिनके आधार पर प्रो.झा 'हरिहरसुभाषित' का सम्पादन किये थे। उन पाण्डुलिपियों के साथ - साथ काव्यमाला के किसी भी संस्करण में हरिहर का यह विस्तृत परिचय (दो पद्योंवाला) प्राप्त नहीं होता। इन संस्करणों व पाण्डुलिपियों में तो हरिहर ने अपना परिचय यों दिया है कि -

'लक्ष्मीराघवयोर्सूनोरनूनोऽयंगिरांगुणैः।
सुभाषितानां संक्षेपः प्रेक्षावद्भिः परीक्ष्यताम् ॥'

जब इसी श्लोक से उनका परिचय मिल जाता है तो फिर पृष्टपेषण कर पुनरावृत्ति का दोष वे क्यों लेते। काव्यमाला संस्करणों के साथ साथ सभी पाण्डुलिपियों में ग्रन्थ का नाम ''हरिहर सुभाषित'' दिया गया है और उक्त परिचयात्मक श्लोक में भी ''सुभाषित''की ही चर्च्चा है। सूक्तिमुक्तावली नामका भ्रम तो बाद में तब आया, जब १९४९ में पटना से इसका प्रकाशन हुआ। कविशेखर पं.बदरीनाथ झा ने मिथिलांक[२४] में स्पष्ट लिखा है कि 'प्रादुर्भूय

२४. मिथिलांक १९३६, दरभंगा

पुरो गिरेरिव ...... चिरेण चीर्णा' आदि दोनों पद्य म.म.देवनाथ ठाकुर के ग्रन्थ की 'मुक्तावली' व्याख्या के हैं। जब कि मिथिलातत्त्वविमर्श में म.म.परमेश्वर झा इन दोनों ही पद्यों को हरिहर सुभाषित के पद्य न मानकर प्रभावती-परिणय के पद्य मानते हैं। अतः लगता है कि 'सूक्ति' और 'मुक्तावली' - इन दोनों शब्दों को देखकर हरिहरसुभाषित के सम्पादक पं. रमानाथ झा को यह भ्रम हुआ होगा कि यह ''सूक्तिमुक्तावली'' हरिहरसुभाषित का पर्याय है और इसी भ्रम से इन दोनों पद्यों को मूलग्रन्थ में जोड़ दिये होंगे। अत एव यदि गम्भीरता से देखा जाए तो ये दोनों ही पद्य प्रभावतीपरिणय और मुक्तावलीव्याख्या में तो हैं, पर भर्तृहरिनिर्वेद और हरिहरसुभाषित में नहीं हैं।

यहाँ यह भी सम्भव है कि अपना विस्तृत परिचय देकर हरिहर सबसे पहले 'प्रभावती परिणय' और फिर 'मुक्तावली' व्याख्या की रचना की हों और बादमें 'हरिहरसुभाषित' बनाये हों, जिसमें उन्होंने केवल अपने माता-पिता को ही स्मरण किया है - 'लक्ष्मीराघवयोर्सूनोः ......'। तात्पर्य है कि उपर्युक्त चारों ही रचनाओं में कवि का परिचय क्रमशः कम ही पाया जाता है।

जब इनकी इन तीन रचनाओं से पूरी प्रसिद्धि मिल गई और अवस्था भी बढ़ गई तो जीवन के चतुर्थ चरण में शान्तरस-प्रधान वैराग्यपरक नाटक 'भर्तृहरिनिर्वेद' की रचना की। धर्मशास्त्र में भी इनकी अनुपम गति थी, जिसकी झलक इस नाटक के अवलोकन से मिल जाती है और साथ ही 'विधिविवेक' की प्रकाश व्याख्या में म.म. इन्द्रपति ने स्पष्ट लिखा है कि ज्योतिष का अध्ययन जहाँ उन्होंने अपने दादा नीलकण्ठ से किया था, वहीं धर्मशास्त्र का अध्ययन उनके बड़े भाई और अपने पितामहभ्राता हरिहर से किया था। गोपालभट्ट इनके (इन्द्रपति के) मीमांसाशास्त्र के गुरु थे। अस्तु। भर्तृहरिनिर्वेद में हरिहर ने अपना परिचय तो नहीं दिया है, पर उसके अन्त में श्लेष के द्वारा अपनी जननी 'लक्ष्मी' को अवश्य ही उद्धृत किया है - 'लक्ष्मीरक्षतपक्षपातमधुरा भूयादुदारात्मनाम्'। स्वाभाविक ही है वैराग्यपरक

रचना में कवि सांसारिक मायाजाल में क्यों फँसेगा और उसमें भी बृद्धावस्था में।

ङ- एक चौथी बात यह आयी है कि म.म. मुकुन्द झा वक्शी द्वारा लिखित भर्तृहरिनिर्वेद की भूमिका से इसके कर्त्ता 'हरिहर' प्रभावतीपरिणयकार से भिन्न सिद्ध होते हैं। जब कि उक्त भूमिका में म.म. वक्शी जी स्पष्ट लिखते हैं कि - '......निर्माता चास्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रप्रतिभो द्वैतनिर्णयादिधर्मशास्त्र निबन्धग्रन्थानामनेकेषां साहित्यग्रन्थानां च विरचयिता झोपाख्यो महामहोपाध्यायो हरिहरशर्म्मा करमहासं हृषीकेशशर्म्मतनुजन्मनो राघवशर्म्मणस्तनुजन्मा श्री कण्ठकवेश्चाग्रजन्माऽग्रजन्माऽग्रजन्म-नाम्मूर्द्धन्योऽधिमिथिलं समभूदिति तदीय ग्रन्थान्तलेखादध उद्धृतात्परिचिनोमि - 'प्रादुर्भूय ... चिरेण चीर्णा[२५]' ॥ 'हाँ, यहाँ यह बात भी सही है कि इसमें महामहोपाध्याय जी को एक स्थल पर भ्रम हुआ है कि, वे मदन उपाध्याय के चचेरे भाई और म.म. गोकुलनाथोपाध्याय के समसामयिक रहे द्वैतनिर्णकार (?) हरिहर को, करमहावंशीय भर्तृहरिनिर्वेदकार म.म. हरिहर से अभिन्न मान लिया है।

जब कि यह द्वैतनिर्णय ही विवादास्पद है। क्यों कि यहाँ ये मत ध्यातव्य हैं -

अ- 'द्वैतनिर्णय' नामक ग्रन्थ दूसरे- दूसरे लेखक का तो मिलता है, पर हरिहर नामक किसी विद्वान् का नहीं। आफ्रेक्ट, वी. राघवन् और के. कुंजनी राजा के अलग अलग प्राप्त 'कैटलोगस कैटोलोगोरम' में भी कहीं हरिहरकृत द्वैतनिर्णय का उल्लेख नहीं है। पाण्डुलिपि भी कहीं प्राप्त नहीं होती। म.म. वक्शी जी को छोड़ किसी ने भी इस ग्रन्थ की चर्च्चा तक नहीं की है।

ब- अनुमान से कुछ लोग द्वैतनिर्णय को हरिहर की रचना मानते हैं। पर ये हरिहर भिन्न-भिन्न हैं। दो फन्नावार मूलक,-एक बलियासय मूलक और एक कर्म्महामूलक।

---

२५. भ.नि.भू. पृ. - १-२

स- कुछ लोग द्वैतनिर्णय नामक दो अलग अलग ग्रन्थों को दो भिन्न -भिन्न हरिहरों की कृति भी मानते हैं ।

द- अथवा यह सम्भंव है कि वख्शी जी के सामने उन दिनों हरिहर का 'द्वैतनिर्णय' रहा हो और उसमें से ही ये दोनों पद्य इन्होंने ग्रहण किया हो - 'प्रादुर्भूय...चिरेण चीर्णा' । साथ ही 'भर्तृहरिनिर्वेद' और 'द्वैतनिर्णय' के अतिरिक्त इनकी कोई भी पाण्डुलिपि उन्हें न दिखी हो, अन्यथा वे केवल 'द्वैतनिर्णय' का ही उल्लेख क्यों करते ? और 'ग्रन्थान्तलेखात्...' आदि वाक्य भी क्यों लिखते ? जब कि ये पद्य प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में नहीं हैं ।

रही बात राजेन्द्र लाल मित्र और के.पी.जायसवाल जी की सूचनाओं की, तो उन सूचनाओं से यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि भर्तृहरिनिर्वेदकार, प्रभावतीपरिणयकार से भिन्न हैं या अभिन्न[२६] ।

च- पं.रमानाथ झा का यह मानना कि भर्तृहरिनिर्वेदकार हरिहर धर्मशास्त्र निबन्धा हैं, मुकुन्द झा वक्शीकृत पूर्वोक्त भूमिका पर आधारित है । और जब यह आधार ही कमजोर हो तो फिर आधेय की मजबूती कहाँ से आँकी जा सकती है ? रही बात वंशानुक्रम जनित कालभेद की, तो उसे दोनों के समय के आधार पर स्वत: अलग किया जा सकता है ।

गोल्डस्टूकर और क्रूक साहब, दोनों नाटकों के रचयिता को एक ही स्वीकार करते हैं[२७] । साथ ही साथ आफ्रेक्ट और देवीप्रसाद की सूचनाओं के आधार पर भी दोनों के कर्त्ता एक ही हरिहर सिद्ध होते हैं[२८] । भर्तृहरिनिर्वेदकार अवश्य ही धर्मशास्त्र के ज्ञाता हैं, किन्तु वे धर्मशास्त्र के ग्रन्थकार हैं - इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता । जब कि हरिहर की रचनाओं से उनकी विविध

---

२६. नोटीसेज् आफ सं.मैन्यु. - आर.एल्. मित्र VIII २३९५ पृ. १५९; कैट. आफ सं. मैन्यु. इन मिथिला - के.पी.जायसवाल, पृ. ८८

२७. Literary Remains (Goldstucker) I/161
Popular Religion and folk-lore of Northern India (crooke) 1/91

२८. C.C. of Aufrect - I/397, II/90, 183

शास्त्रों की अभिज्ञता प्रदर्शित होती ही है। खासकर न्याय-वेदान्त-मीमांसा-धर्मशास्त्र-काव्य और अलंकारों की।

मिथिला के इतिहासकारों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मैथिल पंजी प्रबन्ध में उल्लिखित "महामहोपाध्याय" सही मायने में न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र के मूर्द्धन्य हुआ करते थे। डॉ. भक्तिनाथ झा ने भी लिखा है - 'हरिहर केवल कवि नहीं थे- इसका प्रमाण पंजी में उल्लिखित महामहोपाध्याय पदवी है, जो उस समय न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र के पढ़ने पर प्राप्त होती थी'। हरिहर को यह धर्मशास्त्र का पाण्डित्य अपने पिता राघव उपाध्याय से विरासत में मिला था। जो कि अपने समय के मूर्द्धन्य धर्मशास्त्री थे, हेमाद्रिकृत चतुर्वर्गचिन्तामणि के प्रथम व्याख्याकार थे। अत: उनका धर्मशास्त्रमग्न शान्तरसानुगत होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

अपने 'संस्कृतसाहित्येतिहास' नामक ग्रन्थ में डॉ. लोकमणि दाहाल, प्रभावतीपरिणय और भर्तृहरिनिर्वेद नाटकों को दो रचयिताओं की कृति मानने के पीछे मुख्यत: चार हेतु देते हैं -

१. एक हरिहर १५ वीं.श.विक्रमाब्द के अन्त में हुए हैं तो दूसरे १७ वीं. श.विक्रमाब्द के मध्य में।
२. एक शान्तरसप्रधान नाटक है तो दूसरा शृंगारप्रधान।
३. एक हरिहर धर्मशास्त्रमग्न शान्तरसानुगत है तो दूसरा शृंगार चेता कविहृदय।
४. एक विषयप्रधान नाटक है तो दूसरा कवित्व-अभिनेयत्व का समन्वित रूप।

इन विन्दुओं में प्रथम को छोड़ बाँकी उतने महत्त्व के नहीं हैं। क्यों कि प्रभावती परिणय कविकी जहाँ प्रारम्भिक रचना है, वहीं भर्तृहरिनिर्वेद उनके चरमवय की। स्वाभाविक है व्यक्ति का जैसा मन-विचार-दृष्टिकोण होगा, उस सबका प्रभाव उसकी रचना पर भी अवश्य ही पड़ेगा। जो जिस शास्त्र का

पण्डित रहता है उसकी छाया उसकी रचनाओं पर पड़ती ही पड़ती है। तरुणाई में शृंगारिक रचना करना और वार्द्धक्य में शान्ति की खोज करना - क्या गलत हुआ है ? हमारे हरिहर नवरसों में से प्रथम और अन्तिम दोनों ही रसों को आधार बनाकर, उसे मुख्यरस देकर, दो कृतियों की रचना किये हैं, जो कि उनकी दो अवस्थाओं की रचनाएँ हैं। दो अलग अलग रसाधारित नाटकों की रचना करना अनुचित या परम्परा विरुद्ध भी तो नहीं है। भवभूति को ही लें, जिन्होंने वीर, शृंगार एवं करुणरस प्रधान क्रमशः महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित नाटकों की रचना की है।

हरिहर के समय को लेकर लिखा गया डॉ. दाहाल का मत मात्र अनुमान पर आधारित है। इन्होंने विना किसी प्रमाण का आसरा लिये बस समय निर्द्धारित कर दिया है। अतः यह भी कितना ठोस है स्वयं पाठक ही निर्णय करेंगे।

१८८२ ई. में काव्यमाला - २९ के अन्तर्गत जब सर्वप्रथम भर्तृहरिनिर्वेद का प्रकाशन निर्णय सागर से हुआ था, तो उसके सम्पादक म.म.प.दुर्गाप्रसादजी ने लिखा था - 'हरिहरोपाध्यायप्रणीतमेकं सुभाषितमपि मिथिलायां समुपलभ्यते'। सन् १९०४ में जब इस नाटक का सर्वप्रथम आंग्लानुवाद न्यूयार्क से डॉ. एल. एच्.ग्रे ने किया था तो उसकी भूमिका में उन्होंने भी प्रभावतीपरिणय को इस नाटककार की दूसरी रचना माना था[२९]। इतना ही नहीं, इससे पहले भी जैक्शन नामक विद्वान् ने अपने शोध प्रबन्ध में दोनों नाटकों को एक ही हरिहर की रचना स्वीकार किया था[३०]।

आ. बलदेव उपाध्याय[३१], वाचस्पतिगैरोला[३२], वे. वरदाचार्य[३३], मोनियर विलियम्स[३४], फ्रेजर[३५] आदि इतिहासकारों ने जहाँ हरिहरोपाध्याय के

---

२९. JAOS 25, P. 197 (Dr. L.H. Gray)
३०. JAOS XXII, A - 113 Jakson
३१. सं.सा.इ. पृ. ५९६
३२. सं.सा.इ. पृ. ८१४
३३. सं.सा.इ. पृ. २६६
३४. बुद्धिज्म, मोनियर विलियम्स, पृ. १९३
३५. Literary History of India, Frazer, P. 267, 269

एक ही नाटक भर्तृहरिनिर्वेद की चर्च्चा करते हैं, वहीं एम. विण्टरनित्ज[३६], ए. वेबर, ए.ई.गौ, मौण्टगोमरी, फरक्यूहर[३७], मैक्सम्यूलर[३८], लेवी[३९] आदिप्रख्यात पाश्चात्य विद्वान् इनके दोनों नाटकों व सुभाषितकाव्य का भी उल्लेख किये हैं। साथ ही कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो भर्तृहरिनिर्वेद को हरिहर की रचना मानते ही नहीं। पं रामचन्द्र मिश्र 'मोहन' इसके कर्त्ता के रूप में म.म. गोकुलनाथ उपाध्याय को बताते[४०] हैं, जो भ्रामक ही नहीं, असंगत भी है। इसी प्रकार पं. दीनानाथ झा लिखते हैं कि भर्तृहरिनिर्वेद की रचना पं. गौरीशंकर झा ने की है[४१]। पं. गौरीशंकर झा का उक्त भर्तृहरिनिर्वेद जहाँ अर्वाचीन और उस नाटक से भिन्न काव्यग्रन्थ हो सकता है, वहीं रामचन्द्रमिश्र ने तो स्पष्टत: उसी ग्रन्थ की ओर इशारा किया है, जो कि म.म. हरिहर उपाध्याय की रचना है।

म.म. परमेश्वर झा, कविशेखर पं. बदरीनाथ झा, पं. जनार्दन झा 'जनसीदन', पं. त्रिलोकनाथ मिश्र, डा. रामजी उपाध्याय, म.म. डॉ. वी.वी. मिराशी, पं. वचनेश मिश्र आदि विद्वान् यह मानते हैं कि भर्तृहरिनिर्वेद, प्रभावतीपरिणय और हरिहरसुभाषित आदि के कर्त्ता एक ही आचार्य हैं और वे हैं म.म. हरिहर उपाध्याय। म.म. परमेश्वर झा लिखते हैं कि - 'अपने छोटे भाई नीलकण्ठ के प्रीत्यर्थ म.म. हरिहर भर्तृहरिनिर्वेद नाटक और एक सुभाषितावली की रचना की थी और ये दानों ही ग्रन्थ बम्बई की काव्यमाला में मुद्रित हैं। आप प्रधानतया नैयायिक और आलंकारिक थे तथा आपकी एक और नाट्य रचना 'प्रभावतीपरिणय' नामक अमुद्रित है, जिसमें आप अपना परिचय यों देते हैं कि - 'प्रादुर्भूय पुरोगिरेरिव ...... चिरणे चीर्णा[४२]।

---

३६. Hist. of Indian Literature - Vol. III, P. 290

३७. Fraquhar - ORL, P. 347

३८. Six Systems of Hindu Philosophy - Maxmuller, P. 406, 438, 444, 470

३९. Levi - Theatre Indian - II/77,88. ४०. मिथिलांक पृ. ११४

४१. तन्त्रनाथ झा अ.ग्र. १९८० पृ. ११६ ४२. मि.त.वि. पृ. १७३

पं. जनार्दन झा 'जनसीदन' अपने प्रबन्ध में दो हरिहरों का परिचय देते हैं, वे एक को मदन उपाध्याय का चचेरा भाई मानते हैं तो दूसरे को प्रभावती परिणय एवं भर्तृहरिनिर्वेद नाटकों के प्रणेता[४३]। इसी प्रकार पं. त्रिलोकनाथ मिश्र भी दोनों नाटकों के रचयिता को अभिन्न बताते हैं[४४]। जब कि कविशेखर पं. बदरीनाथ झा जी हरिहर कृत प्रभावतीपरिणय की चर्चा तो कहीं नहीं करते, पर वे देवनाथ ठाकुर कृत किसी ग्रन्थ पर लिखी गई उनकी "मुक्तावली व्याख्या" की चर्चा अवश्य करते हैं और वे यह मानते हैं कि उपरोक्त दोनों पद्य (प्रादुर्भूय .....) उसी मुक्तावलीव्याख्या की हैं[४५]। वहीं पर वे यह भी कहते हैं कि हरिहर की इस व्याख्या के अतिरिक्त और भी साहित्यिक रचनाएँ हैं। लगता है कविशेखरजी का यह इशारा भर्तृहरिनिर्वेद, प्रभावतीपरिणय और हरिहरसुभाषित की ओर ही रहे हों। जब कि इन्होंने दूसरी जगह हरिहर की दो साहित्यिक रचनाओं का भी उल्लेख किया है। अलंकारमंजरी की भूमिका में आप ग्रन्थकार वेणीदत्त का परिचय देते हुए लिखते हैं - '....भर्तृहरिनिर्वेदनाटक हरिहरसुभाषितप्रभृतिश्रव्यकाव्यानां प्रणेतुर्हरिहरोपाध्यायस्य[४६].....'। इसी प्रकार वेणीदत्त की दूसरी रचना रसकौस्तुभ के व्याख्याकार म.म.ब्रह्ममित्र अवस्थी लिखते हैं कि वेणीदत्त के पिता का नाम जगन्नाथशर्म्मा था और वे जगन्नाथ शर्म्मा भर्तृहरिनिर्वेदनाटक, हरिहरसुभाषित आदि काव्यों के रचयिता श्री हरिहर उपाध्याय के कुल में उत्पन्न हुए थे[४७]। इन लोगों के विचारों की ही भाँति डा. रामजी उपाध्याय का यह विचार भी नितान्त मननीय है कि - 'भर्तृहरिनिर्वेद के रचयिता हरिहर उपाध्याय को मैथिल ब्राह्मण कहा जाता है। इनकी एक दूसरी रचना प्रभावती

---

४३. ज. स्मा.ग्र. पटना पृ. १४, १८

४४. मिथिलांक पृ. ९५   ४५. वही पृ. ५७

४६. अलं. मंजरी, उपन्यास पृ. १ दरभंगा, १९६१

४७. र.कौ.भू. पृ. २१, दिल्ली १९७८

परिणय है । मिथिला में हरिहर की एक रचना 'सुभाषित' सुप्रसिद्ध है । ऐसा लगता है कि हरिहर किसी राजा के आश्रय के चक्कर में नहीं पड़े, नहीं तो इस नाटक का प्रथम अभिनय किसी राजकीय नाट्यशाला में होता, न कि भैरवेश्वर की यात्रा में । हरिहर शैव थे, जैसा उनकी स्तुतियों से प्रकट होता है[४८] । डॉ. ए.डी. पुसलकर भर्तृहरिनिर्वेद और प्रभावतीपरिणय इन दोनों नाटकों की अन्त:-बाह्य समीक्षण के द्वारा उनकी वर्णन शैली, भाषा, सुभाषितवचन और पद्यों की तुलना करते हुए यह प्रमाणित कर चुके हैं कि ये दोनों ही नाटक एक ही लेखनी की कृति हैं और दोनों के कर्त्ता एक ही हरिहर हैं[४९] । जब कि 'सारस्वतकुसुमाञ्जलि' में भी दोनों हरिहरों को अभिन्न ही बताया गया है[५०] । इसी प्रकार डॉ. त्रिलोकनाथ झा लिखते हैं - "Mm. Harihar was a great poet and an acomplished dramatist. All his Three works-Suktimuktavali, Prabhavatiparinaya and Bhartriharinirveda bear testimony to it." वे आगे कहते हैं - "Mm. Harihar is the author of two dramas, the Bhartriharinirveda and the Prabhavatiparinaya[51]." वहीं अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में एम्. कृष्णमाचारियार एवं के. पी. कुलकर्णी ने इनके नाटकों की बड़ी सुन्दर समीक्षा भी प्रस्तुत की है ।

डॉ. वागीश्वरशर्मा के मत में काव्यप्रदीपकार गोविन्दठाकुर के पुत्र देवनाथ ठाकुर कृत अधिकरणकौमुदी पर मुक्तावली व्याख्या लिखने वाले हरिहर ने एक और रचना की थी - सुभाषितावली या हरिहरसुभाषित । ये एक सफल नाटककार भी थे, जिनकी दो नाट्यकृतियाँ प्रकाशित हैं - भर्तृहरिनिर्वेद और प्रभावतीपरिणय[५२] ।

---

४८. म.का.सं.ना. पृ. ४०४, सागर १९७४

४९. Indian Antiquary - Vol. IV

५०. जयमन्त मिश्र अ.ग्र. दरभंगा १९९४

५१. Contribution of Mithila to Skt. Kaya & Sahitya Shastra - P. 23, 101

५२. Harshanarayana Tripathi Fel. Vol., Agara 1988, p.41

दीप ग्रामनिवासी पं. लक्ष्मीनाथ झा ने आनन्दमन्दाकिनी के पृ. १९७ पर सूक्तिमुक्तावली, भर्तृहरिनिर्वेद और प्रभावतीपरिणय नाटकों को एक ही हरिहर की रचना बताया है। भर्तृहरिनिर्वेद के अनुवादक पं. वचनेश मिश्र भी लिखते हैं कि '.... इनकी बनाई सुभाषितादि और भी मनोहर संस्कृत में पाई जाती हैं[५३] ....' ।

इन सब बातों को यदि छोड़ भी दिया जाय तो भी यहाँ दो- तीन प्रमाण ही पर्याप्त होंगे, जिससे भर्तृहरिनिर्वेद-सुभाषितावली-प्रभावती परिणय के एक कर्त्तृत्व की सिद्धि हो जाती है।

१. मुक्तावलीव्याख्या में हरिहर ने अपना वही विस्तृत परिचय दिया है, जो कि प्रभावतीपरिणय में है - 'प्रादुर्भूय ..... चिरेण चीर्णा' ।

२. मुक्तावलीव्याख्या में जो दो पद्य मंगलाचरण रूप से आये हैं, उनमें से एक भर्तृहरिनिर्वेद में और दूसरा प्रभावतीपरिणय में भी हू-ब-हू आया हुआ है।

३. रसमार्त्तण्ड नामक अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थमें म.म. इन्द्रपति ने शान्तरस पर विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है - 'यथाऽस्मत्पितामहाऽग्रजाः परमगुरवः -

'शृंगारादिरनेकजन्ममरणश्रेणी समासादितै -
रेणीदृक् प्रमुखैः स्वदीपकसखैरालम्बनैरर्जितः ।
अस्त्येव क्षणिको रसः प्रतिपलं पर्यन्तवैरस्य भू -
र्ब्रह्माद्वैतसुखात्मकः परमविश्रान्तो हि शान्तो रसः ॥'

यह श्लोक भर्तृहरिनिर्वेद के प्रथम अंक का है। इन्द्रपति हरिहर के अनुज नीलकण्ठ के पौत्र हैं, इसमें किसी को भी कोई सन्देह नहीं है।

४. मुक्तावलीव्याख्या-प्रभावतीपरिणय और हरिहरसुभाषित का लेखक 'लक्ष्मी-राघव' का पुत्र है, जैसा कि इन रचनाओं में कहा गया है।

५३. भ.नि.भू., कालाकांकर, १९१२

५. इनके नाटकों में भरतवाक्य के रूप में साधुओं (नारद एवं गोरखनाथ) के मुखसे 'तथापीदमस्तु' कहकर मांगलिक पद आये हुए हैं - 'प्राक् प्राप्नोतु ...... ' और 'साधोः सिद्ध्यतु .... ' ।

६. प्रभावतीपरिणय के अन्त में भरतवाक्य के रूप में मुनिवर नारद कहते हैं - 'तथापीदमस्तु -

प्राक् प्राप्नोतु चिराद्गिरासहचरीमुद्रां समुद्रात्मजा
नोचेन्मुंचतु वैरमित्यपि न चेन्मूढ़ेषु मा मज्जतु ।
येषां दुर्मदमोहदुर्दिनदृशां दोषस्पृशामग्रतः
कालग्रस्त इवावसीदती सतामन्तर्निगूढ़ो गुणः ॥'

अर्थात् - फिरभी ऐसा हो कि प्रथमतः लक्ष्मी जी भगवती सरस्वती की सहचरी बन जाँयें, नहीं तो लक्ष्मी, वाणी (सरस्वती) से अपने वैरभाव को छोड़ दें । यदि ऐसा भी सम्भव न हो सके, तो लक्ष्मीजी उन मूढ़लोगों के ऊपर कृपा करना, अनुराग करना अथवा प्रसन्न होना छोड़ दें, जिन मोहग्रस्त छिद्रान्वेषी जनों के आगे साधु किं वा सज्जन लोगों के गुण कालग्रस्त होने के समान समाप्त हो जातें हैं ।

इसी प्रकार भर्तृहरिनिर्वेद के अन्त में भरतवाक्य के रूप में ही योगी गोरक्षनाथ जी कहते हैं - 'तथापीदमस्तु -

साधोः सिद्ध्यतु कार्यमृध्यतु चिरं राजा प्रजारंजना -
ल्लक्ष्मीरक्षतपक्षपातमधुरा भूयादुदारात्मनाम् ।
त्वद्बोधोपगमागतादथ सुहृत्सार्थात् सदर्थार्पणै -
रस्मिंन् हारिहरी परीक्षितगुणा क्रीणातु गीर्गौरवम् ॥'

अर्थात् - फिर भी ऐसा हो कि साधुजनों का कार्य सिद्ध हों (पुरुषार्थ चतुष्टय की दिशा में सज्जनों के कार्य सफल हों), प्रजाजनों को प्रसन्न करने से राजा चिरकाल पर्यन्त समृद्ध बने रहें अर्थात् वे प्रजापालक ही नहीं प्रजारंजक भी बनें । देवी लक्ष्मी उदार जनों के लिए बिन बाधा सदा मनोहरिणी बनी रहें

(अर्थात् उन उदार आत्माओं के ऊपर अखण्ड पक्षपात कुशला बनी रहें)। तथा तुम्हारे (भर्तृहरि के) सच्चे ज्ञानप्राप्ति (निर्वेद) के समय उपस्थित मित्रों के सम्पर्क से प्राप्त स्वस्त्यर्थ रूपी सदर्थ के द्वारा इस परीक्षित गुणवाली हारिहरी वाणी (अर्थात् हरिहर की नाट्यकृति रूपी वाणी अथवा विष्णु एवं शिव सम्बन्धी कीर्त्तनरूपी वाणी) को खरीद लें (अर्थात् उस सच्चे धनसे हारिहरी वाणी स्वरूप गौरव को लेकर अपने अन्तःस्थ अहंभाव को दूर कर दें।)

यहाँ दोनों पद्यों के गूढ़ विषय को देखा जाय - जहाँ पर कवि 'लक्ष्मी' को श्रेष्ठ बताना चाहते हैं वहाँ तो वे श्लोक मे 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग करते हैं - 'लक्ष्मीरक्षतपक्षपातमधुरा भूयादुदारात्मनाम्' (भ.नि.नाटक); पर जहाँ उन्हें लक्ष्मी से सरस्वती को ही श्रेष्ठ बताना अभिष्ट है वहाँ वे लक्ष्मी के लिए 'लक्ष्मी' पद न देकर 'समुद्रात्मजा' - पद देते हैं - 'प्राक् प्राप्नोतु चिरादुगिरासहचरीमुद्रां समुद्रात्मजा .....' आदि (प्र.प.नाटक)। बात स्पष्ट है कि कवि की माता का नाम 'लक्ष्मी' है, अतः वे लक्ष्मी नाम को श्रेष्ठ तो बता सकते हैं, पर 'लक्ष्मी' नामकी कोई भी नारी किसी की सहचरी बने - यह उन्हें मञ्जूर नहीं। 'लक्ष्मी की ही सहचरी कोई दूसरी नारी क्यों न हो ? इतना ही नहीं, 'नोचेन्मुञ्चतु वैरमित्यपि न चेन्मूढ़ेषु मा मज्जतु' क्या 'लक्ष्मी' नाम धारिणी नारी झगरालू होती है, मुर्खों के ऊपर ही प्रसन्न होती है ? नहीं, यहाँ पर कवि को 'लक्ष्मी' पद देना जँचा ही नहीं, इसीलिए तो 'समुद्रात्मजा' पद दे दिया। क्यों कि 'लक्ष्मी' उनकी माता का नाम है, जिसे वे सर्वश्रेष्ठ देखना चाहते हैं।

७. और भी कई स्थलों पर कवि 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग असाधु कार्य या अर्थ के रूप में नहीं करता। चतुर्थ अंक के १२ वें १३ वें श्लोक के द्वारा लक्ष्मी की आलोचना हुई है, उनकी निन्दा की गई है। किंवा उन पद्यों में लक्ष्मीकी प्रशंसा नहीं हुई है। परन्तु उक्त पद्यों में कहीं भी 'लक्ष्मी' शब्द का नाम नहीं है, पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। एंक में 'पापीयसी श्रीरियम्' कहा गया है, तो दूसरे में 'एनामङ्कचरीं विधाय कमलां के नाम पारं गताः'।

१३ वें श्लोक के बाद देवतिलक के द्वारा 'राजलक्ष्मी' में 'लक्ष्मी' पद का व्यवहार अवश्य हुआ है, परन्तु प्रशंसा में, वहीं राजा लक्ष्मी की उपेक्षा करता है, परन्तु नाम नहीं लेता। इस सबसे यह प्रतीत होता है कि ये वे ही हरिहर हैं, जो लक्ष्मी -राघव के पुत्र हैं। अन्यथा अपनी माँ के नाम लक्ष्मी को इस तरह बचा-बचाकर नहीं रखता।.

८. दोनों नाटकों के अन्तिम पद्यों में निम्न शब्द समान रूपसे आये हुए हैं - अथ, गीः/गिरा, सुहृत्/सुहृदः, मधुर/मधुरा आदि। इन शब्दों का प्रयोग दोनों ही नाटकों में बहुत मनोहर रीत्या किया गया है। यह एक महज संयोग नहीं हो सकता। ठीक है कि जानबूझ कर भी नहीं दिये होंगे, परन्तु शैली की एकता, दृष्टिकोण की अभिन्नता और लेखकीय मनोवृत्ति तो एक है ही।

९. इसी प्रकार भर्तृहरिनिर्वेद की '... अस्मिन् हारिहरी परीक्षितगुणा'... वाली पंक्ति की हरिहर सुभाषित के 'सुभाषितानां संक्षेपः प्रेक्षावद्भिः परीक्ष्यताम्' से तुलना करें, जहाँ दोनों जगह परीक्षण की बात आयी है।

१०. प्रभावतीपरिणय के नाट्योपसंहार में आये- 'पुरस्तात्पैशुन्यं .... सुहृदः' इस श्लोक की छाया इनके भर्तृहरिनिर्वेद नाटक के नाट्योपसंहार के पद्य 'साधोः सिद्ध्ययतु .... गौरवम्' पर स्पष्ट पड़ा है। न केवल इसके एक अर्थ पर, अपि तु दोनों ही पक्षों के अर्थों पर। उपर्युक्त दोनों पद्यों का भाव यही है कि हरिहर कवि की यह रचना सहृदयों द्वारा अनुगृहीत होती रहे और इसके माध्यम से कवि गौरव को प्राप्त करे।

११. हरिहर की रचनाओं में हरि-हर सम्बन्धी वाणी खूब प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ यथा -

भर्तृहरिनिर्वेद में	प्रभावतीपरिणय में
'हरि' सम्बन्धी - ४/१४,५/९	'हरि' सम्बन्धी -१/४,१/६
'हर' सम्बन्धी - १/१, ५/३०	'हर' सम्बन्धी -१/१,१/२

१२. अमंगल शान्ति का प्रसंग दोनों नाटकों में आया है -

क- भर्तृहरिनिर्वेद में शान्ति पाठकों से शान्ति करायी जाती है ।

ख- प्रभावतीप० में शान्ति करने का विचार करते ही वर्षा आ जाती है ।

क- भर्तृहरिनिर्वेद में नेत्र कम्पन से राजा सम्भावित अशुभ की कल्पना करता है ।

ख- प्रभा. परिणय में प्रभावती को अपने पिता भी मृत्यु का स्वप्न होता है ।

१४. बलियासवंशीय हरिहर को उनके आश्रयदाता देवसिंह बहुत मानते थे, इस बात का प्रमाण हरिहर के पौत्र कोलेश्वर प्रसिद्ध मुरारिकृत 'शुद्धिदीपिका' की अन्तिम पुष्पिका ही है, जिसमें वे लिखते हैं -

'विद्वानसौ हरिहरं समभूत पुत्रं विद्वांसमुत्तमगुणं जगति प्रसिद्धम् ।
श्रीदेवसिंहनृपतेः स बभूव राज्ये धर्माधिकारपदलब्धनृपासनार्धः ।
निष्ठाकनिष्ठतरशिष्टमुनीन्द्रवर्गो विद्याविनिर्जितमहीतलवर्त्तिविज्ञः ।
श्रीमानयं हरिहरोऽखिलविप्रपूज्यः सिंहासनार्धचरणो हरिणा समानः ॥'

यदि भर्तृहरिनिर्वेद नाटक इस हरिहर की कृति होती, तो निश्चय ही लेखक इसका मंचन राजदरवार में करता, न कि भैरवेश्वर की यात्रा में । साथ ही अपने नाटक में कहीं न कहीं कवि अपने आश्रयदाता का उल्लेख अथवा वर्णन भी अवश्य करता; जब कि इसमें किसी भी राजा का उल्लेख तक नहीं है । ऐसा कतई सम्भव नहीं है कि किसी दरवारी कवि द्वारा कोई रचना की जाय और उसमें से आश्रयदाता ही गायब हों । वह भी ऐसी स्थिति में जब कि कवि को आश्रयदाता का अपार स्नेह प्राप्त हो ।

१५. कर्महावंशीय हरिहर किसी राजा या सामन्त के दरवारी नहीं थे, अतः इनके द्वारा भैरवेश्वर की यात्रा में नाटक का मंचन करना और अपनी किसी भी रचना में किसी राजा का उल्लेख न करना सर्वथा सम्भव है । साथ ही

हमारे हरिहर का तो यहाँ तक मानना हैं कि विद्वान् मनुष्यों के लिए राजसेवा तलवार की धार चाटने, सिंहका आलिंगन करने तथा सर्प के मुख को चूमने के समान है - 'राजसेवा मनुष्याणामसिधारावलेहनम् ।

पंचानन परिष्वङ्गो व्यालीवदनचुम्बनम् ॥'

१६. लेखक के नाम का दो स्वरूप पाया जाता है - मैथिल परम्परानुसार 'हरिहर झा' और संस्कृत परम्परानुसार (किं वा संस्कृतरूपान्तर) 'हरिहरोपाध्याय' । एक में पांच अक्षर हैं तो दूसरे में सात । इसी प्रकार इन्होंने एक नाटक में पाँच अंक रक्खा है तो दूसरे में सात ।

१७. अथवा यह भी सम्भव है कि अपने अन्य ग्रन्थों में कमोवेश परिचय देने वाले हरिहर अपने वैराग्य परक इस भर्तृहरिनिर्वेद में जानबूझ कर ही अपना परिचय न दिये हों । क्यों कि वैराग्य में संसार से या फिर सांसारिक जीवन परिचय से क्या लेना ? वह तो इस सबसे सर्वथा ऊपर उठ जाता है ।

भर्तृहरिनिर्वेदकार का परिचय

हरिहर का जन्म

महामहोपाध्याय हरिहर उपाध्याय का जन्म मिथिला के करमहा बेहट मूलक वत्सगोत्रीय म.म. राघव उपाध्याय के घर, उनकी दूसरी पत्नी लक्ष्मीदेवी के पुत्र के रूप में हुआ था । ये अपने दो सोदरभाइयों में ज्येष्ठ थे और इनके अनुज का नाम 'नीलकण्ठ' था, जो स्वयं ज्योतिर्विद् और कवि थे । म.म. परमेश्वर झा लिखते हैं कि 'कर्महे बेहटमूलक हृषीकेश झा के पौत्र राघव झा के पुत्र (लक्ष्मीदेवी से उत्पन्न) महामहोपाध्याय हरिहर, ज्योतिर्विद् नीलकण्ठ दो भाई थे[५४] '' । म.म. मुकुन्द झा वक्शी ने भी कहा है कि 'निर्माता चास्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रतिभो द्वैतनिर्णया (?) दिधर्मशास्त्रनिबन्धग्रन्थानामनेकेषां साहित्यग्रन्थानां च विरचयिता झोपाख्यो महामहोपाध्यायो हरिहरशर्म्मा करमहासं हृषीकेशर्मतनुजन्मनो राघवशर्मणस्तुनुजन्मा

---

५४. मि.त.वि., पटना,- १९७७, पृ. १७२

श्रीकण्ठकवेश्चाग्रजन्माऽग्रजन्माऽग्रजन्मना- म्मूर्द्धन्योऽधिमिथिलं समभूदिति[५५]'। इसी प्रकार कविशेखर पं. बदरीनाथ झा का मानना है कि 'आपके करमहयमूलक वत्सगोत्रीय पं. हृषीकेशोपाध्याय पितामह, पं. राघवोपाध्याय पिता, पं. नीलकण्ठोपाध्याय अनुज और पं. मदन उपाध्याय (?) चचेरे भाई थे[५६]'।

इन उद्धरणों से जहाँ हरिहर उपाध्याय का करमहावंशीय हृषीकेश का पौत्र और राघव झा का पुत्र होना सिद्ध होता है, वहीं इनके अनुज नीलकण्ठ का 'श्रीकण्ठ' उपनाम भी प्राप्त होता है। और तो और, स्वयं हरिहर ने भी अपना यही परिचय प्रस्तुत किया है -

'प्रादुर्भूय पुरोगिरेरिव हृषीकेशात्कृती राघवो
यस्तिग्मद्युतिवद्दिवा करमहाकाशे दिदीपे द्विजः।
या लक्ष्मीरिव मैथिलादुदभवद्विद्याऽवदातात्मनः
ताभ्यामुद्भवमापतुः कुशलवप्रख्यातगोत्रौ सुतौ॥
एषा तयोः प्रथमजेन निजानुजात -
श्रीनीलकण्ठकविकण्ठविभूषणाय।
गोविन्दसूनुगुणगुम्फनिषक्तसूक्ति-
र्मुक्तावली हरिहरेण चिरेण चीर्णा[५७]।'

हरिहर का मात्रिक

मिथिला के परम ऐतिहासिक दस्तावेज 'पंजीप्रबन्ध' से भी हरिहर का यही परिचय सिद्ध होता है। साथ ही उससे यह भी ज्ञात होता है कि वे सोदरपुर धओलि मूलक शाण्डिल्य गोत्रीय विधुपति मिश्र के पुत्र म.म. रामेश्वरमिश्र के दौहित्र थे। प्रभावती परिणय में इन्होंने लिखा भी है -

'नटः - श्रीरामेश्वरमीश्वरी कविगिरामाराधयन्ती चिराद् -
या विद्याभिरुवास लास्यलहरी तस्या यदि स्यादियम्॥

---

५५. भ.नि.ना. भूमिका पृ. 1
५६. मिथिलांक, दरभंगा, पृ. ५७
५७. प्र. प. नाटक पृ. ४-५, मुक्तावलीव्या. पृ.२ (पाण्डु.)

सूत्रधारः - एवमेतत्, परन्तु तत्पराधीनतयैव तद्दौहित्रमनुगृहीतवत्याः, यावत् कवयितारं विशिष्य व्याहरामि[५८] ।'

परन्तु कुछ लोग इसी प्रभावती परिणय की प्रस्तावना को उद्धृत कर यह कहने का प्रयास करते हैं कि हरिहर के मातामह रामेश्वरमिश्र म.म. शंकरमिश्र के पौत्र एवं म.म. रुचिपति मिश्र के पुत्र थे । परन्तु यह मत नितान्त भ्रामक है, क्यों कि उक्त प्रस्तावना में ये नाम तो आये अवश्य हैं, पर रामेश्वरमिश्र के परिचय के क्रम में नहीं, अपि तु मिथिला के महाकवियों की गणना क्रम में । उदाहरणार्थ यथा -

'नटः - .... तदिमां कतरं प्रबन्धं प्रणीय प्रीणयामीति चिन्तयन्नेव शीतांशुवंशावतंसं भगवन्तं वासुदेवमाख्यातवताऽनुस्मारितोऽस्मि भावेन यत्किल श्रीवासुदेवात्मजन्मनः कुमारप्रद्युम्नस्य संचरितसन्दर्भगर्भितं प्रभावतीपरिणयं नाम नाटकं परन्तु कुतस्त्यमेतदिति स्मारयितुमवशिष्यते ।

सूत्र.- मारिष, मैथिल एवाऽयं प्रबन्धः ।

नटः - (सवितर्कम्) भाव, बहवो हि मैथिला महाकवयः, तेषु -'शंके शंकरमिश्रविश्रुतकृतेर्वाचामयं विभ्रमः' ।

सूत्र.- नैवम्, प्राचीना हि ते जगद्गुरवः ।

नटः - प्रायः प्रादुरभूदियं रुचिपतेर्वाणीति जानीमहे ।

सूत्र.- नैतदपि, ततोऽपि नूतनोऽयम् ।

नटः - श्रीरामेश्वरमीश्वरी ....' ।

अतएव रामेश्वरमिश्र को शंकरमिश्र का पौत्र एवं रुचिपति का पुत्र मानना कदापि उचित नहीं है । हरिहर का विवाह हुआ था सोदरपुर कन्हौली मूलक महोपाध्याय पं. भवानीनाथ झा की पुत्री 'बछनादेवी' से, जिससे इन्हें एक पुत्र और एक पुत्री हुए[५९] । पुत्री का विवाह हुआ था मड़रय सिहौल मूलक वैदिक विश्वम्भर झा के पौत्र पण्डित प्रवर बलदेव झा से[६०] । पंजीप्रबन्ध में

५८. प्र. प. पृ. ४ (चौखम्बा १९६९)

५९. हरि. सुभा. भू.पृ. १४, पंजीप्रबन्ध (कर्महा)

६०. वही पृ. १६,पं. प्र, कर्महा

श्रीकण्ठकवेश्चाग्रजन्माऽग्रजन्माऽग्रजन्मना- म्मूर्द्धन्योऽधिमिथिलं समभूदिति[५५]'। इसी प्रकार कविशेखर पं. बदरीनाथ झा का मानना है कि 'आपके करमहयमूलक वत्सगोत्रीय पं. हृषीकेशोपाध्याय पितामह, पं. राघवोपाध्याय पिता, पं. नीलकण्ठोपाध्याय अनुज और पं. मदन उपाध्याय (?) चचेरे भाई थे[५६]'।

इन उद्धरणों से जहाँ हरिहर उपाध्याय का करमहावंशीय हृषीकेश का पौत्र और राघव झा का पुत्र होना सिद्ध होता है, वहीं इनके अनुज नीलकण्ठ का 'श्रीकण्ठ' उपनाम भी प्राप्त होता है। और तो और, स्वयं हरिहर ने भी अपना यही परिचय प्रस्तुत किया है -

'प्रादुर्भूय पुरोगिरेरिव हृषीकेशात्कृती राघवो
यस्तिग्मद्युतिवद्दिवा करमहाकाशे दिदीपे द्विजः।
या लक्ष्मीरिव मैथिलादुदभवद्विद्याऽवदातात्मनः
ताभ्यामुद्भवमापतुः कुशलवप्रख्यातगोत्रौ सुतौ॥
एषा तयोः प्रथमजेन निजानुजात -
श्रीनीलकण्ठकविकण्ठविभूषणाय।
गोविन्दसूनुगुणगुम्फनिषक्तसूक्ति-
र्मुक्तावली हरिहरेण चिरेण चीर्णा[५७]।'

हरिहर का मात्रिक

मिथिला के परम ऐतिहासिक दस्तावेज 'पंजीप्रबन्ध' से भी हरिहर का यही परिचय सिद्ध होता है। साथ ही उससे यह भी ज्ञात होता है कि वे सोदरपुर धओलि मूलक शाण्डिल्य गोत्रीय विधुपति मिश्र के पुत्र म.म. रामेश्वरमिश्र के द्रौहित्र थे। प्रभावती परिणय में इन्होंने लिखा भी है -

'नटः - श्रीरामेश्वरमीश्वरी कविगिरामाराधयन्ती चिराद् -
या विद्याभिरुवास लास्यलहरी तस्या यदि स्यादियम्॥

---

५५. भ.नि.ना. भूमिका पृ. 1
५६. मिथिलांक, दरभंगा, पृ. ५७
५७. प्र. प. नाटक पृ. ४-५, मुक्तावलीव्या. पृ. २ (पाण्डु.)

सूत्रधार: - एवमेतत्, परन्तु तत्पराधीनतयैव तद्दौहित्रमनुगृहीतवत्याः, यावत् कवयितारं विशिष्य व्याहरामि[५८]।'

परन्तु कुछ लोग इसी प्रभावती परिणय की प्रस्तावना को उद्धृत कर यह कहने का प्रयास करते हैं कि हरिहर के मातामह रामेश्वरमिश्र म.म. शंकरमिश्र के पौत्र एवं म.म. रुचिपति मिश्र के पुत्र थे। परन्तु यह मत नितान्त भ्रामक है, क्यों कि उक्त प्रस्तावना में ये नाम तो आये अवश्य हैं, पर रामेश्वरमिश्र के परिचय के क्रम में नहीं, अपि तु मिथिला के महाकवियों की गणना क्रम में। उदाहरणार्थ यथा -

'**नटः** - .... तदिमां कतरं प्रबन्धं प्रणीय प्रीणयामीति चिन्तयन्नेव शीतांशुवंशावतंसं भगवन्तं वासुदेवमाख्यातवताऽनुस्मारितोऽस्मि भावेन यत्किल श्रीवासुदेवात्मजन्मनः कुमारप्रद्युम्नस्य संचरितसन्दर्भगर्भितं प्रभावतीपरिणयं नाम नाटकं परन्तु कुतस्त्यमेतदिति स्मारयितुमवशिष्यते।

सूत्र. - मारिष, मैथिल एवाऽयं प्रबन्धः।

नटः - (सवितर्कम्) भाव, बहवो हि मैथिला महाकवयः, तेषु -'शंके शंकरमिश्रविश्रुतकृतेर्वाचामयं विभ्रमः'।

सूत्र. - नैवम्, प्राचीना हि ते जगद्गुरवः।

नटः - प्रायः प्रादुरभूदियं रुचिपतेर्वाणीति जानीमहे।

सूत्र. - नैतदपि, ततोऽपि नूतनोऽयम्।

नटः - श्रीरामेश्वरमीश्वरी ....'।

अतएव रामेश्वरमिश्र को शंकरमिश्र का पौत्र एवं रुचिपति का पुत्र मानना कदापि उचित नहीं है। हरिहर का विवाह हुआ था सोदरपुर कन्हौली मूलक महोपाध्याय पं. भवानीनाथ झा की पुत्री 'बछनादेवी' से, जिससे इन्हें एक पुत्र और एक पुत्री हुए[५९]। पुत्री का विवाह हुआ था मड़रय सिहौल मूलक वैदिक विश्वम्भर झा के पौत्र पण्डित प्रवर बलदेव झा से[६०]। पंजीप्रबन्ध में

---

५८. प्र. प. पृ. ४ (चौखम्बा १९६९)

५९. हरि. सुभा. भू.पृ. १४, पंजीप्रबन्ध (कर्महा)

६०. वही पृ. १६, पं. प्र, कर्महा

हमारे चरित नायक के पुत्र कृष्णानन्द झा को 'महोपाध्याय' कहा गया है, जिससे उनके पाण्डित्य का पता चलता है। कृष्णानन्द के पुत्र धर्मानन्द एक अच्छे विद्वान् ही नहीं वल्कि संस्कृत और मैथिली के कवि भी थे। परन्तु दुर्भाग्य है कि इनके एकमात्र पुत्र, अर्थात् हरिहर के एकमात्र प्रपौत्र युवा पण्डित रुद्रदत्त झा की असामयिक मृत्यु के कारण इनका वंश आगे नहीं चल सका[६१]। आज इनके गाँव में जो इस वंश परम्परा के लोग हैं वे सब हरिहर के वैमात्रेय म.म. वंशीधर उपाध्याय की सन्तान हैं। वैद्यकशास्त्र के निष्णात पण्डित लोकनाथ झा (उपनाम सीताराम झा वैद्य) और पण्डित श्री काशीनाथ झा - दोनों वंशीधर के अतिवृद्ध प्रपौत्र के ही पौत्र हैं। अर्थात् वंशीधर की सातवीं पीढ़ी के वंशज।

हरिहर का वंश -

मिथिला के पंजीप्रबन्ध, हरिहर की रचना एवं विश्रुत लोकपरम्परा के आधार पर यह निश्चित है कि हरिहर मिथिला के 'करमहा' वंश की विभूति थे। इनका यह वंश मिथिला के अत्युच्च 'तेरह घरिया' श्रोत्रिय कुलों में से एक है। 'करमहा' वंश का अर्थ है ब्राह्मणों का वह वंश, जिसका मूल निवास स्थान 'करमहा' ग्राम रहा हो। यह करमहा ग्राम वस्तुतः कहाँ है, यह तो ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता, पर यह नेपाल के अति प्राचीन ग्रामों में आता है - ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है। साथ ही 'नह्यमूला प्रसिद्धिः' के आधार पर इसे मानने में भी कोई आपत्ति नहीं दिखती। इस मूल ग्राम को छोड़ जो लोग बाद में किसी दूसरे ग्राम में आकर बस गये, उसे उस ग्राम का वासी और 'करमहा' का मूल निवासी माना गया। यही इनका 'मूल' कहलाया, या फिर 'वंश'। जैसे करमहा का वासी यदि 'बेहट' नामक ग्राम में आकर बस गया तो उसके वंशजों का मूल 'करमहा बेहट' हो गया। यदि 'करमहा' छोड़कर कोई 'झंझारपुर' या 'तरौनी' आ गया तो उसके वंशजों का मूल 'करमहा झंझारपुर'

---

६१. वही

या 'करमहा तरौनी' हो गया। इस प्रकार करमहा, सोदरपुर आदि वंशों की कई एक शाखायें होती चली गईं।

करमहावंश के बीजी पुरुष तो हैं म.म. वंशधर उपाध्याय; हरिकेश, हरिब्रह्म और महोधूर्त्तराज गोनू झा के पिता; परन्तु करमहा बेहट या करमहे बेहट या करमहय बेहट शाखा का प्रारम्भ हुआ है - म.म. श्रीवत्स उपाध्याय से। इन्होंने ही करमहा ग्राम छोड़कर बेहट आ बसा था, जो झंझारपुर के पास स्थित है। श्रीवत्स थे म.म. गंगेश उपाध्याय के पुत्र और गिरीश्वर के पौत्र। स्वयं श्रीवत्स तो थे करमहावंशीय और बेहट शाखा के जनक, अतः इनके पुत्र 'दिवाकर' (बाछे और राजवर्द्धन उपनामक) से ही 'करमहा बेहट वंशीय' कहलाने लगे। हरिहर ने कहा भी है - 'यस्तिग्मद्युतिवद् दिवाकर महाकाशे दिदीपे द्विजः'। यहाँ का श्लेष नितान्त श्लाघनीय है कि 'दिवाकर महाकाशे' अथवा 'दिवा करमहाकाशे'। अस्तु।

हरिहर का वंश सभी दृष्टियों से अत्युच्च था। सत्कर्मों के आधार पर जब महाराज हरिसिंहदेव के समय जाति विभाजन हो रहा था तब भी इसका सत्कर्म, सदाचार इस वंश को अवदात्त श्रोत्रिय की कोटि में ही रखबाया था, जिसमें पूरे मिथिला में मात्र 'तेरह परिवार' ही आ सके थे। जो जितने तपे-तपाये, ठोस एवं उच्च होते हैं, उनकी संख्या उतनी ही कम होती है। इस दृष्टि से 'तेरह घर या परिवार' वस्तुतः सामाजिक स्तर पर बहुत ही शीर्ष सिंहासन पर आसीन था। यही कारण था इन्हें 'श्रोत्रिय' बनाने का। 'करमहा बेहट' यानि श्रोत्रियब्राह्मणों का मूल।

वैदुष्य के क्षेत्र में भी हरिहर का वंश किसी से न्यून नहीं था। वल्कि उल्लेखनीय तीन-चार वंशों में भी एक स्थान इसका ही होगा। आठ-दश पीढ़ियों तक अविच्छिन्न महामहोपाध्याय का होना क्या साधारण बात[६२] है ? छः-सात पुत्र हों और सभी के सभी महामहोपाध्याय, अपने-अपने शास्त्रों में अद्वितीय पाण्डित्य - क्या मामूली बात है ? - -

---

६२. देखे पंजीप्रबन्ध

करमहा वंश के बीजी पुरुष हैं म.म. वंशधर, जिनके तीन पुत्रों में प्रतिभा के धनी और प्रकाण्ड पण्डित 'गोनू झा', सर्वाधिक ख्याति लब्ध हुए हैं, पर उनकी ख्याति वैदुष्य की अपेक्षा चातुर्य में अधिक है। ये तेनालीराम और बीरवल के सदृश ही माने जाते हैं। पर इनके दोनों बड़े भाई म.म. हरिब्रह्म और म.म. हरिकेश संस्कृत के निविष्ट विद्वान् थे। इनमें हरिब्रह्म तो अवहट्ट भाषा के इतने प्रसिद्ध कवि हुए कि उनकी चर्च्चा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी सादर की है[६३]।

म.म. हरिकेश के ही पौत्र थे गिरीश्वर, जिनके पुत्र गंगेश उपनामक गंगेश्वर उपाध्याय नव्यन्याय के जनक के रूप में विश्वप्रसिद्ध हैं[६४]। म.म. माणिक, जो गंगेश के प्रपौत्र और बेहट शाखा के संस्थापक श्रीवत्स उपाध्याय के पौत्र हैं - भैरवानन्द और राघवानन्द नामक नाटकों के रचयिता हैं[६५]। अलंकारशतक, रामगीतगोविन्द आदि के कर्त्ता म.म. जयदेव इन्हीं माणिक के पुत्र थे[६६], जिनके (जयदेव के) सोदर बड़े भाई हृषीकेश के पौत्र थे हमारे नाटककार हरिहर। इनके पिता राघव झा हेमाद्रि भारती, छन्दः कल्पतरु (?) वाग्भट्टालंकारावचूरि आदि कई ग्रन्थों के कर्त्ता हैं[६७]। राघव झा के अन्य पुत्र थे वंशीधर, बाबू, नीलकण्ठ आदि; सब के सब ग्रन्थकार, व्याख्याकार, गीतकार और नाटककार। नीलकण्ठ की जातक पद्धति और मध्यमग्रहसिद्धि अधिक प्रसिद्ध है[६८]।

साहित्यालंकार के रचयिता भवानीदत्त, रसकौस्तुभ आदि के कर्त्ता वेणीदत्त, मीमांसारसपल्वलकार इन्द्रपति, धर्माधर्मप्रबोधिनीकार प्रेमनिधि (?), व्युत्पत्तिवादव्याख्याकार झलहन आदि अनेकों सरस्वतीपुत्रों

---

६३. हिन्दी काव्यधारा, इलाहावाद

६४. पं. प्रबन्ध, सार. सुष. पृ. १९६, बालकथा (उ.प्र.सं.सं) पृ. ६२

६५. सा. कुसु. पृ. ४२४, ए. आइ. ओ. सी. ४०/७६, ४१/६४७

६६. भारतो. ८९/११, गैर्वाणी- ४०/७ हैदरावाद

६७. अ.समु. भू. पृ. ३०, ए.आइ.ओ.सी. ४०/५७२ ६८. वही पृ. ३१

से भरा पड़ा है - हरिहर का यह करमहावंश, जिसमें हाल ही में दिवंगत हुए म.म. दार्शनिकसार्वभौम पं. कृष्णमाधव झा, अनेक ग्रन्थों के रचयिता हुए हैं।

देवी लक्ष्मी का भी इस वंश पर वरदहस्त रहा है। कौन कह सकता है कि देवी लक्ष्मी और सरस्वती दोनों एक साथ नहीं चल सकतीं ? खास करके हरिहर के वंश को देखकर तो कतई नहीं। महाकवि हरिहर के प्रपितामह म.म. माणिक उपाध्याय की पुत्री 'सोरमा' मिथिलानरेश राजा कंसनारायणलक्ष्मीनाथ की पत्नी थीं[६९], तो हरिहर के वैमात्रेय बड़े भाई बाबू झा की पुत्री का विवाह हुआ था महाराज शुभंकर ठाकुर के पुत्र कुमार पुरुषोत्तम ठाकुर से[७०]। जब कि खण्डवला नरेश राजा राघव सिंह का विवाह हुआ था षड्दर्शनाचार्य पं. जगन्नाथ झा की कन्या से, जिनकी दूसरी पुत्री थी महाराज मिथिलेश माधव सिंह की माता[७१]। १९ वीं शताब्दी में स्थित रहे महाराज महेश्वर सिंह की पुत्री तो यहाँ व्याही ही गई थी, वल्कि महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह की बड़ी (एकमात्र) बहन की शादी भी हरिहर के ही वंश में हुई थी[७२]। इस तरह विभिन्न राज परिवारों से अनेकों सम्बन्ध होने के कारण यहाँ किसी भी परिवार में लक्ष्मी की अकृपा नहीं रही। यहाँ तक कि कुछ समयों के लिए सौरिया राज की गद्दी पर बैठने वाले, अंग्रेज सरकार से 'राजा' और 'सिंह' की उपाधि प्राप्त करने वाले राजा विजयगोविन्द सिंह भी, यहीं के पं. भैया झा के पुत्र थे[७३]।

हरिहर का समय -

म.म.पं.परमेश्वर झा महाकवि हरिहर का समय १८ वीं श. का पूर्वार्द्ध मानते हैं। वे लिखते हैं कि मिथिलेश राघवसिंह (१७०१-१७३९ ई.) के

---

६९. सा. कुसु. पृ. ४२४, मि.मि. ५/१/८६, ए.आई.ओ.सी. ४१/६४८
७०. हरि.सुभा. भू. पृ. १३-१५, पं. प्र. (कर्महा)
७१. वही दोनों ७२. प्र:प: भू. पृ. ३३
७३. ए.आइ.ओ.सी. ४०/५७२, मि. मि. १३.३.८३

समय में म.म. गोकुलनाथ उपाध्याय हुए हैं और लगभग उसी समय में करमहावंशीय म.म. हरिहर ने भर्तृहरिनिर्वेद नाटक की रचना की[७४]। कविशेखर पं. बदरीनाथ झा ने भी इनका करीब-करीब यही समय बताया है। अर्थात् १८श. के पण्डितों मे म.म. गोकुलनाथोपाध्याय के बाद उन्होंने उनको स्थान दिया है[७५]। आश्चर्य तो यह है कि इसी अट्ठारहवीं शताब्दी में कविशेखर पण्डित झा ने कविवर वेणीदत्त को भी रक्खा है[७६]। जब कि वेणीदत्त, हरिहर के वैमात्रेय बड़े भाई वंशीधर उपाख्य बनाई झा के प्रंपौत्र थे। इस एक ही शताब्दी में इन चार पीढ़ियों (वंशीधर अथवा हरिहर - जयकृष्ण - जगन्नाथ - वेणीदत्त) का होना कुछ जँचता नहीं है।

जहाँ डा. रामजी उपाध्याय ने इन्हें १४ वीं १५वीं श. के मध्य स्थित माना है[७७], वहीं डा. लोकमणि दाहाल ने इनका समय पंचदशशतक विक्रमाब्द का उत्तरार्द्ध कहा है[७८]। डा. वाचस्पति गैरोला के मत में इनका समय १५ वीं शताब्दी बनता[७९] है और आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार १७ वीं शताब्दी[८०]। इस तरह हम यह देखते हैं कि म.म. हरिहर उपाध्याय का समय विद्वानों ने १४ वीं शताब्दी से लेकर १८ वीं शताब्दी पर्यन्त निर्धारित किया है। अतएव इनके एक समुचित समय की मांग को कतई नकारा नहीं जा सकता।

हरिहर सुभाषित की भूमिका में प्रदत्त प्रो. रमानाथ झा के मत को स्वीकार करते हुए प्रभावती परिणय की भूमिका में प. रामचन्द्र मिश्र ने स्पष्ट कहा है - 'प्रो. रमानाथ झा ने पंजीप्रबन्ध का विवरण प्रस्तुत करके सिद्ध कर

---

७४. मि.त.वि. पृ. १७१-१७३ ७५. मिथिलांक पृ. ५७
७६. वही ७७. म. का. सं. ना., सागर वि. वि. १९७४ पृ. ४०४
७८. सं. सा. इ. (लो. दाहाल) पृ ४५०
७९. सं. सा. इ. (वा. गैरोला) पृ. ८१४ चौखम्बा १९७५
८०. सं. सा. इ. (ब. उपाध्याय) पृ. ५९६, वाराणसी १९८५

दिया है कि हरिहर का जन्म १५९५ ई. के लगभग में हुआ था। यद्यपि इस कथन का आधार बहुत प्रामाणिक है, फिर भी इसमें दश-पाँच वर्ष का हेरफेर हो सकता है, क्यों कि कुछ बातें अटकलों पर आधारित की गई हैं और उनमें परिवर्त्तन सम्भव रहता ही है'[८१] ।मुझे भी प्रो०.झा का मत समीचींन लगता है, क्यों कि मिथिला नरेश राजा कंसनारायण लक्ष्मीनाथ का समय इतिहासकारों ने १५१० ई. से १५२६ ई. तक स्वीकार किया है[८२] । जब कि ये राजा साहब हमारे हरिहर के प्रपितामह म.म. माणिक उपाध्याय के दामाद थे। अतः इनके पिता राघव झा के फूफा होने के कारण राजा कंसनारायण इनसे न्यूनतम ७०सत्तरवर्ष बड़े अवश्य रहे होंगे। साथ ही मिथिलानरेश म.म. शुभंकर ठाकुर (१५८३ ई.) के पुत्र म.म. पुरुषोत्तम ठाकुर का समय १६२१ ई. निश्चित है; जो कि म.म. हरिहर के वैमात्रेय बड़े भाई बाबू झा के जामाता थे। अत एव हरिहर पुरुषोत्तमठाकुर से न्यूनातिन्यून दश वर्ष बड़े अवश्य रहे होंगे।

हरिहर के अनुज नीलकण्ठ के पौत्र इन्द्रपति (जिन्होंने बाल्यावस्था में हरिहर से धर्मशास्त्र पढ़ा था) मिथिलेश विष्णुसिंह के सभासद थे और राजा विष्णुसिंह का समय १७३९-१७४४ ई. कहा जाता है। अतः हरिहर का समय १८ वीं श. से पहले ही बनता है। हरिहर के सौतेले बड़े भाई वंशीधर के प्रपौत्र थे कविवेणीदत्त, जो महाराज माधवसिंह के मामा थे और माधवसिंह का समय इतिहासकारों ने १७७५ - १८०७ ई. निर्द्धारित किया है। अतः हरिहर इनसे कमसे कम १५० या १२५ वर्ष पहले तो अवश्य ही रहे होंगे। दूसरी बात, राजा राघव सिंह (१७०१-१७३९) के श्वसुर म.म. जगन्नाथ झा हरिहर के बड़े भाई वंशीधर के पौत्र थे, अतः हरिहर का समय राघव सिंह से न्यूनातिन्यून ७०-७५ वर्ष पहले अवश्य ही रहा होगा।

हरिहर देवनाथ ठाकुर की अधिकरण कौमुदी के व्याख्याता हैं और देवनाथ ठाकुर, काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठाकुर के पुत्र थे, जिनका समय

---

८१. प्र. प. भू. पृ. ३१ ८२. आर्यावर्त्त, १६.८.८७, पटना, रामजी महथा

१५वीं - १६ वीं श. का मध्य कहा जाता है। अतः हरिहर का समय इससे ऊपर नहीं जा सकता।

इस प्रकार हरिहर का समय १५९५ ई. या उसके आस-पास मानना अनुचित नहीं होगा। अतः हम यह कह सकते हैं कि म.म. हरिहर १६वीं १७वीं शताब्दी के मध्य अवश्य ही स्थित रहे होंगे।

हरिहर का सम्प्रदाय -

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हरिहर का सम्प्रदाय शैव था, क्यों कि इन्होंने अपनी सारी रचनाओं में शिवपरक स्तुति ही की है। उदाहरणार्थ यथा -

'देव्या मानापनोदप्रणतशिवशिरश्शीतधाम्ना नखेन्दौ
सम्पूर्णे सैहिकेयाकृतिकुटिलजटामण्डलार्धावरुद्धे।
गीर्वाणाश्चन्द्रपर्वभ्रमचकितहृदोन्यंचदेतत् किरीटो -
त्संगाद् गंगाप्रवाहे प्रवहति विहितस्नानपुण्याः पुनन्तु॥

अपि च -

ध्यानावधानपरिलंघनजागरूक-
रोषानलोन्मथितमन्मथविग्रहस्य।
सद्यः प्रवृद्धकरुणापरिणाहदीर्घ
देवस्य पातु परिदेवितमिन्दुमौलेः॥"

(प्रभावतीपरिणय)

और भी जैसे -

'शैत्यायायादृत्य मूर्ध्ना रजनिकरकलाजाह्नवी चोपनीता
यत्रांगोत्तापभीता पदमपि न जटाजूटतोऽधः प्रपेदे।
प्राणान् हातुं निपीतं विषमपि हृदयं नाविशद् दाहभीत्या
शम्भोः सत्या वियोगं तमपि शमितवत्यस्तु शान्तिः शिवाय॥'

(भर्त्तृहरिनिर्वेद)

इसी प्रकार देवनाथ ठाकुर कृत अधिकरणकौमुदी की व्याख्या - 'मुक्तावली' में हरिहर ने उक्त दोनों ग्रन्थों के एक एक पद्य को लेकर मंगल किया है -

'शैत्यायादृत्य मूर्ध्ना.....शान्तिः शिवाय ॥' तथा -

'ध्यानावधानपरिलंघन.....इन्दुमौलेः ॥'

हरिहर का चरित्र एवं स्वभाव -

इनका चरित्र बड़ा निर्मल और स्वाभिमानपूर्ण था। शान्त प्रकृति के होते हुए भी शृंगारिक भावनाओं से दूर नहीं थे। उपदेश करने का इनका स्वभाव बड़ा ही मनोरम था। तभी तो इन्होंने एक तरफ जहाँ शान्तरस -प्रधान नाटक की रचना की, वहीं दूसरी ओर शृंगार रस प्रधान नाटक का निर्माण भी किया। इतना ही नहीं सुभाषितावली की रचना कर हरिहर ने अपने अन्तःस्थ स्वभाव और विचार को ही प्रदर्शित किया है।

स्वाभिमानी इतने कि कर्त्तव्य से विमुख भी नहीं होंगे और किसी की कभी स्तुति भी नहीं करेंगे, सिबाय भगवती और भगवान् की। राजपरिवार से गहन सम्बन्ध होने पर भी वहाँ निरर्थक आने-जाने की प्रवृत्ति इनकी नहीं रही। डॉ. रामजी उपाध्याय सही ही लिखते हैं कि - 'ऐसा लगता है कि हरिहर किसी राजा के आश्रय के चक्कर में नहीं पड़े, नहीं तो इस नाटक (भर्तृहरिनिर्वेद) का प्रथम अभिनय किसी राजकीय नाट्यशाला में होता, न कि भैरवेश्वर की यात्रा में[८३]'। वस्तुतः हरिहर का कोई भी नाटक राजकीय नाट्यशाला में अभिनीत नहीं हुआ है और न ही इन्होंने अपनी किसी भी रचना में किसी राजा की स्तुति की है, वल्कि उनका नाम तक भी नहीं लिया है।

हरिहर का पाण्डित्य -

हरिहर के पिता राघवोपाध्याय अपने समय के मूर्द्धन्य धर्मशास्त्री थे। वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने सम्पूर्ण 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' की व्याख्या की थी,

---

८३. म. का. सं. ना. पृ. ४०४

जिसका नाम 'भारती' हैं[८४]। इतना ही नहीं इसके अतिरिक्त भी उन्होंने कई-एक ग्रन्थों की रचना की थी। अतएव उनके पुत्र हरिहर का धर्मशास्त्र में भी प्रवेश होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सम्भव है वे धर्मशास्त्र की शिक्षा अपने पिता राघव से ही प्राप्त किये हों। पर वे मूलतः दार्शनिक थे, जैसा कि उनकी 'मुक्तावली' व्याख्या से विदित होता है। हरिहर की व्याकरण और साहित्य में भी काफी अच्छी गति थी, जिसका आधार उनकी रचनायें हैं। आचार्य रामचन्द्र मिश्र भी लिखते हैं कि - 'हरिहर ने न्यायादि दर्शन के साथ काव्यकला सीखी थी। उनके मातामह भी कविता के रसिक थे। स्वयं हरिहर ने भी कहा है - 'श्रीरामेश्वरमीश्वरी कविगिरामाराधयन्ती चिराद्या विद्याभिरुवास लास्य लहरी तस्या यदि स्यादियम्'। इस तरह दार्शनिकता की भित्ति पर अवलम्बित कविता के यशस्वी कवि हरिहर पण्डित कवि थे। उनकी कविता पाण्डित्य की सहचरी थीं[८५]'।

डॉ. भक्तिनाथ झा ने भी कहा है - 'हरिहर केवल कवि नहीं थे इसका प्रमाण पंजी में उल्लिखित इनकी 'महामहोपाध्याय' पदवी है, जो उस समय न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र के पढ़ने पर प्राप्त होती थीं[८६]। सूक्तिमुक्तावली के अनेक श्लोकों में इनकी यह अभिज्ञता संकेतरूप में देखी जाती है। यथा राजप्रशस्ति प्रकरण परक श्लोकों में (३९-४४) मीमांसा, न्यायवैशेषिक, योग, वेदान्त तथा सांख्य सिद्धान्तों का दिग्दर्शन होता है। उदाहरण के लिए एक सरल और रोचक श्लोक यहाँ उद्धृत है -

'त्वद्वाणेषु यमो जयेषु नियमो याने स्थिरं चासनं
श्रान्तौ श्वासविनिग्रहो गुणगणे प्रत्याहृतिः श्रीमतः।
ध्यानं शूलिनि धारणा च धरणौ धर्मे समाधिर्यतः
तन्निर्विण्णहृदः किमीश्वरपरे वांछन्ति पातंजले'॥

---

८४. मि.मि. पटना - २७.४.१९८०   ८५. प्र. प. भू. पृ. ३१

८६. कृ. मा. चि. १९९९, पृ. १८५-८६

वस्तुतः हमारे चरितनायक हरिहर एक निरे कवि नहीं थे, वल्कि नैयायिक, मीमांसक, धर्मशास्त्री भी थे। योग, वेदान्त और सांख्य में भी उनकी गहन पैठ थी। वे सही मायने में 'महामहोपाध्याय' थे, 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' थे।

हरिहर का निवासस्थान -

वैसे तो हरिहर मिथिला के निवासी थे, पर मिथिला में भी उनका खास निवासस्थान था, और वह था वर्त्तमान मधुबनी जिला के अन्तर्गत 'बिठ्ठो' नामक ग्राम[८७]। यह 'बिठ्ठो' पण्डौल प्रखण्ड के 'सरिसब-पाही' ग्राम के पास उसी पंचायत में स्थित है। प्रभावती परिणय के टीकाकार आचार्य रामचन्द्र मिश्र लिखते हैं कि - 'समय के निश्चित रहने पर भी हरिहर के सम्बन्ध में बहुत जानकारी प्राप्य नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि वह एक विशिष्ट विद्वान् थे, श्रोत्रिय सम्प्रदाय के गण्य-मान्य जन तथा 'बिठ्ठो' नामक ग्राम के निवासी थे'[८८]।

इतना ही नहीं इनकी दूसरी रचना 'हरिहर सुभाषित' के सम्पादक प्रो. रमानाथ झा ने भी अपनी अग्रंजी भूमिका में कहा है -

' Raghava Jha was fifth in descent from Shrivatsa, who founded the Behat branch of the Karmaha family where he must have been living with his sons, and though we do not know who migrated from there to Bittho[89]'' ---'' Any way it is clear that our outhor Mm. Harihar jha was a resident of the village of Bittho.''[90]

परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि बेहट से बिठ्ठो आकर बसने वाले वंशज राघव झा हैं अथवा उनके पितामह म.म. माणिक कहना कठिन है। क्यों कि विद्वानों ने दोनों प्रकार की राय व्यक्त की है। जो भी हो, वस्तुतः

---

८७. हरि.सुभा. भू. पृ. १६, विभूतिपंचक (साहित्यिकी प्रका.) २००३

८८. प्र. प. भू. पृ. ३२

८९. हरि. सुभा.भू. पृ. १६

९०. वही

हरिहर 'बिठ्ठो' ग्राम के ही निवासी थे, इसमें कतई सन्देह नहीं। खास करके मिथिला मिहिर[११], विश्वमनीषा[१२], सारस्वतकुसुमांजलि[१३], हरिहरशतदलम्[१४] आदि से तो यही बात सिद्ध होती है। और तो और इनके भ्रातुष्पुत्र रुचिपति ने भी सारावली में लिखा है -

'आसीच्छ्रीवत्सगोत्रो द्विजवर तिलको नीलकण्ठाभिधानः
व्याहट्टे कर्महाख्ये त्रिपुरपदयुगाराधकानामभीष्टः
तज्ज्योतिर्विदो वै सुबुधरुचिपतिः माधवीदेविजन्मा
बिठ्ठोस्थे तीरभुक्तौ रचयति ननु सारावलीयं सुबोधाम्[१५] ॥'

हरिहर की रचनाएँ-

संस्कृत साहित्य के साथ - साथ मिथिला में भी अनेक हरिहर के होने से उनके परिचय को लेकर जिस प्रकार मतभेद स्वाभाविक है, उसी प्रकार उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी विचारभिन्नता देखी ही जा सकती है। क्यों कि अनेक हरिहरों की अलग अलग रचनाएँ पायी जाती हैं। इनमें हमारे चरितनायक हरिहर की चार रचनाएँ मिलती हैं - प्रभावतीपरिणय नाटक, देवनाथठाकुर की अधिकरण कौमुदी की 'मुक्तावली' व्याख्या, सुभाषितावली अथवा हरिहरसुभाषित तथा भर्तृहरिनिर्वेद नाटक।

१. 'मुक्तावली' व्याख्या -

काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठाकुर के पुत्र थे म.म. देवनाथ ठाकुर, जिन्होंने सात 'कौमुदी' की रचना की थी। उन्हीं रचनाओं में से एक है 'अधिकरण कौमुदी' - मीमांसा का विलक्षण ग्रन्थ। इसी ग्रन्थ पर यह 'मुक्तावली' व्याख्या लिखी गई है। डा. वागीश्वर शर्म्मा के मत में यह व्याख्याग्रन्थ मूलग्रन्थ की तुलना में अधिक गम्भीर हो गया है[१६]। वहीं डॉ. ए.डी. पुसलकर ने लिखा है

---

११. सास्रा. पटना - २७.४.८०   १२. का. द.सं.वि.वि. १२/२, १९९४
१३. इन्दिराप्रका. दरभंगा १९९४, पृ. ४२५-२६
१४. पुरी - २०००, पृ. ४०९-४२१
१५. S.R. Leela Fel. Vol., Chennai, 1993, p.287
१६. Harashanarayana Tripathi Fel. Vol -, Agara, 1988 p.411

कि अधिकरणकौमुदी की हरिहर कृत व्याख्या 'मुक्तावली' में न केवल दर्शन का भावगाम्भीर्य है, वल्कि उसकी पंक्तियों में साहित्यिक प्रवाह भी है। यद्यपि मुक्तावली अभी तक अप्रकाशित है, फिर भी उसके अवलोकन से हरिहर की दार्शनिक शैली, गम्भीर अभिज्ञता, साहित्यिक अवगति, धर्मशास्त्रीय विद्वत्ता का परिचय तो चल ही जाता है[९७]। जब कि डॉ. जयदेव जानी इस का मात्र उल्लेख ही करते हैं, वह भी हरिहर पर शोध करने वाले पूना के श्री जगत प्रताप चन्द्र की सूचनाओं के आधार पर[९८]। इतना ही नहीं कविशेखर पं. बदरीनाथ झा ने भी इस व्याख्या का उल्लेख किया है और उसके दो परिचयात्मक पद्य को भी दिया है[९९]। प्रो. रमानाथ झा भले ही इस मुक्तावली व्याख्या की सत्ता न मानते हों पर आड्यार, तंजावुर व पूना ग्रन्थागारों में स्थित इसकी पाण्डुलिपियों से उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता[१००]। हाँ, यह सही है कि कविशेखर बदरीनाथ झा के मत को लेकर पं. जनार्दन झा 'जनसीदन' को भी कुछ भ्रम हो गया। वह यह कि, कविशेखर जी जहाँ यह लिखते हैं कि - 'आपकी साहित्य रचना भर्तृहरिनिर्वेद और मुक्तावली है[१०१]' वहीं पं. जनसीदन जी हरिहर के सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'प्रभावतीपरिणय और भर्तृहरिनिर्वेद नामक संस्कृत नाटक आपके बनाये हुए हैं'[१०२] जबकि दूसरे हरिहर उपाध्याय के प्रसंग वे कहते हैं - 'आपके रचित ग्रन्थ हैं साहित्य रचना और मुक्तावली टीका[१०३]'।

इस 'मुक्तावली' व्याख्या में भी म.म. हरिहर ने अपना वही विस्तृत परिचय, उन्हीं दो पद्यों के द्वारा दिया है, जिन पद्यों के द्वारा जो परिचय प्रभावती परिणय में दिया गया है। बस, केवल अपने मातामह के सम्बन्ध में लेखक

---

९७. इण्डियन एण्टीक्वैरी, भाल्युम IV पृ. ३७६-७७

९८. हरिहरशतदलम्, पुरी, पृ. ४१०, ४१७

९९. मिथिलांक पृ. ५७

१००. जे. ओ. आई. बरौदा, एस. वी. आर. मूर्त्तिका लेख तथा फुटनोट ९६, ९७

१०१. मिथिलांक पृ. ५७

१०२. ज. स्मा. ग्र. पृ. १४

१०३. वही पृ. १८

यहाँ मौन अवश्य है। इस व्याख्या के दो मंगलाचरण हैं और ये ही दोनों श्लोक क्रमशः भर्तृहरिनिर्वेद नाटक एवं प्रभावती परिणय नाटकों में भी आये हुए हैं।

२. प्रभावती परिणय -

हरिवंशपुराण के कथानक (विष्णुपर्व, अध्याय ९१-९७) को आधार बनाकर इस नाटक की रचना की गई है। यह एक शृंगार रस प्रधान नाटक है, जिसमें श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और असुरराज वज्रनाभ की पुत्री प्रभावती का प्रेम वर्णित है। यह नाटक सात अंकों में विभाजित हुआ है तथा इसमें नाटककार ने अपना विस्तृत परिचय भी प्रस्तुत किया है। अर्थात् वे इसमें अपने वंश वृद्धप्रपितामह, पितामह, पिता, मातामह, माता और अनुज के नाम उद्धृत करते हैं। यह नाटक हिन्दी अनुवाद के साथ १९६९ ई. में आचार्य पं. रामचन्द्रमिश्र के द्वारा चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है।

३. हरिहर सुभाषित -

हरिहर की सुभाषितावली का नाम 'हरिहर सुभाषित' है और इसी नाम से यह ग्रन्थ निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई से काव्यमाला सीरीज में १९१४ ई. में प्रकाशित भी हुआ था। ग्रन्थ के पर्यालोचन से भी इसका यही नाम सिद्ध होता है। परन्तु १९४९ में पटनाके - The News Papers and Publications Ltd. अर्थात् इण्डियन नेशन प्रेस से प्रकाशित इसके संस्करण में इस ग्रन्थ का मूल नाम 'सूक्तिमुक्तावली' (उपनाम - श्रीहरिहर सुभाषितम्) बताया गया है। साथ ही इस ग्रन्थ के अन्त में सम्पादक प्रो. रमानाथ झा ने उन दोनों पद्यों को भी जोड़ दिया है, जिन पद्यों के द्वारा हरिहर ने अपना विस्तृत परिचय प्रभावती परिणय एवं मुक्तावली व्याख्या में दिया है। जब कि 'हरिहर सुभाषित' के काव्यमाला संस्करण के साथ - साथ उन पाण्डुलिपियों में भी ये दोनों पद्य नहीं थे, जिन चार पाण्डुलिपियों[१०४] के आधार पर प्रो. झा ने उक्त ग्रन्थ का सम्पादन किया था।

---

१०४. माधव झा (उजान), पद्मनाथ झा (उजान), गणेश झा (उजान) के घर से प्राप्त एवं दरभंगा राजपुस्त. से प्राप्त मातृकाएँ।

म.म. परमेश्वर झा हरिहर सुभाषित को ही 'सुभाषितावली' मानते हैं[१०५]। जब कि भर्तृहरिनिर्वेद के सम्पादक म.म.पं.दुर्गाप्रसाद (काव्यमाला बम्बई) ने अपनी टिप्पणी में लिखा है - 'हरिहरोपाध्यायप्रणीतमेकं सुभाषितमपि मिथिलायां समुपलभ्यते'[१०६]।

सुभाषितग्रन्थों में एक 'प्रस्तावरत्नाकर' का उल्लेख मिलता है जिसके रचयिता भी हरिहर ही हैं, परन्तु ये हरिहर अन्य प्रतीत होते हैं। इसी तरह 'सुभाषितहारावली' का रचयिता हरिकवि भी भिन्न है, जिसका मूल नाम भानुभट्ट अथवा हरिहर भट्ट था।

इस ग्रन्थ में कुल १२ बारह 'प्रकरण' हैं, जैसे - मंगल प्रकरण, बालविनय प्रकरण, सुहृदुपदेश प्रकरण, प्रवास प्रकरण, राजप्रशस्ति प्रकरण आदि। साथ ही ग्रन्थ के अन्त में हरिहर ने बस इसी एक श्लोक से अपना परिचय भी दे दिया है कि -

'लक्ष्मीराघवयोः सूनोरनूनोऽयं गिरांगुणैः।
सुभाषितानां संक्षेपः प्रेक्षावद्भिः परीक्ष्यताम्[१०७]॥'

४. भर्तृहरिनिर्वेद नाटक -

इस पाँच अंकों के नाटक में मुख्य रस शान्त है और इसमें शान्तरस की ही श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। अन्य नाटकों में उपात्त लौकिक विभूतियों के चाकचिक्य को जहाँ इसमें निःसार सिद्ध किया गया है, वहीं इसमें सांसारिक असारता का प्रत्यक्षीकरण भी किया गया है । इसमें राजा भर्तृहरि के वैराग्य की कथा बड़े ही मनोरम ढ़ंग से उपनिबद्ध किया गया है। और अन्त में कवि ने श्लेष अर्थ के माध्यम से अपनी माता का भी स्मरण किया है - 'लक्ष्मीरक्षतपक्षपातमधुरा भूयादुदारात्मनाम्'। इस नाटक का अंगीरस शान्त है, किन्तु इसमें रानी की मृत्यु प्रकरण में करुण और योगी के द्वारा उसमें

---

१०५. मि. त. वि. पृ. १७३ १०६. भ. नि. नाटक (निर्णयसागर) पृ. 1
१०७. हरि. सुभा. परमार्थ प्रकरण, श्लोक ७४

प्राणसंचरण प्रकरण अद्भुत रहे हैं। गोरखनाथ की बातें शान्तानुदायिनी तो है ही बल्कि प्रारम्भ में राजा - रानी के बीच के वार्त्ता प्रसंग में शृंगार का पुट भी देखा जा सकता है। यह भी सत्य है कि हमारे हरिहर यह मानकर चलते हैं कि आ. भरत ने नाटक में शान्त का विरोध नहीं किया है। ये नाट्यशास्त्र के 'क्वचिच्छमः' वाले अंशको तो ध्यान में रखते ही हैं, प्रत्युत् अभिनवभारती के शान्तविषयक विवेचन को भी बड़ी दृढ़ता के साथ अंगीकार करते हैं। यदि ऐसा न होता तो हमारे हरिहर शान्तरस प्रधान इस नाटक की रचना कदापि न करते।

यह नाटक कई बार प्रकाशित हो चुका है, जिनमें निम्न संस्करण मुख्य हैं -

१. निर्णयसागर प्रेस, मुंबई के काव्यमाला सीरीज में।
२. प. त्रिलोकनाथ मिश्र के द्वारा विद्याविलास प्रेस, बनारस से संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित।
३. राजकुमार छत्रपति सिंह जूदेव के द्वारा १९१२ में कालाकांकर से हिन्दी अनुवाद सहित।
४. १९०४ में JAOS में डॉ. एल्. एच्. ग्रे के द्वारा अंग्रेजी अनुवाद मात्र।
५. योगप्रचारिणी सभा, गोरक्षटीला से संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित।
६. सी.वी. नारायणन् के द्वारा १९२० में तमिल अनुवाद मात्र, मद्रास से।

हरिहर का काव्य सौष्ठव और शैली -

जैसा कि पहले के विद्वान् हुआ करते थे - एक तरफ उनकी दार्शनिक दृष्टि हुआ करती थी तो दूसरी तरफ साहित्यिक सहृदयता। एक तरफ अर्थपूर्ण गाढ़बन्ध पद्य रचना होती थी तो दूसरी ओर प्रासादिकता और सुकुमारता का समन्वय। हमारे हरिहर में भी ये सारे गुण विद्यमान थे। उन्होंने जहाँ दार्शनिक

ग्रन्थ अधिकरणकौमुदी की व्याख्या की है तो वहीं दूसरी ओर साहित्यिक रचना भी कर दिखायी। उनके नाटकों पर न केवल दार्शनिक छाया देखी जा सकतीं हैं, वल्कि मुरारि की गाढ़बन्धता, अर्थ गाम्भीर्य और जयदेव की प्रासादिकता एवं सुकुमारता भी। वे सरल से सरल पद्यों की रचना में जिस तरह प्रवीण थे, उसी प्रकार गाढ़बन्ध - अर्थगम्भीर पदों की सर्जना में दक्ष भी। उदाहरणार्थ उनके कुछ पद्यों को देखा जाय -

'जडानामपि चैतन्यम्भवभूतेरभूद्गिरा।
ग्रावाऽप्यरोदीत् पार्वत्या हसतः स्म स्तनावपि[१०८] ॥'

'तावकीनैर्गुणैः प्रीतश्चिरक्रीत इव प्रिये ।
यद्यस्म्यनुचरश्चिन्ता किं तापयति ते मनः[१०९] ॥'

'हरति सरसि जन्मश्रेणिरेणद्विरेफं
तरलयति पयोधेरन्तरं चन्द्रिकैव।
रमयतु कतमा त्वां धीरलावण्यलक्ष्मीं
त्रिजगदुपरिभूतां तादृशीमन्तरेण[११०] ॥'

'यान्यासन् वासरश्रीविरचितमिहिरोदारदीपोपरिष्टात्
संसृष्टवाक्कपालायिततविततवियन्नीलताकज्जलानि।
भूमीभाण्डे हरिद्भिर्युवतिभिरभितः पात्यमानानि मन्ये
तान्येतान्येव सम्प्रत्यविरलतिमिरस्तोमभावं भजन्ति[१११] ॥'

'एषां चित्यर्धदग्धावयव शवसमाकर्षणे हर्षभाजां
फेत्कारैः फेरवाणां क्षणजनित भयोद्भ्रान्तगृध्रावरुद्धम्।

१०८. वही, बालविनय प्रक. श्लो. १३ १०९. भ. नि. १/६
११०. प्र. प. १/४९ १११. प्र. प. ५/३५

नेत्रान्धीकारिनासापुट कषणपटूद्गन्धि धूमान्धकारं
मद्गेहश्रीशरीराश्रयणमिदमभूद् भस्मधानं श्मशानम् [११२]॥'

यहाँ इन पद्यों में पाठक उनके दोनों गुणों को सहजता से देख सकते हैं, उनके दोनों पक्षों का आनन्द उठा सकते हैं। इतना ही नहीं हरिहर की कवित्व शैली भी अनायास लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं। उनकी अलंकार योजना हो या फिर संगीतपरायण शब्द विन्यास विना मन मोहे रह नहीं सकता। भर्तृहरिनिर्वेद में जहाँ -

'न द्यूते रमते मनोऽस्य मृगयाकालोऽपि नालोक्यते......'
'त्वत्कान्त्या मम कौमुदी समुदयस्यारोचने लोचने.......'
'अधिकाधिकानि गुणतो नितरामितराणि सन्तु..........'

आदि अनेकों पद अपनी संगीतपरायणता का जहाँ परिचय प्रस्तुत करते हैं, वहीं -

'सहजेन जरापराहता विधुता स्वामिशुचा पुनस्तनुः।
अथ तत्प्रविकारसंभ्रमाद् विकला केन किलावलम्ब्यताम्॥'

में अनुप्रास की छटा सहुदयहृदय में अपनी छाप छोड़ देती है।

प्रभावती परिणय की ये पंक्तियाँ भी कम मनोहारिणी नहीं हैं -

'सगर्वं कुर्वन्तः कलितमुकुलं पंकजकुलं
विलिम्पन्तो व्योमोदरमपि दलत्कज्जलभरैः।'
'तन्वी तनुं गुरुपयोधरभारभुग्ना
मायासितामथ वियोगपराभवेन।'

जिनमें अलंकारों की चारुता और गुणाधानशैली देखी जा सकती हैं। इनकी शैली सचित्र एवं सजीव हैं। इनके भर्तृहरिनिर्वेद में नायक का चारित्रिक विकास इतना हुआ है कि उसे शृंगारपरायण राजा से उठाकर शान्तिपरायण योगी के रूप में चित्रित कर दिया गया है। जब कि प्रभावती परिणय कथोपकथन

---

११२. भ. नि. २/७

की रोचकता से सर्वथा भरपूर है। संक्षेप में यदि कहा जाय कि इनके नाटकों में संवादों की प्रांजलता के साथ साथ प्रामाणिकता भी निखर आई है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

हरिहर पर प्राचीन कवियों का प्रभाव -

प्रायः हर एक रचनाकार पर उनके पूर्ववर्ती लेखकों या रचनाओं का प्रभाव देखा ही जाता है। किसी पर किसी का कम तो किसी पर किसी का अधिक। प्रस्तुत नाटक भर्तृहरिनिर्वेद पर भी दशमशताब्दी के क्षेमीश्वर के चण्डकौशिक (रूपक) और अश्वघोष के सौन्दरनन्द का प्रभाव परलिक्षित होता है। भानुमती का राजा भर्तृहरिद्वारा परीक्षा लेना जहाँ चण्डकौशिक की घटना से मेल खाता है, वहीं भर्तृहरि का स्त्री वियोग में विलाप करना, फिर गोरखनाथ के उपदेश के द्वारा योगमार्ग से मुक्ति प्रवण होना सौन्दरनन्दगत नन्द-सुन्दरी की कथा से बहुत ही साम्य रखता है। इसी तरह इस नाटक पर अज्ञात कर्तृक एवं अज्ञातकालिक, किन्तु हरिहर से प्राचीन रचना 'भगवज्जुकीयम्' प्रहसन का भी प्रभाव देखा जा सकता है। खास करके नायिका का मरकर पुनरुज्जीवित होने, यौगिक विभूति के प्रकट होने व नायक के व्यक्तित्व परिवर्त्तन होने के मामले में तो निश्चय ही।

भर्तृहरिनिर्वेद नाटक पर न केवल कथा की दृष्टि से प्राचीन रचनाओं का प्रभाव पड़ा दिखता है, वल्कि हरिहरोपाध्याय की शैली भी प्राचीन कवियों की शैली से प्रभावित दिख़ पड़ती है। इनकी शैली पर हनुमन्नाटक और बुद्धचरित की शैली की छाया स्पष्ट देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ - 'एषा पंच वटी रघुत्तमकुटी यत्रार्स्ति पंचावटी' इस हनुमन्नाटकीय (३/२२) पंक्ति को ही लें, इससे कितना अनुप्राणित और प्रभावित है हरिहर की यह निम्न रचना (१/८) पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं - 'पीयूषस्य घटीमपि श्रुतिपुटी वाचा तवाचामति'। इसी प्रकार भर्तृहरिनिर्वेद के -

'स्वयं निर्मायान्धुं वत हतधियास्मिन्निपतितं
मया व्यादायास्यं स्वयमहिपतेश्चुम्बितमिदम्।

कृपाणेन स्वेन प्रहतमिदमात्मन्यकरुणं
स्वयं सुप्त्वा सद्मन्यहह निहितो द्वारि दहनः ॥'

एवं मंत्री देवतिलक के द्वारा योगी से यह कहना कि -

'न युक्तमेतत् कालसर्पदंशेन वृश्चिकदंशदोषापनयनम्' ।

पर बुद्धचरित (५/३७) के निम्न उद्धरण का कितना प्रबल प्रभाव परिलक्षित होता है, स्वतः अवलोक्य हैं -

'अथ मेरुगुरुगुरुं बभाषे
यदि नास्ति क्रम एष नास्ति वार्य ।
शरणाज्ज्वलनेन दह्यमाना-
न्नहि निश्चिक्रमिषुः क्षमं ग्रहीतुम् ॥'

इतना ही नहीं, आचार्य रामजी उपाध्याय के मत में 'बल्लालसेन के भोजप्रबन्ध में भोज द्वारा लिखा पत्र इस नाटक के एक पद्य के अनुरूप है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि सेन ने अपने पद्य को भर्तृहरि निर्वेद के आधार पर बनाया है[११३] । इन्होंने अपने इस पक्ष में उदाहरण[११४] भी प्रस्तुत किया है, परन्तु मुझे नहीं लगता कि भोजप्रबन्धकार भर्तृहरिनिर्वेदकार से प्रभावित हैं। यह हो सकता है कि हमारे हरिहर ही बल्लालसेन से प्रभावित रहे हों। कारण हरिहर का समय १६ वीं १७वीं शतक का मध्यभाग निश्चित है, जब कि बल्लालसेन, बंगाल के अन्तिम शासक लक्ष्मणसेन के पिता होने के कारण ११ वीं शताब्दी के अन्तिमचरण में रहे हैं।

हरिहर उपाध्याय के नाटक इतने सफल हुए हैं कि उनमें कोई भी अपेक्षित सामग्री न्यून नहीं है और न किसी को कम करके आँका जा सकता है। पर इसके पीछे जो कारण है, वह निश्चय ही रामचन्द्रमिश्र के अनुसार 'उनकी गम्भीर सूझ-बूझ, उदात्त वैदुष्य तथा पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों का अध्ययन है' । इस अध्ययन का ही फल है कि उनकी रचनाओं पर पूर्ववर्ती कवियों की शैली की छाया स्पष्ट देखी जाती है। इसी प्रकार -

---

११३. म.का.सं. ना. पृ. ४०४ ११४. भ.नि. ४/१३, भो. प्र. ३८

'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषद्प्येषा गुणग्राहिणी।
लोकेहारि च वत्सराज चरितं नाट्ये च दक्षावयम्॥'

रत्नावली नाटिका के उक्त पद्य की छाया इनके प्रभावतीपरिणय के इस निम्न पद्य पर दिखती है -

'यद्यप्येष विशेषवित्कवयिता शिक्षासु दक्षा वयम्,
नाट्ये शम्बरगर्वडम्बरहरो देवः स्मरो नायकः।' (१/१३)

साथ ही नैषधीयचरित के 'चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बितांगाः सजीवचित्रा इवरत्नभित्तीः' से इनकी यह पंक्ति कितनी मिलती है, द्रष्टव्य है - 'चित्रमेतदनुचिन्तयन्नयं चित्रताममतितमां किमागतः'।

इसी तरह के कितने ऐसे स्थल हैं, जिन पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

भर्तृहरिनिर्वेद के व्याख्याकार -

प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने मूलके अतिरिक्त म.म.मुकुन्द झा वख्शी कृत 'सुखबोधिनी' संस्कृत व्याख्या एवं प्रो. एल्.एच्. ग्रे कृत आंग्लानुवादको, साथ ही परिशिष्ट में आचार्य वचनेश मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद को सादर साभार संग्रहीत किया है। अतः इन तीनों का संक्षिप्त परिचय यहाँ देना आवश्यक समझता हूँ। साथही साथ इन व्याख्याकारों किंवा अनुवादकों के अतिरिक्त जिन्होंने भर्तृहरिनिर्वेदनाटक की व्याख्या की है अथवा अनुवाद किये हैं, उनके प्रसंग भी संक्षिप्त सूचना देना अनुचित न होगा।

कडमन्नल्लुर अथवा कडमनल्लुर (जिला-तिरुनेलवेल्लि) के निवासी तमिल-तेलगू-गुंजराती-मराठी-मलयालम-बंगला-संस्कृत और हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वान्; दक्षिणभारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के प्रधान मंत्री (१९१९-१९३६ ई.) रहे श्रीहरिहर शर्मा (१८९०-१९७१ई.) ने अपनी मातृभाषा तमिल में इस नाटक का अनुवाद किया था, जो १९२० में अण्णम्मा प्रेस, मद्रास से सी.वी.नारायणन् के द्वारा प्रकाशित हुआ। अनुवादक प. शर्मा

१९३७ में महात्मा गान्धी के आग्रह पर वर्धा आ गये, जहाँ वे १९४० तक राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की परीक्षाओं को देखते थे।

महेश्वर मिश्र (उपाख्य महेशमिश्र) कृत संस्कृत व्याख्या का उल्लेख (CCII 76) तो मिलता है, पर उनका न तो कोई परिचय और न ही व्याख्या प्राप्त होती है। जब कि भखराइन (मधेपुर, दरभंगा) के निवासी प. राजदेव झा (१८८८-१९५०) कृत व्याख्या राजप्रेस से प्रकाशित होनें पर भी उपलब्ध नहीं है। मात्र उनके प्रसंग-क्रम में इसका उल्लेख देखने को मिलता है। भर्तृहरिनिर्वेद का मैथिली अनुवाद नाटककार हरिहर उपाध्याय के ही सवंश्य हाटीग्राम निवासी कविवर पं.श्रीवल्लभ झा ने किया था, जिसका प्रथम अंक मात्र प्रकाशित है, शेष न जाने कहाँ किस हालत में है।

मुकुन्द झा वख्शी की टीका के साथ प्रकाशित हिन्दी अनुवाद के कर्त्ता हैं - साहित्यरत्नाकर मुन्शी रघुनन्दन दास (१८६०-१९४५ई.), दरभंगा के सखवार ग्राम निवासी। आप पहले तो बाबू गोपीश्वर सिंह के दरवार की विभूति थे, पर बाद में राजदरभंगा के एकाउण्टेट बन गये। हिन्दी, मैथिली और ब्रजभाषा में आपकी अनेकों रचनाएँ प्रकाशित हैं; जब कि मैथिली के आप मूर्द्धन्य साहित्यकार ही थे। मिथिलानाटक, सुदर्शन नाटक, सुभद्रा हरण महाकाव्य, वीर बालक (खण्डकाव्य) आदि आपही ने बनाये हैं। नरेन्द्रनाथ दास विद्यालंकार आपही के पुत्र थे, जिनकी बिहार की राजनीति एवं मैथिली साहित्य दोनों में ही समान ख्याति रही है।

काशी योग प्रचारिणी सभा से प्रकाशित संस्करण के संस्कृत व्याख्याकार प. रसिकराज मौक्तिकनाथ तथा हिन्दी अनुवादक चन्द्रनाथ योगी विशारदसिन्धु का परिचय तो ज्ञात नहीं है; किन्तु इस नाटक के उड़िया अनुवादक श्री संकर्षण रामानुज दाश पुरीके शिशुमठाधीश और तेलगू व्याख्याकार कोड्डुकुल वेंकट सोमयाजी राजमुन्द्री (आन्ध्र) के निवासी हैं। जब कि वसन्तलीपुरम्, हैदराबाद के श्री एस्.वी. आर. मूर्त्ति इसके आंग्लानुवादक

हैं। ये सभी के सभी प्रकाशित तो हैं, पर अंतिम को छोड़ शेष उपलब्ध नहीं हैं, यदि होंगे भी तो मेरी दृष्टि से बाहर हैं। किन्तु हाल ही में दिल्ली से प्रकाशित विद्योतिनीव्याख्या के रचयिता मनोजनाथ झा, डॉ. शशिनाथ झा के पुत्र और दीप (मधुबनी) ग्राम के निवासी हैं।

सुखबोधिनी संस्कृतव्याख्या के रचयिता महामहोपाध्याय कर्मकाण्डभूषण, प्रधानाचार्य प. मुकुन्द झा वख्शी, ढ़ंगा-हरिपुर (जिला-मधुबनी) निवासी, करमहा - अहपुर मूलक मुशली झा उपनामक प. नन्दलाल झा के पुत्र थे। इनकी माताका नाम योगमाया देवी था और इनके प्रपितामह को तत्कालीन मिथिलेश के द्वारा 'वख्शी' अथवा 'वक्शी' की उपाधि दी गयी थी, जो बलभीम झा उर्फ बल्ही झा के पौत्र थे। इनका जन्म अपने मात्रिक रोहाड़-भवानीपुर में सन् १२७६ साल, तदनुसार १८६९ ई. में हुआ था। इनकी शिक्षा - दीक्षा देश के मूर्द्धन्य विद्वानों म.म. चित्रधर मिश्र, म.म. जयदेव मिश्र और म.म. गंगाधर शास्त्री की देखरेख में उन्हींके श्रीचरणों में हुई थी। आप अपने समय में व्याकरण, मीमांसा और कर्मकाण्ड के मूर्द्धन्य विद्वान् थे। कुछ दिनों तक आप महारानी लक्ष्मीवती साहिबा के दरवार में प्रधान पण्डित भी रहे, जिसके बाद धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापक बन कर मुजफ्फरपुर आ गये, जहाँ आप १९१९ से ३५ तक अपने पद पर रहते हुए प्रधानाचार्य का दायित्व भी सम्हाला। अनन्तर आप पंजाब के पटियाला नरेश सरभूपेन्द्र सिंह महेन्द्रबहादुर के दरवार में विभूषित हो गये। पटियाला से आकर आप काशीवास करने लगे, जहाँ १९३८ में परंपद को प्राप्त कर लिये। संस्कृत एवं मैथिली में आपके बनाये अनेकों ग्रन्थ हैं, जिनमें - गोभिल गृह्यसूत्र की मृदुला वृत्ति, निरुक्त विवृति, लाटायन श्रौतसूत्र पर 'सरला' विवृति, कर्मकाण्ड मंत्रार्थ प्रदीप, प्राकृत मंजरीटीका, मुक्तावलीप्रभा, अमृतोदय-गौरीदिगम्बर प्रहसन-भर्तृहरिनिर्वेद नाटकों की व्याख्याएँ, लक्ष्मीश्वरी चरितम्, कर्म्महाकुल प्रशस्तिः, मिथिलाभाषामय इतिहास, मैथिली लघुव्याकरण और अमरकोश टीका आदि मुख्य हैं।

संलग्न अंग्रेजी अनुवाद सर्वप्रथम १९०४ में अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी के मुखपत्र भाग - २५ में १९७-२३० पृष्ठों के बीच प्रकाशित हुआ था, जो आज अनुपलब्ध- सा हो गया है। अतः उसे भी मैंने पाठकों के मनोरंजनार्थ साभार ग्रहण किया है। इसके कर्त्ता न्यूयार्क के (मूलतः जर्मनविद्वान्) डॉ. लुईस एच्.ग्रे (Dr. Louis H. Gray) हैं, जिनका Foundations of Language बहुत प्रसिद्ध है।

जर्मनी के किसी गरीब परिवार में आपका जन्म हुआ था, अतः आपका प्रारम्भिक जीवन बड़ा ही कष्टमय बीता। लेकिन आपकी प्रतिभा से प्रभावित आपके एक अज्ञात नामा गुरु ने अपने घर पर रखकर आपको सारी प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान की। जब उन्होंने देखा कि बालक की अभिरुचि संस्कृत विद्याकी ओर जग रही है, तो उन्होंने इसे अपने मित्र प्रो. कीलहॉर्न से परिचय कराया। उनसे संस्कृत के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का अध्ययन कर कुछ दिनों के लिए बम्बई के एलिफिंसटन कॉलेज में अध्यापक नियुक्त हो गये। परन्तु इन्हें इनके परममित्र प्रो. ऑर्थर ए. मैकडोनलने इन्हें ऑक्सफोर्ड बुला लिया। किन्तु दो साल बाद ये वहाँ से न्यूयार्क आ गये, जहाँ जीवन के साठ वसन्त बिताये। यहीं आपको मैकडोनल ने एक किताब भेजी 'भर्तृहरिनिर्वेद', जिसका आपने पहले जर्मनी में फिर अंग्रेजी में अनुवाद किया। आपने इसके अतिरिक्त कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे और सम्पादित किये। परन्तु दुर्भाग्य से १९२० ई. में आपकी इहलौकिक लीला समाप्त हो गयी।

परिशिष्ट में दिये गये हिन्दी अनुवाद के रचयिता हैं आचार्य प. वचनेश मिश्रजी (१८७५ - १९५९), हिन्दीके जाने-माने कवि और साहित्यकार। आप कालाकांकार के राजा रामपाल सिंह के दरवारी और महामना प. मालवीयजी के अत्यन्त करीबी थे। आपने पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किया था, जिनमें हिन्दी साप्ताहिक 'दरिद्रनारायण' (कालकांकार),

सुकवि (कानपुर), हिन्दी पत्र 'हिन्दोस्तान' (क़ालाकांकर), हिन्दी मासिक 'रसिक' (फर्रूखाबाद) आदिके नाम स्मरणीय हैं। आपकी रचनाओं में आनन्दलहरी, नवरत्न, हा ! वज्रपात, ध्रुवचरित्र, वचन-विलास, सुभाषित रत्नमाला, परिहास, शबरी, वातायन, डाली, धर्मपताका, शिव-पार्वती विवाह आदि अनेकों काव्य संग्रह हिन्दी साहित्य के मील के पत्थर माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त आपने जहाँ 'लालकुमारी' जैसे कई उपन्यासों की रचना की हैं; वहीं उन्मत्तराघव और भर्तृहरिनिर्वेद संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद भी किये हैं।

यदि आपके बारे में संक्षेप में कहा जाय, तो बस केवल यही कह सकते हैं कि आपकी - 'कट गई जिन्दगी साहित्यकी गुलकारी में'।

राजा भर्तृहरि और उनकी नाटकेतर-वैराग्य-कथा

राजा भर्तृहरि, उज्जैन के शकारिनरेश विक्रम संवत् संचालक चक्रवर्ती सम्राट् विक्रमादित्य के बड़े भाई थे - ऐसा कहा जाता है। यह भी लोकप्रवाद है कि इनके पिता मीमांसाभाष्य के कर्त्ता शबरस्वामी थे, जिन्होंने चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह किया था और चारों से उन्हें सन्तान भी हुई थी -

'ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणीः
राजाभर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्।
वैश्यायां हरिश्चन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शंकुः कृती
शूद्रायाममरः षडेवशबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः॥'

इस कथा में कितनी सच्चाई है या फिर कितना यह ऐतिहासिक है स्वयं विद्वान् ही निर्णय करने में समर्थ हैं। परन्तु इसमें कतई सन्देह नहीं कि भर्तृहरि एक ऐतिहासिक पुरुष हैं, विक्रमादित्य के बड़े भाई हैं और एक समय उज्जैन के राजा भी थे। इतिहास इस उपर्युक्त श्लोक को नहीं मानता। वह यह मानकर चलता है कि सम्राट् समुद्रगुप्त एक विद्वान्, पराक्रमी, कलाप्रेमी, शासक थे। जिन्होंने ४५ पैंतालिस वर्षों तक राज्य करने के बाद अपने ज्येष्ठपुत्र

भर्तृहरि को राज्य सौंप दिया। राजा भर्तृहरि अधिक दिनों तक शासन नहीं कर पाये, फलतः इनके अनुज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को राजा बनाया गया। यही विक्रमादित्य 'शकारि' की उपाधि ग्रहण किये। शकों को अपने राज्य से मार भगाने के कारण। इससे भर्तृहरि के पिता का नाम शबरस्वामी नहीं, वल्कि समुद्रगुप्त सिद्ध होता है। दूसरी ओर वराहमिहिर के भी पिता शबरस्वामी नहीं थे, क्यों कि स्वयं इन्होंने अपने को आदित्यदास का पुत्र कहा है-

'आदित्यदासतनयस्तदवाप्प्रबोधः
काम्पिल्लके सवितृलब्ध वर प्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यक्
होरावराहमिहिरो रुचिरां चकार॥'

जबकि कुछ लोग महेन्द्रादित्य को ही भर्तृहरि का पिता मानते हैं। इनके मतानुसार विक्रमोर्वशीय नाटक में 'विक्रम' पद से विक्रमादित्य का और इन्द्रके अर्थ में प्रयुक्त 'महेन्द्र' पदसे महेन्द्रादित्य का भी बोध होता है।

ये संत सम्राट् भर्तृहरि वैरागी हो गये, राज-पाट छोड़ चल पड़े शान्ति की ओर, योगी बन गये। पत्नी-पुत्र और परिजन सब मनाते रह गये, लेकिन भर्तृहरि को सच्चा ज्ञान मिल गया था, वे राजपाट की जंजीर में जकड़ने वाले कहाँ ? इनकी तपस्थली 'भर्तृहरि गुफा' उज्जयिनी का दर्शनीय स्थल है, जिसकी भव्यता देखते ही बनती है। इनके बाद उज्जयिनी के राजा हुए सम्राट् विक्रमादित्य, इतिहास जिन्हें आज भी पूजता है।

कुछ लोग यह मानते हैं कि 'वाक्यपदीयम्' जैसी कालजयी कृति के निर्माता यही राजा भर्तृहरि हैं परन्तु कुछ अन्य विद्वान् इस वैयाकरण भर्तृहरि को राजा भर्तृहरि से भिन्न मानते हैं। इस विवाद में यदि न भी पड़ें, तो यह निश्चित है कि भर्तृहरि न केवल एक लोकप्रिय राजा थे, वैरागी सच्चे ज्ञानी थे, वल्कि एक उच्च कोटि के कवि व लेखक भी थे। 'भर्तृहरिशतकत्रयम्' से सुप्रसिद्ध शृंगारशतक, नीतिशतक और वैराग्य शतक के प्रणेता भर्तृहरि राजा

भर्तृहरि से भिन्न नहीं ही हैं। मेरा तो यह भी अभिमत है कि तीन शतक लिखने वाले भर्तृहरि और तीन काण्डों में वाक्यपदीय लिखनेवाले भर्तृहरि दोनों एक ही हैं। जिस प्रकार इनके तीनों शतकों को 'शतकत्रयी' या 'त्रिशतकम्' कहा जाता है, उसी प्रकार वाक्यपदीय का प्राचीन नाम 'त्रयी' भी है, बस केवल काण्डत्रयी (ब्रह्मकाण्ड-वाक्यकाण्ड-पदकाण्ड) होने के कारण। इतना ही नहीं, अखण्ड ब्रह्मवादी, शब्दाद्वैतवाद के प्रवर्त्तक'..... नमः शान्ताय तेजसे' लिखने वाले भर्तृहरि के चरित्र को प्रधान बनाकर शान्तरसात्मक नाटक लिखकर आचार्य हरिहर ने न केवल लोगों का मनोरंजन किया है, एक नयी शुरुआत की है, बल्कि भर्तृहरि के मतों को दृढ़ता भी प्रदान की है।

किसी ने कहा है - 'इनके समय को लेकर महज इसलिए भ्रम बना लेना कि 'भर्तृहरिनिर्वेद' नाटक आदि के अनुसार योगी गोरखनाथ जी के द्वारा इन्हें वैराग्य प्राप्त हुआ है, अतः इनका समय गोरखनाथजी के समय के साथ ही रक्खा जा सकता है, ठीक नहीं है। नाटक में मात्र नाटकीयता लाने के लिए और कवि अपने स्वातन्त्र्य से ही भर्तृहरि को गोरखनाथ के द्वारा एक रोचक घटना को रचकर वैराग्य उत्पन्न करवाया है। राजा भर्तृहरि का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी निर्द्धारित होता है, जबकि योगी गोरखनाथ को डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वान् ग्यारहवीं - बारहवीं शताब्दी का मानते हैं[११५]। अतः दोनों के समय को एक मानना सर्वथा व्यर्थ है। परन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। क्यों कि गुरु गोरखनाथ का समय ११ वीं - १२ वीं शताब्दी नहीं हो सकता। स्कन्दपुराण और नारदपुराण में योगी मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख आया है और कहा गया है कि इनका जन्म मछली के पेट से होने के कारण इनका नाम मत्स्येन्द्रनाथ पड़ा। मत्स्येन्द्रनाथ नाथ सम्प्रदाय के 'योगिनी कौल' शाखा के प्रवर्त्तक थे और ये ही मत्स्येन्द्रनाथ महायोगी तान्त्रिक प्रवर

११५. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. ५२
म.का. सं. नाटक (रामजी उपाध्याय) पृ. ४०४

गोरखनाथ के गुरु थे। मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु आदिनाथ अथवा स्वयं शिव थे। कथा के अनुसार 'गंडान्तयोग' में मत्स्येन्द्रनाथ का जन्म होने के कारण इनके पिता ने इन्हें नदी मे फेंक दिया था, जहाँ कोई मछली इन्हें निगल गयी। कुछ दिनों बाद उसके पेट से निकल कर ये शिव-पार्वती के द्वारा पुत्रवत् लालित-पालित हुए। अनन्तर इनका शिवजी से दीक्षित होकर साधना करना तथा विभिन्न स्थानों में भ्रमण करना तो प्रसिद्ध है ही। इनकी एक पुस्तक 'मत्स्येन्द्रसंहिता' योगदर्शन की प्रामाणिक कृति मानी जाती है। मत्स्येन्द्रनाथ से सम्बन्धित कई कथाएँ उनकी सिद्धि और परकाय प्रवेश आदि का सुविस्तृत वर्णन डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'नाथ सम्प्रदाय' ग्रन्थ में किया है। अत: इस सब से भर्तृहरि और गोरखनाथ का समसामयिक होना प्रमाणित हो ही जाता है।

दूसरी ओर भर्तृहरि की वैराग्यकथा में भी अन्तर है। भर्तृहरिनिर्वेदकार की कल्पना, लोककथा पर आधारित हो रहे 'राजा भरथरी' अभिनय (जिसमें भर्तृहरि की पत्नी 'पिंगला' को कहा गया है और 'भिक्षा दे मा पिंगला' गीत भी राजा गाता है।) और वैराग्यशतक के आधार पर विद्वानों की मान्यता - तीनों में पर्याप्त भेद है। इन कथाओं में इतिहास को ढूँढ़ना निरर्थक है, बल्कि इसे मनोरंजन के रूप में ग्रहण करना ही समीचीन होगा। वैसे 'नह्यमूला प्रसिद्धिः' के अनुसार तीनों में एक बात का साम्य जरूर है कि भर्तृहरि को वैराग्य हुआ और वह सब कुछ छोड़ जंगल चला गया। इसे ही अलग - अलग तरीके से बताया जा रहा है। यहाँ एक कथा को देना आवश्यक समझता हूँ, जिसे राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने भी अपने हिन्दी उपन्यास 'सूरदास' में दिया है।

इस उपन्यास की एक कथा है कि राजा को निन्द आ रही है, नौकर सूरदास बेनियाँ डुलाने बैठा है। किन्तु राजा लाख चेष्टा करने पर भी सो नहीं रहे हैं, उधर वह नौकर बेनियाँ डुलाते डुलाते सो गया है। इसी बात को

उपन्यासकार इस तरह लिखते हैं कि '... एक वह है कि हाथ में पंखे की डोरी लिए भी, गर्मी की लाख शिद्दत पर भी, झुककर सो रहता है और एक हम हैं कि घंटों सर पर हवा की फुरैरी लेनें पर भी करबटें बदलते रह जाते हैं। हमने उसे रात भर जगवा कर पंखा खिचवाना चाहा, ताकि उस पंखे की हवा से हम आराम से सो पावें। मगर कुदरत का यह तमाशा तो देखिए कि जो जागने आया है, वह लाख कड़ाई पर भी दो-चार लपेट सो ही लेता है, और जो सोने आया है, वह हजार अमारत पर भी जागता का जागता ही रह जाता है। इधर मखमल की गद्दी है, उधर धरती; हम लेटे हैं, वह उकडू बैठा है, हम हवे में हैं, वह मानो तवे में। मगर वाह री ! निन्द और वाह री उसकी दिलदारी ! वह गद्दी का साथ नहीं देती, धरती का देती है। जो उस पर जी-जान से मर रहा है, उसे तो वह पूछती तक नहीं और जो उसकी परवा तक नहीं करता उसे वह गले पर गले लगाती है। इधर पलंग पर सोने वाला सुबह विस्तर छोड़ता है, तो रात का पोलाव-कलिया पेट में ज्यों का त्यों है, और वह गच पर बैठे बैठे रात काटने वाला पंखा छोड़ उठता है, तो कटकटा कर चबेने पर टूट पड़ता है।....'

सुबह होते ही नौकर को मालिक राजा भर्तृहरि का एक श्लोक सुनाता है; जिसकी कहानी यह है कि - एक वार किसी योगी को उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने एक फल दिया। फल का गुण यह था कि उसे जो खाता वह चिर यौवन को प्राप्त कर लेता। योगी को चिर यौवन की क्या आवश्यकता ? उसने सोचा कि क्यों न इसे राजा भर्तृहरि को दे दिया जाए, जिससे वे चिरकाल तक युवा बने हुए प्रजा की रक्षा करते रहेंगे। फल के गुण को जानकर राजा ने उसे अपनी रानी को दे दिया। रानी भी फल खायी नहीं, उसने एक प्रहरी को दे डाली। प्रहरी भी उस नगर की एक चर्चित गणिका को वह फल दे दिया। गणिका बिचारी सोचने लगी, यदि मैं इसे खा लेती हूँ तो चिरकाल तक मुझे इस काम से मुक्ति नहीं मिल पाएगी और यदि इसे मैं अपने

राजा को दे देती हूँ तो वे अनन्त काल तक बड़ी कुशलता से राज्य चलायेंगे, प्रजा सुखी और प्रसन्न रहेगी। गणिका गयी और फल राजा को दे आयी। फल देखते ही राजा दंग रह गये, 'यह इसके पास कहाँ से आया, मैंने तो रानी को दिया था'। राजा लगे तहकीकात करने और वास्तविकता का पता लगने पर वैराग्य हो गया। क्या स्त्री, क्या परिजन, सब व्यर्थ हैं।

'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥'

अर्थात् जिसे मैं दिन- रात चाहता हूँ, जिसकी चिन्ता मुझे दिन-रात लगी रहती है, वही मुझसे विरक्त होकर किसी दूसरे को चाहती है। वह व्यक्ति भी उसे न चाहकर किसी दूसरे में आसक्त है, जब कि वह दूसरी स्त्री भी उससे विमुख हो मुझ पर रुझान रखती है। अतः धिक्कार है रानी को, धिक्कार है उस पुरुष को, धिक्कार है कामदेव को, धिक्कार है उस वेश्या को और धिक्कार है मुझे।

राजा भर्तृहरि के इस श्लोक को सुनकर सूरदास कुछ समझा नहीं, तो मालिक ने स्पष्ट किया- 'मैं मरता हूँ निन्द पर, पर वह मरती है तुझ पर। उधर तुझे उसकी तलाश नहीं, तू चाहता है चटकीली चान्दी। पर चान्दी तेरे हाथ नहीं लगती, वह गरमाती है मेरे हाथ। समझे ? बस, लानत है निन्द पर, लानत है ज़र पर, लानत है ऐसी चाह पर और लानत है तुझ पर और लानत है मुझ पर।

राजा भर्तृहरि की वैराग्य की कथा भर्तृहरिनिर्वेद में ,ऐसी नहीं है। साथ ही लोककथा में जो भर्तृहरि पर नाटक किये जाते हैं, उसमें भर्तृहरि की पत्नी का नाम 'पिंगला' या 'तारा' बताया जाता है, जब कि इस नाटक में उनका नाम 'भानुमती' कहा गया है।

कहते हैं जब राजा भर्तृहरि योगी बन गये, तो उनके बाद उज्जैन के राजा बने भर्तृहरि के अनुज विक्रमादित्य। विक्रमादित्य के भारत सम्राट् बनने के बाद उनके मामा बंगाल नरेश राजा गोपीचन्द को यह ज्ञात हुआ कि भर्तृहरि (भरथरी) गुरु गोरखनाथ जी से अमर ज्ञान प्राप्त कर भोग - विलास को छोड़ योगी बन गये हैं । वे भी अमर ज्ञान की खोज में वर्षों से भटक रहे थे। उन्हें मार्ग मिला, और गुरु गोरखनाथ जी से ज्ञान प्राप्त कर योगी भरथरी की भाँति ये भी योगधर्म अपना लिये और वनवासी बन गये। आचार्य पारसनाथ सरस्वती[११६] के अनुसार राजा भर्तृहरि और राजा गोपीचन्द, दोनों में बस यही एक अन्तर था कि भर्तृहरि की पत्नी पिंगला ने जहाँ अपने खराब आचरण से अपने पति को योगी बना दिया, वहीं गोपीचन्द की पत्नी तो उनके इस मार्ग की अनुकूल, साधिका ही बनी। इतना ही नहीं, गोपीचन्द की माँ मैनावती ने अपने सदाचरण से पुत्र गोपीचन्द को सच्चे योगी बनने में सहयोग ही किया।

ये सब कथाएँ लोक परम्परा से आ रहे लोकनृत्य के माध्यम से, लोक नाटक के माध्यम से दिखाई जा रही हैं। कहीं- कहीं लेखों व ग्रन्थों में भी ये कथाएँ सुरक्षित हैं; यहाँ यह भी कहा गया है कि गुरु गोरखनाथ के तीन प्रमुख शिष्य थे - उज्जैन के सम्राट् भर्तृहरि, बंगाल के राजा गोपीचन्द और स्यालकोट का राजकुमार पूरणमल। ये तीनों विन्ध्याचल पर्वत पर वर्षों तपस्या किये थे। इस तरह की अनेक कथाएँ या घटनाएँ राजा भर्तृहरि से सम्बन्धित सुनी व देखी जाती हैं।

भर्तृहरिनिर्वेद की कथावस्तु

प्रथमअंक -

राजा भर्तृहरि अपनी पत्नी भानुमती को बहुत चाहते थे, उनकी पत्नी भी इनसे बेहद प्यार करती थी। एक बार जब राजा ज्योतिषी के कहने पर ग्रहशान्ति के निमित्त गंगातट पर गये तो उन्हें आने में देर हो गयी। आने के

---

११६. एक लोटा पानी, गीताप्रेस, गोरखपुर

बाद भर्तृहरि लग गये अपनी पत्नी भानुमती की प्रशंसा करने, उन्हें प्रसन्न करने - तुम ये हो, वो हो, क्या नहीं हो। यहाँ तक कि तुमसे अलंकृत मेरा घर वैकुण्ठ को भी जीत लिया है -

'पीयूषस्य घटीमपि श्रुति पुटी वाचा तवाचामपि,
प्राप्यं पुण्यशतैरितः किमधिकं सद्मापि पद्मापतेः ॥'

भानुमती इस सब को झुठलाते हुए अपने स्वामी से कहती है कि 'क्या आप यह नहीं जानते कि आपके वियोग में क्षणमात्र भी जीना मेरे लिए दूभर हो जाता है - 'न खलु जानात्यार्यपुत्रो यत्क्षणमप्यसहनं मम जीवितं तव वियोगस्य'। इसी वार्तालाप के क्रम में नेपथ्य से कोलाहल की आवाज आती है, देखने पर पता चलता है कि नगर में किसी तरुण की मृत्यु हो गयी है, जिसे लोग श्मशान ले जा रहे हैं और उसकी पत्नी भी रोती -विलखती शव के पीछे दौड़ रही है, विरहानल से असह्य होकर वह चितानल में सती होना चाहाती है। राजा उस नारी की प्रशंसा करते हैं, उसके प्रेम के महत्त्व को दिखाना चाहते हैं , लेकिन रानी भानुमती है कि - इसका भी प्रेम वैसा नहीं है, जैसा कि होना चाहिये, अन्यथा सद्यः प्रज्वलित विरहानल को छोड़ चितानल की यह प्रतीक्षा क्यों करती। राजा भानुमती की बातों पर आश्चर्यचकित होते हैं और वे इस तरह के प्रेम की परीक्षा लेना चाहते हैं। राजा मन ही मन सोचन हैं यदि ऐसा है तो इसका परीक्षण करना ही चाहिए - 'तंदिदमस्ति ज्ञातव्यम्'। इसके साथ ही राजा आखेट पर निकल जाते हैं।

द्वितीय अंक -

आखेट पर निकले राजा वहाँ वन से यह मिथ्या समाचार भिजवा देते हैं कि वन में हिंसक जन्तुओं के द्वारा राजा मारे गये। इस समाचार से राजा के वियोग में रानी का प्राणान्त हो जाता है। इधर राजा अपने परिजनों के साथ शिकार से लौटकर आते हैं तो रास्ते में उनकी वाँयी आँख पड़कने लगती है और वे सोचते हैं -

'नैव स्वकीयानि हिताहितानि
ज्ञातुं जनो यानि कथं चिदीष्टे ।
आश्चर्यमंगानि ज़डान्यपि प्राग्
विज्ञायतानि स्फुरितैर्वदन्ति ॥'

इतना ही नहीं, उनके मूहँ से चिन्ता और उद्वेग पूर्वक अनायास यह निकल आता है कि मेरा यह वाँयी आँख फड़कना मेरी अपनी ही दुर्मन्त्रणा रूपी दुष्कर्म के परिणाम की सूचना दे रहा है। जब उन्हें रानी भानुमती के प्राणवियोग का समाचार प्राप्त होता है, तो वे अपने दुष्कर्म से आहत होकर कई बार मूर्च्छित हो जाते हैं। वे आवेश में श्मशान तक चले जाते हैं और मन्त्री देवंतिलक से कहते हैं कि मैं ने स्वयं अपनी प्रियतमा को प्रतारणा देकर इस महान् विपत्ति को बुलाया है - 'मया स्वयमेव प्रियतमामभिसन्धाय स्वस्मिन्नियमुपनिपातिता विपत्' । वे आगे कहते हैं कि स्वयं गड्ढ़ा खोदकर मूर्ख अपने आप उसमें गिर पड़ा, सर्पसज अजगर का मूँह खोलकर वह अपने से ही उसका चुम्बन किया। स्वयं मूर्ख अपनी ही तलवार से निर्दयता पूर्वक अपनी हीं गर्दन पर प्रहार कर बैठा। ओह! आश्चर्य है ! स्वयं घर के दरवाजे प़र आग लगाकर मूर्ख उसके अन्दर जा सोया -

'स्वयं निर्मायान्धुं वत हतधियास्मिन्निपतितं
मया व्यादायास्यं स्वयमहिपतेश्चुम्बितमिदम् ।
कृपाणेन स्वेन प्रहतमिदमात्मन्य करुणं
स्वयं सुप्त्वा सद्मन्यहह ! निहितो द्वारि दहनः ॥'

जब पुरवासी गण राजा से रानी को अग्निसंस्कार देने के लिए आज्ञा चाहते हैं तो राजा मनाकर देते हैं। मन्त्री उन्हें समझाते हैं - 'राजन् ! अलमेतादृशेन निर्बन्धेन' । परन्तु राजा के ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

तृतीय अंक -

राजा आत्मग्लानि से पीड़ित होकर पत्नी भानुमती के साथ ज्यों ही जलना चाहता है कि उसी समय योगीवेषधारी गुरु गोरखनाथ जी विलाप करते हुए वहाँ पहुँचते हैं। 'हाय, मेरी डिब्बिका तू कहाँ चली गई ? हा दैव !

आप हमारे प्रतिकूल (दुश्मन) होकर मुझे छोड़ मेरी डिब्बिका का नाश कर दिये। .....'। 'भला मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ, क्यों कि वह मेरी दूर-दूर की यात्रा में साथ देनेवाली थी, उसमें बहुत सारे गुण थे'। राजा भर्तृहरी उनके पास जाकर उन्हें सान्त्वना देते हैं, पर सब व्यर्थ जाता है। योगी उस डब्बे का गुणगान किये ही जा रहे हैं -

'करीषानुच्चेतुं दहनमुपनेतुं मुहुरपः
समाहर्तुं भिक्षामटितुमथ तां रक्षितुमपि।
पिधातुं पक्तुं चाशितुमथ च पातुं क्वचिदथो-
पधातुं नः पात्री चिरमहह चिन्तामणिरभूत् ॥'

राजा योगी से कहते हैं कि जिसका प्रतिकार अपने साध्य नहीं, उस वस्तु के नष्ट होने पर दुःख करना निरर्थक है। परन्तु योगी कहता है कि मुझे दुःख उसके नष्ट होने से उतना नहीं है, जितना कि इसका कि मैं ने स्वयं उसकी मजबूती की जाँच करने के व्याज से उसे धरती पर पटक डाला और उसी में वह टूट गया - 'मयैवैतस्या दृढ़त्वं परीक्षितुं प्रवृत्तेन पातिता भग्नेति महान्सन्तापः'।

ठीक राजा की भाँति योगी भी उस टूटे हुए डब्बे को छाती से लगाये रो-रो के कहता है, विलाप करता है कि इसके लिए यदि मैं मर जाऊँगा तो पुनः अगले जन्म यह डिब्बिका मुझे मिलेगी। राजा उसे सोने चान्दी का डब्बा भी देने का वचन देता है लेकिन इस सबका कुछ भी असर योगी पर नहीं पड़ता, वल्कि उल्टे राजा का शोक दूर हो जाता है और उसके मनमें वैराग्य का अंकुर जन्म ले लेता है। वह कहता है - 'भगवन्! किमपरं मद्वाक्यैरेव मामुपदिश्य ममापनीतोऽयं शोकः श्रीपादैः'। वे सब बातें समझ जाते हैं और योगी को भी पहचान लेते हैं। राजा गुरु गोरखनाथ को सम्बोधित कर कहते हैं - 'भगवन्! साधूद्धृतोऽहमस्मदन्धकूपात्। .... यदतः परं तदुपदिशतु गुरुर्येन भूयोऽपि नैतादृशमनर्थमासादये'। आपने बहुत अच्छा किया भगवन्! कि मुझे इस अन्धकूप से निकाला। गुरुदेव! मुझे आप ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे फिर कभी ऐसा अनर्थ करने का साहस न हो। अनन्तर गुरु गोरखनाथ

के उपदेश से राजा दुःख और आत्मग्लानि को त्याग कर सत्य एवं अत्यन्त दृढ़तर वैराग्य के मार्ग का अवलम्बन कर समीपस्थ उपवन के सघन कुंज में चिन्तन करने के लिए चले जाते हैं।

चतुर्थ अंक -

राजा को योगी के द्वारा श्मशान से वन की ओर ले जाने से मन्त्री प्रसन्न हो जाता है - चलो, किसी तरह राजा का ध्यान दूसरी ओर तो गया। वह यह नहीं जानता कि राजा गुरु गोरखनाथ के आत्मसाक्षात्कार के उपदेश से सच्चे अर्थ में वैरागी बन गया है। राजा को प्रसन्न देख वह उनसे पुनः अग्नि संस्कार की अनुमति चाहता है, पर राजा अनुमति तो क्या, हँसता हुआ कह देता है - 'भवत एवास्त्वाज्ञापनभारो भवद्राजपुत्रस्य वा' - अब इस तरह की आज्ञा देने का अधिकार या तो आपका है या फिर राजकुमार का। इससे मन्त्री योगी पर रुष्ट होता है - 'न युक्तमेतत्कालसर्पदंशेन वृश्चिकदंशदोषापनयनम्'।

राजा देवतिलक द्वारा पूछने पर कहता है -

'प्राप्यं प्राणान्पीडयित्वा परेषां
रक्ष्यं प्राणैः पीड्यमानैः स्वकीयः।
अव्युत्पन्नाल्पव्ययं प्राणकष्टं
नष्टं प्राणगाहि वित्तं विपन्नः॥'

राजा की दृष्टि में अपना संचित धन, पृथ्वी, राजपद, राजलक्ष्मी, रोते हुए बान्धव सब व्यर्थ हैं, वह लोकपराङ्मुख हो चुका है - इसका मन्त्री को कष्ट है। वह राजा को धिक्कारने लगता है - 'अनन्यप्रार्थित निन्दनीय निर्धनता को ही आप श्रेष्ठ मान रहे हैं ? हा, धिक्कार है।' इतना ही नहीं, वह आगे कहता है - 'अनेक जन्मोपार्जितपुण्यप्राप्त राजपदं कः परित्यजति ?' अर्थात् कोई भी नहीं। राजा और मन्त्री दोनों के बीच काफी देर तक बातें होती हैं। मन्त्री विभिन्न प्रकार से राजा को वैराग्यमुक्त करना चाहता है, जब कि राजा पर इस सबका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसी समय गुरु गोरखनाथ राजा को

यह कहते हुए रानी भानुमती को अपनी योगविद्या के बल पर जिला देते हैं कि 'राजन् ! एहि, वैराग्यबीजभूतां ते प्रेयसीं योगबलेन जीवयित्वा रहसितया त्वां संगमय्य तवापनयामि निर्वेदम्' ।

पंचम अंक -

इस अन्तिम अंक में राजा भर्तृहरि और रानी भानुमती के बीच एकान्त मिलन होता है । रानी अपने स्वामी भर्तृहरि से पुनः प्रणय की चर्चा करती है, लेकिन राजा है कि उसका स्पर्श करने से भी अपने को बचाता है । वह कहता है -

'म्रियमाणे मयि भवती प्राणेन वियुज्यते नियतमेव ।
प्रतिकारमत्र योगादजरामरभावमहमीहे ॥'

बहुत समझाने पर भी जब राजा नहीं मानता तो रानी कहती है कि यदि आपकी यही इच्छा है तो राजा जनक के समान आप भी घर में रहकर ही योग साधना करें अथवा विज्ञान प्राप्त करें । परन्तु राजा अपने को उनके सदृश पाता ही नहीं है, वह जाना ही चाहता है । रानी राजा के दुपट्टे को पकड़ उन्हें रोक़ना चाहती है, जब राजा अपना दुपट्टा छुड़ा लेता है तो रानी उनका हाथ पकड़ लेती है, पैर धर बैठती है । साथ साथ वह विलाप करने लगती है - 'हा ! कुत्र गतानि तानि- तानि परस्पर परवशतया विलसितानि ? ' हाय दैव ! हम दोनों के बीच का पहले वाला प्रेमबन्धन कहाँ चला गया, प्रेम-बन्धन की विलासिता कहाँ गुम हो गयी ?'

राजा के हृदय में वास्तविक वैराग्य का उदय हो चुका है, वह सच्चे मन से निर्वेद प्राप्त कर लिया है । इसीलिए युवावस्था को वह व्याधि से तुलना कर देता है -

'कामं दुर्विषहज्वरं जनयति व्याघूर्णयत्पक्षिणी
गात्राण्यूरुनितम्बगण्डहृदयान्यूच्छूनयत्युल्बणम् ।
तां तां दुर्विकृतिं करोति सुहृदो गाढ़े व्यथन्ते यया
व्याधिर्यौवनमात्मनाशनियतः के ते ग्रहण्यादयः ॥'

जब राजा को समझाने में मन्त्री और रानी सब असफल हो गये तो राजकुमार को उनके सामने लाकर उनका वैराग्य भंग करने की चेष्टा की जाती है, लेकिन यह भी पूर्ववत् व्यर्थ चला जाता है। मन्त्री राजा से कहता है - 'एवमकिंचनस्य ते शरीरभरणमपि दुर्घटम्', परन्तु राजा का स्पष्ट उत्तर होता है कि -

'स्वच्छन्दाटनमात्रतः परगृहान्नानारसान्नादनं
कन्थाकोमलसंस्तरस्तरुघनच्छायासु वासक्रिया।
अश्रान्तिः सुखसंचरेण रुचितः शीतातपोपासनं
देहे यत्सुखमस्ति शान्तिसुलभं गेहे सतस्तत्कुतः ॥'

वह कहता है - 'विज्ञानेन विकृष्य निष्ठुरतरं नीये परब्रह्मणि'।

मन्त्री को गुरु गोरखनाथ जी भी समझाते हैं - 'अब इस अनिवर्त्तनीय मनुष्य के निवर्त्तन के कथा-कलाप करना निरर्थक है । इस राज्यासन पर राजकुमार को अभिषिक्त करो, राजा के साथ साथ हम भी इसकी रक्षा का पक्षपाती बने रहेंगे'। इस प्रकार जब मन्त्री देवतिलक बात मान जाता है तो गुरु गोरखनाथ भानुमती को आशीर्वाद देते हैं और इसी के साथ नाटक समाप्त होता है।

चरित्र चित्रण -

नाटक में कथावस्तु के बाद आने वाली विधा है चरित्र चित्रण की, जिसका मूल आधार पात्रों का चारित्र्य होता है। इसमें सभी प्रमुखपात्रों के चरित्रों का चित्रण बड़ी ही सजीवता से की जाती है। किसी ने सही ही कहा है कि -'चारित्र्य की किसी व्यक्ति की रुचि- अरुचि का प्रदर्शन करता हुआ उसके नैतिक प्रयोजन को अभिव्यंक्त करता है।' यहाँ भर्तृहरिनिर्वेद में भी इसका प्रत्येक पात्र अपने आप में पूर्ण है। यद्यपि हरेक पात्र का व्यक्तित्व गुण-दोषों के मिश्रण से भरा पड़ा रहता है, गुण-दोषों का योग होना कोई संयोग नहीं, अपि तु, एक स्वाभाविक नियम हैं; फिरभी नाटक की दृष्टि से उसके चरित्रों का अपेक्षित विकास भी हुआ है।

संस्कृत के अधिकांश नाटक जहाँ पात्र बहुल देखे जाते हैं, वहीं हरिहर का भर्तृहरिनिर्वेद आपेक्षिक न्यूनतम पात्रों से युक्त है। यह इसका नाटकीय गुण ही है, अभिनय का वैशिष्ट्य ही है। इसमें मुख्य पात्रों की संख्या बस पांच ही हैं। नाटक के प्रधान पात्र उज्जयिनी का राजा भर्तृहरि है और उसे वैराग्यपथ पर आरूढ़ करानेवाला योगी गोरक्षनाथ। इसके अतिरिक्त महामंत्री देवतिलक, महारानी भानुमती और दुराख्यायी पुरुष उल्लेखनीय हैं। जब कि कथानक के विकास के लिए इनके अतिरिक्त दो रानीकी सखियां या दासीं हैं, जिसे पुरवासिनी भी कह सकते हैं। भर्तृहरि का बालक और सैनिक जैसे गौण पात्र भी देखे जाते हैं। महाकवि हरिहर ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़ी ही अच्छी तरहसे किया है। नाटक में भर्तृहरि और 'गोरखनाथ' ऐतिहासिक पुरुष हैं। रांनी भानुमती और मन्त्री देवतिलक की ऐतिहासिकता संभवतः हमारे ऐतिह्यविद् यदि अभी सिद्ध नहीं कर सके तो भविष्य में अवश्य ही कर दिखाएङ्गे - ऐसा मुझे विश्वास है। इनके अतिरिक्त अन्य पात्र कवि कल्पना-प्रसूत हैं।

नायक भर्तृहरि -

नायक अथवा नेता पद उस प्रधान पात्र की ओर संकेत करता है, जो अपने कार्यों द्वारा नाटक को फल की ओर ले जाता है। नायक का ऐसा व्यक्तित्व होता है कि स्वतः उसके साथ पाठक, श्रोता या द्रष्टा की सहानुभूति जागृत हो उठती है। नायक का वर्गीकरण तीन दृष्टियों से होता है - स्वाभाविकी दृष्टि से, कुलकी दृष्टि से और आचार की दृष्टि से। स्वभावदृष्ट्या भी नायक चार प्रकार के होते हैं - धीरोदात्त, धीर ललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत। जबकि कुल दृष्ट्या नायक के तीन भेद हैं - दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। इसी प्रकार आचार दृष्टि से नायक चार तरह के होते हैं - दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल।

भर्तृहरि निर्वेदका नायक राजा भर्तृहरि धीर ललित स्वभावका अनुकूल नायक है। वह कुलकी दृष्टिसे अदिव्य है, भारतका चक्रवर्ती सम्राट् है। उसमें

नायक के सारे गुण विद्यमान हैं। हरिहर का भर्तृहरि कुछ अविश्वासी प्रकृति का जान पड़ता है, वह हठात् किसी बातपर विश्वास करलेने वाला व्यक्ति नहीं है। हरेक बातका वह परीक्षण कर बैठता है, चाहे ज्योतिषी की बात हो या फिर पत्नी के प्रेम की, बिना परीक्षा लिए वह छोड़ता नहीं है। यहाँ तक कि जब रानी भानुमती उनकी अनुपस्थिति में पलमात्र भी जीना पसन्द नहीं करती और कहती है कि - 'न खलु जानाति आर्यपुत्रो यत्क्षणमप्यसहनं मम जीवितं तव वियोगस्य', तब राजा भर्तृहरि इसका भी परीक्षण करना चाहता है। वह मन ही मन सोचता है - 'तदिदमस्ति ज्ञातव्यम्'।

जहाँ तक श्रृंगार या प्रेम की बात है, उसमें निश्चय ही राजा अपनी पत्नी भानुमती से पिछड़ा हुआ है। श्रृंगार की भावना होने परभी नायक श्रृंगारिक नहीं दिखता, हाँ इसमें करुणा और दया अवश्य कूट- कूटकर भड़ीं पड़ी दिखती है। वे अपनी पत्नी को बहुत चाहते हैं। जब रानी की मृत्यु होती है तो राजा विभिन्न प्रकार से विरहातुर होकर विलाप करते हैं, यहाँ तक कि वे कई-२ बार तो मूर्छित भी हो जाते हैं। यह बात नहीं है कि राजा का यह विलाप प्रेम मात्र के लिए है, वल्कि उसे पश्चात्ताप है अपने द्वारा किये गये परीक्षण पर। तभी तो वह कहता है -

'स्वयं निर्मायान्धुं बत हतधियास्मिन्निपतितं
मया व्यादायास्यं स्वयमहिपतेश्चुम्बितमिदम्।
कृपाणेन स्वेन प्रहतमिदमात्मन्य करुणं
स्वयं सुप्त्वा सद्मन्यहह निहितो द्वारि दहनः ॥'

भर्तृहरि का हृदय कोमल और सरस है, सरल और आर्द्र है। वह किसी दुःखी को सान्त्वना देने में सर्वथा पटु है, यहाँ तक कि उस समय वह अपना दुःख और कष्ट सब भूल जाता है। जब गुरु गोरखनाथ अपनी डिब्बिका के टूट जाने पर आर्त्तनाद करते हैं, तो भर्तृहरि अपना कष्ट भूलकर उन्हें सान्त्वना देने लगते हैं - 'तथाप्यशक्यप्रतीकारे विनष्टे वस्तुन्यलमनुतापेन'। उसमें अगाध

प्रेम, अनुपम सौन्दर्य, मृदुता, दया दाक्षिण्यादि गुणों का समावेश है। किन्तु जब नेपथ्य से परिजन रानी को अग्निसंस्कार करने की अनुमति चाहते हैं, तब इनके कोप का भी दर्शन हो जाता है।

भर्तृहरि मात्र शिकारी ही नहीं है, आखेट का शैकिन ही नहीं है, वह एक सफल अभिनेता भी है। भले ही वह अभिनय उसके लिए घातक ही सिद्ध क्यों न हुआ हो, पर जब वह शिकार के व्याज से जंगल को जाता है तो वहाँ वह एक कल्पित नाटक की रचना करता है कि वन में व्याघ्रद्वारा राजा मारा गया। इसी समाचार से रानी का प्राण वियोग होता है और जब राजा वापस होता है तो उसकी वाँयीं आंख फड़कने लगती है। राजा ज्योतिष विद्या का विश्वासी है, वह कहता है - 'नूनमिदमस्मदीयस्य दुर्मन्त्रितस्य दुर्विपाकि फलं सूचयति।' उसका स्वभाव शान्तका अन्वेषी है, वह वैराग्यप्रिय है, तभी वह बहुत जल्दी ही वैरागी बन जाता है। प्रकारान्तर से यदि कहें तो भर्तृहरि के चरित्र के दो पक्ष हैं, एक ओर जहाँ वह श्रृंगार से बाहर नहीं है वहीं दूसरी ओर वह निर्वेद मार्ग का पथिक भी है। परन्तु कवि की दृष्टि में उसका श्रृंगारी पक्ष महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि एक वैरागी का। सम्पूर्ण नाटक में उसका यही वैरागी चरित्र वर्णित हुआ है, जहाँ उसका श्रृंगारीरूप देखने को मिलता भी है वह मात्र कुछ कुछ ही देर के लिए। मानव होने के कारण उसके लिए यह स्वाभाविक भी है। गोरखनाथजी के उपदेश से उसे वास्तविक ज्ञान का उदय हो जाता है, वंह आत्मग्लानि और दुःखका त्याग कर सत्य और अत्यन्त दृढ़तर मार्ग का अवलम्बन कर लेता है। संक्षेप में यदि कहा जाय तो इस नाटक में नायक भर्तृहरि को एक श्रृंगार परायण राजा से ऊपर उठाकर शान्तिपरायण योगी बनाकर चित्रित किया गया है।

रानी भानुमती -

भर्तृहरिनिर्वेद की नायिका रानी भानुमती काशीराज की पुत्री, एक भावुक हृदय की महिला, परम पतिव्रता और पत्यनुगामिनी स्त्री है। पतिके

प्रति उसके हृदय में अगाधप्रेम है, उनके बिना वह जीना भी नहीं चाहती। इसीलिए तो वह पति से कहती है - 'न खलु जानात्यार्यपुत्रो यत्क्षणमप्यसहनं मम जीवितं तव वियोगस्य'। अपार स्नेह से भरी भानुमती के मन में पतिके वियोग में विरहानल से आतप्त होकर जल मरने का अद्भूत साहस है - 'एतदप्येतासां व्यवसितमसदृशमैव प्रणयस्य, जज्झटिति प्रज्वलितं विरहानलं परिहृत्य चितानलमपेक्षन्ते।' यही कारण है कि पति द्वारा भेजी गयी झूठी खबर से भी वह जी नहीं पायी। पति की मृत्युका समाचार सुनते ही उसका प्राण वियोग हो जाता है।

वह अनिन्द्य सुन्दरी है, जिसकी कान्ति के आगे राजा की आँखें चान्दनी को भी नहीं चाहती। उसकी वाणी अमृत को भी फीकी कर देती है और तो और इस कोमलाङ्गी की राजभवन में उपस्थिति से राजा कहता है कि तुह्मारे कारण ही यह घर भगवान् विष्णु के वैकुण्ठ से स्पर्द्धा करता है। भानुमती आशावादिनी है, वह कहती है कि - 'अहमिव पुनरपि प्रियदर्शनस्य प्रत्याशया जीव्यते'। वह अपने पति के द्वारा किसी दूसरी स्त्री की प्रशंसा सुन नहीं पाती है। जब राजा मृतक युवक की पत्नी के पातिव्रत्य धर्म की प्रशंसा करने लगता है, तो केवल स्त्री- सुलभ-परनारी प्रशंसा सहन नहीं करती, वल्कि अपना प्रेमनिश्चय भी व्यक्त कर बैठती है। वह कहती है जो पत्नी पति के वियोग में दुःख से उसके साथ ही चिता पर जल मरती है, वह आचरण तो सामान्य है। प्रत्युत् होना तो यह चाहिए कि पति मरण की सूचना मात्र से विरहाग्नि में ही जल मरे। चिताग्नि की प्रतीक्षा क्यों?

भानुमती का स्वभाव कुछ घुमा-फिराकर कहने का नहीं है। वह स्पष्ट कहती है ऐसा निश्चय तो आपके विरह को न सह सकने वाले मेरे इस हृदय का ही है। रानी न केवल राजा के हृदय की आनन्द-स्वरूपा हैं, वल्कि पुरवासियों-रनिवासियों की सकल अभीष्टदायिनी, बन्धु हृदयकी अभिलषित कल्पलता भी हैं। वह उदार और सहृदया है। भानुमती में शालीनता, कुलीनता, बड़ों के प्रति आदर भाव, धर्म भीरुता, वचन दृढ़ता आदि विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। उसमें दोषका लेश भी नहीं है, तभी तो राजा कहता है -

'वैगुण्यमण्वपि सरोजदृशो यदि स्या-
दस्यामिदं बत कथं न मनः श्लथं स्यात् ।'

वह मरकर जी उठती है, पर पति के वैरागी होने की सम्भावना से वह डरती है । राजा के कहने पर भी उसका हृदय कठोर नहीं बन पाता है । वह ज्ञानी है, इतिहास उसे पता है । इसीलिए वह अपने पति को राजर्षि जनक की तरह घरमें रहकर ही तत्त्वज्ञान पाने की सलाह देती है ।

गोरक्षनाथ -

योगी गोरखनाथ की भूमिका इसमें मात्र राजा को वैरागी बनाने के लिए ही है । यह इस नाटकका नायक नहीं है, इसलिए इसका व्यक्तित्व हरिहर ने इस दृष्टि से चित्रित किया है कि राजा भर्तृहरि की महत्ता पर कोई आँच न आ सके । इस नाटक के घटना चक्र का नियन्ता होने परभी यह जो कुछ करता है, सब राजा को वैराग्य दिलाने के लिए, उन्हें विज्ञान प्राप्त हों संसार से मुक्ति मिले-इसी उद्देश्य से । योगी एक वैरागी, गम्भीर और शान्त प्रकृति का व्यक्ति है । इसके व्यक्तित्व का नाटककारने ऐसा चित्रण किया है, जिससे राजा भर्तृहरि को आसानी से निर्वेद उत्पन्न हो सके । वह वैसी ही घटना का निर्माण करता है, जिससे राजा भर्तृहरि गुजर रहा है । वह सर्वप्रथम अपनी टूटी- फूटी डब्बीको लेकर रोते - बिलखते आता है । उसे देखकर क्षण भर के लिए राजा भी अपना दुःख दर्द भूल जाता है । योगी स्वांग रचने में पटु है, तभी तो राजा भर्तृहरि को भी इसके नाटक पर विश्वास हो जाता है । वह परम सन्तोषी है, पहुँचे हुए योगी है, नाथ सम्प्रदाय का महामान्य आचार्य है ।

जब राजा, उसे सोने-चान्दी की हण्डिया देनेका वचन देता है, तो वह कान पर हाथ ले लेता है । वह कहता है - यदि मुझे केवल मिट्टीका डब्बा ही टूटने से इतना दुःख हो रहा है, तो फिर सोने - चान्दी की हण्डिया से कितना कष्ट होगा । वाकई वह इतना दुःखी है कि मरना चाहता है - 'अत्र मरणमेव प्रतीकारः', वह मरने में ही विश्वास करता है । जब वस्तु ही टूट गई, वह भी स्वयं के पटकने से, उसकी मजबूती जाँचनेके उद्देश्य से तो फिर जीकर क्या करेंगे । जब राजा इस प्रकार की बात को मूर्खता भरी बताता है तो योगी

अट्टहास करने लगता है, 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' को याद दिला कर राजा को लज्जित कर देता है।

अनन्तर योगी अपना परिचय देता है, आने का कारण बताता है। वह भगवती विन्ध्यवासिनी देवीका अनन्य भक्त है और लोगों को अन्धकार मे उबारना चाहता है। योगी संसार को अविवेक की जननी मानता है, वह पहुँचा हुआ वेदान्ती है, अष्टाङ्ग हठयोग का पुजारी है। अपने योगबल से वह किसी भी मृत व्यक्ति को जिला सकता है, जैसा कि रानी भानुमती को जिलाया है। जब राजा, भानुमती और देवतिलक के एक-२ तर्क और प्रश्न का जबाब अकाट्य निर्वेद परक बातों से देता है तो सहसा योगी प्रसन्न हो जाता है। वह राजा को मौखिक प्रमाणपत्र भी दे डालता है कि 'सर्वानपि निर्वाणशालिनो जीवानतिशय्य वर्त्तसे'। योगी रानी को भी यह वचन देता है कि निकट भविष्य में ही तुह्मारा राजा के साथ अमृतोत्सव के अवसर पर मिलन करबायेंगे।

देवतिलक -

देवतिलक इतने बड़े साम्राज्य का महामन्त्री है, फिर भी वह अपने सुखकी परवाह नहीं करता। वह बुद्धिमान् है, उसे अपनी बुद्धि पर विश्वास है। वह धैर्यवान् है, राजाको भी धैर्य दिलाता है, 'विपति धैर्यम्' को स्मरण कराता है। वह राजा का आत्मीय और मित्र है, राजा के हठको भी वह रोकना चाहता है। वह अन्तर्मन से चाहता है कि किसी भी तरह राजा का शोक दूर हो जाए। तब उसे योगीद्वारा राजा के शोकको दूर करने का समाचार मिलता है, तो मंत्री हृदय से प्रसन्न हो उठता है। लेकिन जब वह राजा से रानी के अन्तिम संस्कार की अनुमति चाहता है और राजा हँसते हुए अवसर बीतने की बात करता है तो मंत्री भौंचक रह जाता है। वह योगी से रुष्ट होकर कहता है कि बिच्छू से कटे हुए किसी आदमी को यदि साँपसे कटबाकर उसका दंश उतारा जाए तो यह उचित नहीं है।

देवतिलक, वास्तव में मंत्री है। वह राजा को वैराग्य पराङ्मुख करने के लिए धन- सम्पत्ति- राजलक्ष्मी सबकी दुहाई देता है, प्रशंसा करता है।

निर्द्धनता को अवांछनीय सिद्ध करता है। राज पदको वह अनेक जन्मोपार्जित पुण्यका फल बताता है, लेकिन राजा पर इसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, वह निर्वेद पर अटल है। जब रोते हुए बन्धुओं की ओर इशारा कर मंत्री राजा को मनाने का प्रयास करता है तो राजा इन बन्धुओं को सच्चा बन्धु ही नहीं मानता। मंत्री राजलक्ष्मी को परलोक में सहायता करनेवाली, हितकारिणी मानता है। वह शास्त्र पारंगत है, तभी तो वह राजा से कहता है कि बुढ़ापे में तृष्णा के चले जाने से आपको यह विज्ञान अनायास ही प्राप्त हो जाएगा। इसके पीछे अभीसे भागने की जरूरत नहीं। परन्तु जब राजा इतने मनाने परभी नहीं मानता तो मंत्री निःसहाय हो जाता है। वह योगीसे ही पूछ बैठता है अब क्या प्रतीकार है ? राजा अपने वैराग्य मार्ग में बोलते -२ जब यौवन को व्याधि से तुलना करता है, तो मंत्री उसका कारण पूछता है। जब - २ देवतिलक को मौका मिलता है, वह अपने कर्त्तव्य से चूकता नहीं है। वह कर्त्तव्यनिष्ठ और स्वामिभक्त है। जब राजकुमार को सामने करके रानी राजा को मनाने की चेष्टा करती है, तब वह राजगद्दी की ओर से दृढ़ खड़ा है -'दीयतामत्र प्रतिवचनम्'। लेकिन राजा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मंत्री धर्मशास्त्र के विषयों से परिचित है, वह 'स्वर्गसुख हेतवः पुत्रा इति तान् आद्रियन्ते महान्तः' कहकर पुत्रके महत्त्व को दरसात है। वह राजसम्पत्ति की भावी दुर्दशा से चिन्तित है, दुःखी है। मोटे तौर पर वह राजा और राज परिवारका, राजसम्पत्ति और राजलक्ष्मी का शुभ चिन्तक है। पग -२ पर अपना धर्म और कर्त्तव्य जानता है।

संक्षेप में यदि कहें तो चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी यह नाटक संस्कृत के उन विरल नाटकों में से एक है, जिनमें किसी नेता का चारित्रिक विकास दिखाया गया हो।

कर्महा-बेहटवंशीय महामहोपाध्याय

हरिहरोपाध्याय विरचित

भर्तृहरि-निर्वेद-नाटक

कर्महावंशीय म.म.मुकुन्द झा वख्शी निर्मित

सुखबोधिनी संस्कृत व्याख्या,

जर्मन विद्वान् डॉ. लुईस एच्.ग्रे कृत आंग्लानुवाद

तथा

विद्यावाचस्पति डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक'

कृत

'जयन्ती' हिन्दी टीका सहित

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र :-

सूत्रधार	-	नाट्य संस्थापक
राजा भर्तृहरि	-	नायक
मंत्री देवतिलक	-	नायक का विश्वासपात्र
योगी गोरक्षनाथ	-	सिद्ध महात्मा
कञ्चुकी	-	वृद्ध राजसेवक
दुराख्यायी पुरुष	-	राजा का दूत
परिजन	-	अन्तःपुर के राजसेवकवृन्द
राजकुमार	-	छोटा बालक

स्त्री-पात्र : -

रानी भानुमती	-	भर्तृहरि की पटरानी
नटी	-	सूत्रधार की पत्नी
चेटी (प्रथमा)	-	रानी की दासी
चेटी (द्वितीया)	-	रानी की दासी

अथ

भर्तृहरि-निर्वेद-नाटकम्

अथ प्रथमोऽङ्कः

शैत्यायायादृत्य मूर्ध्ना रजनि करकला जाह्नवी चोपनीता
यत्राङ्गोत्तापभीता पदमपि न जटाजूटतोऽधः प्रपेदे।
प्राणान्हातुं निपीतं विषमपि हृदयं नाविशद्दाहभीत्या
शंभोःसत्या वियोगं तमपि शमितवत्यस्तु शान्तिःशिवाय॥ १॥

नमो गणाधिपतये सर्गस्थित्यन्तकारिणे।
अज्ञानतिमिराराातिवालशीतांशुधारिणे॥ १॥
मिथिलादेशजनिमान् श्रीमान्[1] हरिहरो बुधः।
श्रीमद्भर्तृहरे राज्ञो[2] निर्वेदं[3] नाटके[4] ब्रुवन्॥ २॥

---

१. एतस्य समयादिकं भूमिकातोऽवगन्तव्यम्।

२. अयञ्च उज्जयिनीनायकस्य विक्रमार्कस्य ज्यायान् वराहमिहिराचार्यस्य च कनीयान् शवरस्वामिपादानां जौमिनीयन्यायभाष्यकृतान्तनयो वैयाकरण•शिरोमणिर्विरक्तजनाग्रणीर्म्महाराजोयस्य समयो वर्त्तमान १९६८ विक्रमार्कसमयादेव सुखबोधः। यद्विषये च प्रसिध्यति पद्यमदः -

ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणीः
राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्।
वैश्यायां हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शङ्कुः कृती
शूद्रायाममरः षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः॥ इति

•एतत्प्रणीतं सारनामकं ग्रन्थरत्नं पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यव्याख्याभूतं यस्य सारवत्ता लोकोत्तरैव। यदाधारेण काश्मीरिको महावैयाकरणः कैय्यटो महाभाष्योपरि प्रदीपं निरमात्। यद्भूमिका च वाक्यपदीय नाम्नी पद्यवद्धाऽधुनाऽपि विपश्चितामपश्चिमदर्शना संचकास्ति। यस्य (वाक्यपदीयस्य) व्याख्यातारौ हेलाराजपुञ्जराजौ समकालिकावेव प्रायो भ्रातरावास्ताम्। वाक्यपदीयं च वाक्यपदे अधिकृत्य कृतो ग्रन्थ इत्यर्थे (शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजनादिभ्यश्छः (पा. ४.३.८८) इतिसूत्रेण छप्रत्ययान्तं नाम। अस्य हरिरित्यपि नाम। अत एव

संसारबन्धसम्भूतिकर्मनिर्मूलनक्षमाम्।

शान्तिं नान्द्यां[4] स्तुवन्सभ्यान् सभाजयति[6] चाशिषा ॥ ३ ॥

शैत्यायेति । यत्र यस्मिन्सतीवियोगे शम्भुना[7] शैत्याय वियोगदुःखाग्नितापशमनाय रजनिकरस्य चन्द्रस्य कला षोडशो भागः (द्वितीयाचन्दविम्बं) जाह्नवी गङ्गा च उपनीता सादरं मूर्ध्नि स्थापिताऽपि अङ्गोत्तापेन शिवस्य दुर्विषहदेहोष्मणा भीता सती जटाजूटतः जटाबन्धादधः पदं किञ्चिदपि न प्रपेदे प्राप्ता किन्तु तत्रैव सन्ततं स्थिता। ततश्च अनायत्या[8] प्राणान् हातुं त्यक्तुं विषं कालकूटगरलं निपीतम् तदपि दाहभीत्या देहोष्मसन्तापभयेन हृदयं नाविशत् हृदये न प्रविवेश । किन्तु शितिकण्ठतामापादयत् कण्ठ एव तस्थौ तं तादृशमपि शम्भोः शिवस्य सत्या दक्षपुत्र्या सह वियोगं सुचिरविश्लेषजनितदुःखं शमितवती शान्तिरूपशमरूपा शिवाय शाश्वतकल्याणाय अस्तु सामाजिकानामिति शेषः । 'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभमि'त्यमरः ॥ १ ॥

एतेन शबरस्वामिनश्चतुर्षु वर्णेषु यथाम्नायपत्नीपरिग्रह आसीदित्यवगम्यते। यद्विषये च (सहस्रं शाखा ह्यर्थतो वेद शवर) इति सामबिदो बदन्ति।

३. निर्वेदो वैराग्यं, स्वावमाननमित्येके संसारे हेयत्वबुद्धिजनित आत्मोद्बोध इति वयम्।

४. नाटकलक्षणमुक्तं साहित्यदर्पणे-

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम्। विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः॥ सुखदुःखसमुद्भूतिनानारसनिरन्तरम्। पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः॥ इत्यादि। सुखदुःखाभ्यां समुद्भूतिः सम्भवो यस्येति तदर्थः ॥

५. एतल्लक्षणमनुपदमुपरिष्टाद्व्यक्तीभविष्यति।

६. सभाजप्रीतिदर्शनयोः (चु.उ.से.) णिजन्तस्य रूपम् आनन्दयतीति तदर्थः। तथा चामरोऽपि (आनन्दनसभाजने) इति।

७. एतच्च शम्भोरिति तुरीयपादस्थस्य षष्ठ्यन्तस्यैवार्थवशाद्विपरिणतौ वोध्यं कर्त्तृलाभाय।

८. अगत्या।

तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना।

इति कैय्यट उक्तप्रदीपस्यादौ निबवन्ध । तथाच भर्त्तृपदं प्रजापोषकत्वख्यापकम्। यथा तदनुजस्य विक्रमस्य नाम्न्यादित्यपदं प्रचण्डप्रतापवत्त्वख्यापकमिति वाढमुत्पश्यामः।

प्रथम प्रथित 'हरिहर' को नमकर गुरुवर का गुरु-कार।
करता कर-तारक तारणि-तट रख नाम 'जयन्ती' तार॥

(प्रथित=प्रसिद्ध, हरिहर=विष्णु एवं शिव अथवा हरिहर कवि, गुरु-कार=प्रणाम अथवा पूजन, कर-तारक=हाथ से तारने वाला-व्याख्यान विशेष, तारणि-तट=तारिणी नामक अपनी दादी के तट किंवा घट किंवा घर में, तार=उत्तम।)

पत्नी सती के दग्ध हो जाने के बाद भगवान् शिव अत्यन्त विलाप करने लगे। उनके वियोग में शिवजी इस प्रकार जल रहे थे कि उस असह्य ताप को शान्त करने के लिए भाँति-भाँति के उपाय करने लगे -

अपने उस वियोगाग्नि-ताप को दूरकरने के लिए तथा शीतलता पाने के व्याज से भगवान् शंकर ने अपने मस्तक पर चन्द्रमा की कौमुदी (चान्दनी) एवं गंगा को धारण कर लिया। परन्तु ये दोनों वियोगाग्नि में जल रहे शिवजी के शरीर की तपन से भयभीत होकर उनके जटामण्डल से एक पग भी आगे बढ़ न सके। फलतः बेचैन शिवजी अपने प्राण को त्याग देने के उद्देश्य से कालकूट विष को भी पी गये। परन्तु वह विष भी जलने के डरसे शिवजी के हृदय तक न जा सका और उनके कण्ठ में ही रह गया। इस प्रकार पत्नी वियोग रूपी ताप को जब किसी भी उपाय से शान्त और शीतल न किया जा सका, तो जिस शान्ति के द्वारा वह शान्त हुआ, वही शान्ति (शान्तरस) आप सबों के लिए कल्याणकारिणी हो।

Induction

(INVOCATION)

All glory be to Siva, on whose head
The crescent moon descends to cool his brow,
While from his locks the Gangas dares not fall
E'en at his feet, awed by his fervent flame;
Within whose heart, for terror of its fire,
The venom of the demons feared to come,
What time with steadfast soul and calm he bears
His parting from his spouse, fair Parvati.

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः - अलमतिविस्तरेण। भो भोस्त्रिभुवनतरु (प्रभृति) बीजभूतस्य भगवतो भूतपतेर्भैरवेश्वरस्य यात्रायां सुलभाः सामाजिकाः ! श्रीहरिहरप्रणीतेन भर्तृहरिनिर्वेदनाम्ना शान्तरसप्रधानेन नाटकेन तानुपासितुमीहामहे। तत्रभवन्तः सावधाना भवन्तु। यतः -

नान्द्यभिनयेन कथां प्रस्तावयति नान्द्यन्ते सूत्रधार इति। नान्दीनाम नाट्यारम्भे रङ्गविघ्नोपशान्तये कुशीलवैः प्रयुज्यमानाऽऽशीर्वचनसंयुक्ता देवद्विजनृपादीनां स्तुतिः। तथा चोक्तं दर्पणे

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति सा नान्दी प्रोच्यते बुधैः॥ इति
आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनान्तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥ इति च।

नन्दन्ति सामाजिका अस्यामित्यधिकरणसाधनस्य 'दिवाविभानिशे' त्यादि (३-२-२१ पा. सू.) निपातनात् साधुत्वम्। तस्या अन्ते सूत्रं नाटकीयमामुखवाक्यं धरतीति सूत्रधारः 'कर्मण्यण्' (३-२-१) नाटकीयप्रधानकथासूचकः नटप्रधानम् पुमान्नाटकाचार्य इति यावत्। तल्लक्षणन्तु -

चतुरो नाट्यनिष्णातोऽनेक भूषासमावृतः।
नानाभाषणतत्त्वज्ञो नाट्यशास्त्रार्थतत्ववित्॥
नानागतिप्रचारज्ञो रसभाषाविशारदः।
वेशोपचारचतुरो नानाशिल्पकलान्वितः॥
छन्दोविधानतत्वज्ञःसर्वशास्त्रविचक्षणः।
तत्तद्गीताद्यभिनयकलातालावधारणः॥
अवधाय प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशकः।
एवं गुणगणोपेतः सूत्रधारोऽभिधीयते॥ इति।

अलमिति। नान्दीपाठेनैव समयो न नेतव्य इति भावः। भो भोरिति पात्रोद्देश्यकं सम्बुद्धिवचनम्। त्रिभुवनमेव तरुस्तस्य बीजभूतस्य वीजवन्निमित्तकारणस्य त्रिजगत्स्रष्टुरिति यावत्। कल्पादौ तदीयसिसृक्षावशादेव परमाणवः मिथः संसृज्य द्वयणुकादिक्रमेण जगदुपादानं भवन्ति। प्रलये च वियुज्यन्त इति स्थितिन्तार्किका मन्वते। भैरवेश्वरो महेश्वरः। सामाजिकाःसभ्याः अत्र सन्तीति शेषः। तान् नाटकेनोपासितुमीहामहे इत्येवमन्वयः।

नान्दी के बाद -

सूत्रधार - अधिक विस्तार करना व्यर्थ है (अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं)। हे ! त्रिभुवनतरुरूपी बीजभूत-भूतनाथ-भैरवेश्वर की यात्रा में उपलब्ध-सुलभ-सामाजिक दर्शकवृन्द ! आज हम आप सबों का श्रीहरिहर उपाध्याय प्रणीत भर्तृहरिनिर्वेद नामक शान्तरस प्रधाननाटक के द्वारा मनोरञ्जन करना चाहते हैं। अतः आप सब सावधान हो जाँये। क्यों कि-

(End of the invocation)

(Enter the Stage - Manager)

STAGE MANAGER : No more delay ! Hear ye ! Hear ye ! At the festal season of the Dread Lord, Sovereign of the Shades, the Mighty One, who is the very seed of the tree of the three fold world, an audience may easily. Be assembled. The play we would present was written by great Harihara, and bears the title of "The Renunciation of Bhartrhari," being devoted to the delightsomeness of tranquillity. Be ye then attentive, for,

शृङ्गारादिरनेकजन्ममरणश्रेणीसमासादितै-
रेणीदृक्प्रमुखैः स्वदीपकसखैरालम्बनैरर्जितः।
अस्त्येव क्षणिको रसः प्रतिपलं पर्यन्तवैरस्यभू-
र्ब्रह्माद्वैतसुखात्मकः परमविश्रान्तो हि शान्तो रसः ॥ २ ॥

इतररसवैलक्षण्येन शान्तरस[1]मुपश्लोकयति - शृङ्गारादिरिति। अनेकाभिर्जन्ममरणानां श्रेणीभिः। परम्पराभिःसमासादितैः सम्प्राप्तैः। स्वदीपकसखैः चन्द्रचन्दनकोकिलादि[2] स्वोद्दीपनविभावसहायैः। एणीदृक्प्रमुखै मृग[3]नयनादिभिरालम्बनैरालम्बनविभावैरर्जित आस्वादनयोग्यतामापादितः शृङ्गारादीरसः अस्त्येव। परं स क्षणिकः क्षणविनश्वरः। यतो हि प्रतिपलमनुक्षणं (सर्वदा) पर्यन्ते परिणामे वैरस्यभूः विरसतासम्पादकः। नह्यनुभूयमानः शृङ्गारादिरनुभवितारमेकरूपतयाऽनारतं सुखयत्यपि तु प्रतिक्षणविलक्षणेन क्षणभङ्गुरेण रूपेण स्वस्मिन् वैरस्यमावहतीति न स सहृदयेन सन्ततमासेवनीयः। परं केवलं ब्रह्माद्वैतसुखात्मकः ब्रह्मात्मैक्यसुखानुभवरूपः शान्तो रसः अविश्रान्त एकरूप एव सर्वदाऽस्तीति न तत्साम्यमन्येषामष्टानामविरसानामिति भावः। हिशब्दोऽत्रावधारणे। 'हि हेतावधारणे' इत्यमरः॥ २॥

शृंगारादि आठों रस तो अनेक जन्म-मरण की परम्परा से सम्प्राप्त अपने-अपने आलम्बन-उद्दीपन विभावों की सहायता से आस्वादन योग्य होते हैं। (अर्थात् चन्द्र-चन्दन-कोकिलादि स्वकीय उद्दीपन विभावों से युक्त होकर वे मृगनयनी आदि आलम्बन विभावों से अर्जित होते हैं)। तथा ये सभी आठों रस अस्थायी हैं, क्षणभंगुर हैं। बाद में नीरस अथवा विरस हो जाने के कारण क्षणिक हैं, जो कि अन्त तक सुख नहीं दे सकते। जब कि ब्रह्माद्वैतसुखात्मक यह शान्तरस परम् अविश्रान्त है। अर्थात् यह शान्तरस शुरु से अन्त तक अविश्रान्त रूप से निरन्तर रहता ही है, क्यों कि यह रस ब्रह्म और आत्मा (आत्मा और परमात्मा) का एकमात्र सुखात्मक है किंवा एकात्मक सुख स्वरूप है॥ २॥

Love and all earthly weal may not be gained
Save by the awful eyele o'er and o'er

---

१. श्लोकेनोपस्तौति। २. स्वं शृङ्गारादी रसः।

३. मृगनयना वराङ्गना (कामिनी)।

From birth to death and death to birth again,
While fawn-eyed girls aid in this moekery,
And they that falsely say they are thy friends.
All fleeting are earth's joys, but that great bliss
That knoweth there is naught save only Brahm.
Alone is blesse'd through his holi peace.

तद्यावद्गृहिणीमाहूय प्रवर्तयामि प्रयोगम्।

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य।) आर्ये! इत इतः।

नटी - (प्रविश्य) अज्ज! इअह्मि। [आर्य! इयमस्मि।]

सूत्रधारः - (विलोक्य) आर्ये, किमुद्विग्नेव लक्ष्यसे?

नटी - महन्तं खुकालं तुमं अन्तरिदोसि त्ति उव्विग्गह्मि। [महान्तं खलु कालं त्वमन्तरितोऽसीत्युद्विग्नास्मि]

सूत्रधारः - आर्ये! ज्योतिर्विदा केनापि श्रावितं किमपि प्रतिकूलं शमयितुं शान्तिजापकाननुकूलयितुं गतः। ततोऽहं विलम्बितः।

नटी - अह तं संवुत्तम्। [अथ तत्संवृत्तम्।]

सूत्रधारः - अथ किम्?

नेपथ्यम्। रङ्गान्तर्वर्त्ति वस्त्रपिहितं स्थानं रङ्गज्येतिनामान्तरम्। तथा च मेदिनी 'नेपथ्यः स्यादलङ्कारे रङ्गज्यायां न पुंसकमि'ति। इत इत इति। अस्यां दिशीत्यर्थे 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (५-४-४४ वा.) इति तसिः। 'इदम इश्' (पा. ५-३-३) इति इशादेशः। 'आभीक्ष्ण्ये द्विर्भाव' (पा.८-१-४) 'आदरातिशयेन' ८-१-१२) सम्भ्रमे वा। तथाच वार्त्तिकम् - 'सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्ध' इति। आगम्यतामिति शेषः। 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिके' ति वार्त्तिकस्वरसात्सप्तमी। किमपि। ग्रहविशेषस्वरूपम्। शान्तिजापकान् शान्तिमन्त्रपाठकान्। अनुकूलयितुम् दक्षिणादिभिः अनुकूलान्कर्तुम्।

अतः अब मैं अपनी गृहिणी को बुलाकर नाट्यरूपी इस प्रयोग में

तत्पर होता हूँ । (नेपथ्य की ओर देखकर) प्रिये ! इधर, इधर तो आओ।

नटी- (प्रवेश करके) आर्य ! (हे नाथ) ! यह मैं हूँ (लो मैं आ गई।)

सूत्र. - (देखकर) प्रिये ! चिन्तित सी क्यों दिख रही हो ?

नटी - बहुत देरतक तुह्मारा वियोग हुआ (बहुत देर तक तुम बाहर थे), इसी कारण उद्विग्न हूँ।

सूत्र. - प्रिये ! किसी ज्योतिषी से कुछ प्रतिकूल ग्रहदशा को सुनकर उसे शान्त करने के लिए शान्तिजाप करने वाले आचार्यों को अनुकूल करने के लिए मैं चला गया था। इसी कारण विलम्ब हो गया।

नटी - तो क्या, वह सफल हुआ ?

सूत्र. - और क्या ?

Now I'll call my wife and go on with the play. (Turns toward the wings) This way, my dear !

ACTRESS : (Enter an Actress) Here I am, my love !

STAGE MANAGER : (looking at her closely). Why do you seem disturbed, dear wife ?

ACTRESS : You've been away so long ! That's why I was anxious.

STAGE MANAGER : My love, I went to persuade a priest to bless me, in order to avert a misfortune an astrologer warned me of. That's the reason for my delay.

ACTRESS : Ah them, 'tis well.

STAGE MANAGER : It is indeed, and

कर्मणः शान्तिकस्यान्ते कान्ते त्वामहमागतः।
एष भर्तृहरी राजा भार्यां भानुमतीमिव ॥ ३ ॥

(इति निष्क्रान्तौ। प्रस्तावना समाप्ता।)

कर्मण इति। हे कान्ते ! अहं शान्तिकस्य प्रतिकूलग्रहप्रशमनार्थस्य कर्मणः अन्तेऽवसाने (समाप्तौ सत्यां) त्वाम्प्रति आगतोऽस्मि, यथा एष प्रस्तोष्यमाणो भर्त्तृहरिः राजा भानुमतीन्तन्नाम्नीं भार्याम्प्रति समुपागत

आसीदित्यर्थः ॥ ३ ॥ प्रस्तावना। प्रस्तुतोद्भावनम्। तल्लक्षणं यथा -

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्म्मिथः।
आमुखन्तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनेति सा ॥ इति,
सा चाऽत्राऽबलगिताख्या। यदुक्तम् -
यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते।
प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नाऽबलगितं बुधैः ॥ इति

हे प्रिये ! मैं भी शान्तिकर्म के अन्त में तुह्मारे पास उसी प्रकार आ गया हूँ, जिस तरह यह राजा भर्तृहरि अपनी पत्नी भानुमती के पास आया है ॥३॥

(दोनों जाते हैं। प्रस्तावना समाप्त होती है।)

Now, dear, my holy errand's done, and lo,
In haste I come to thee, as to his spouse
Bhanumati king Bhartrhari came.

(Exeunt) (End of the Induction)

(ततः प्रविशति सद्यः समागतो राजा, सोद्वेगा भानुमती विभवतश्च परिवारः।)

राजा - **(निर्वर्ण्य।) नूनमियमेवं चिन्तयन्त्यासीत्।**

निर्वर्ण्य । आलोक्य । 'निर्वर्णनन्तु निध्यानन्दर्शनालोकनेक्षणमि' त्यमरः । **नूनम्** । तर्कयामि । 'नूनं तर्केऽर्थनिश्चय' इत्यमरः । इयमेवमनुपदवक्ष्यमाणप्रकारेण चिन्तयन्ती आसीत् 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वे' (पा.३.३.१३१) ति वर्त्तमानसमीपे भूते लङ् ॥

(उसके बाद, रानी भानुमती उद्वेगमना बैठी है और उनके साथ परिजन भी बैठे हैं, फिर सद्यः समागत राजा का प्रवेश होता है।)

राजा - (भली भाँति देखकर) निश्चय ही यह यही सोच रही थी कि -

(Enter suddenly, as if just arrived, the KING, BHANUMATI, who seems much agitated, and a band of retainers)

KING : (seeing Bhanumati). She has been anxious indeed !

न द्यूते रमते मनोऽस्य मृगयाकालोऽपि नालोक्यते
विश्लिष्टस्य चिरान्मया च सुहृदां गोष्ठीरसः कीदृशः ।
कस्याश्चित्तदरालपक्ष्मलदृशः प्रायोऽनवद्याकृते-
रद्याहारि परेण चारिमचमत्कारेण तस्यान्तरम् ।। ४ ।।

(सापवादमिव ।)

न द्यूत इति । अस्यास्मत्प्राणवल्लभस्य राज्ञो भर्तृहरेर्म्मनो द्यूतेऽक्षक्रीडाविशेषे न रमते कदापीति शेषः । सम्प्रति मृगयामृगरमणमाखेटः 'आखेटो मृगया स्त्रियामि' त्यमरः, तस्याः कालोऽपि नालोक्यते । मया चिराद्बहुकालेन विश्लिष्टस्य तस्य सुहृदां मित्राणां गोष्ठीरसः स्वाच्छन्द्यकथारसानुभवोऽपि कीदृशः । न कुतश्चित् कथञ्चिदपि दृष्टश्रुतपूर्व इति भावः । तत्तस्मात् अनवद्याकृतेरतिरमणीयस्वरूपायाः कस्याश्चित् अरालपक्ष्मलदृशः सुन्दरकटाक्षवत्याः 'अरालं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः । परेणोत्कृष्टेन [1]चारिमचमत्कारेण चारुतातिशयेन तस्य राज्ञ अन्तरेव आन्तरं मनः प्रायोऽहारि हृतमिति सम्भावयामि ।

'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः ।'
इति जयदेवः । तादृशः क्रियासङ्गतः ।। ४ ।।

सापवादमिव । सविश्वासमिव । 'अपवादस्तु निन्दायामाज्ञा-विश्रम्भयोरपी' ति मेदिनी । 'समौ विश्रम्भविश्वासा' विति चामरः । निर्वर्ण्येति पूर्वेणाभिसम्बन्धोऽस्य ।

मेरे प्राणवल्लभ राजा (भर्तृहरि) का मन द्यूतक्रीड़ा में नहीं लगता, यह शिकार पर जाने का समय भी नहीं है, मुझसे अधिक देर तक वियुक्त होने के कारण मित्रों के साथ बातचीत में लीन होकर आनन्द ले रहे होंगे - यह बात

---

१. चारु सुन्दरम् 'सुन्दरं रुचिरं चार्वि' त्यमरः । तस्य भावश्चारिमा 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वे' ति (५.१.१२२) भावे इमनिच् प्रत्ययः 'टे' रिति (पा. ६.४.१५५) टिलोपे चारिमन्शब्दः साधुर्भवति ।

भी नहीं हो सकती। (तब फिर इतनी देरतक जो वे मुझसे अलग हैं उसका कारण क्या है ?) लगता है कोई अनिन्द्यसुन्दरी कटाक्षवाली युवती ने उनके हृदय को अपने सौन्दर्य चमत्कार से चुरा लिया है ॥ ४ ॥

(विश्वास करते हुए)

No joy was mine in hunting or in dice,
The converse of my friends fell on deaf ears,
For she was not beside me, but today
Within her beauteous eyes I'll gaze again,
And in mine arms her blameless form shall rest !

(Aside)

चिरविस्मृतमधुरस्मितमुन्नमितभ्रूलतं वदनमस्याः ।
निगदति निरवधिचिन्तासंतापितमान्तरं तन्व्याः ॥ ५ ॥

(उपसृत्य ।) प्रिये ! किं विमनस्केव लक्ष्यसे ।

चिरेति । विचेण बहुकालेन बिस्मृतं मधुरं स्मितं येन तत्तथाभूतम् एवमुन्नमिते ऊर्ध्वाबलोकनेनो द्धर्वन्नमिते भ्रूलते लताकारे भ्रुवौ यस्य तत्तथाभूतमस्यास्तंन्व्याः कोमलाङ्ग्या मत्प्रियाया वदनं मुखं (कर्तृ) आन्तरं मनः (कर्म) निरवधिचिन्तयाऽविश्रान्तचिन्ताज्वरेण सन्तापितं निगदति कथयति सूचयतीति यावत् ॥ ५ ॥

बहुत पहले ही जिस मुख से मधुर हास (मुस्कान) विस्मृत हो गया हो तथा ऊर्ध्वावलोकन से जिस मुख की भ्रूलता, ऊपर-नीचाँ हो रही हो - ऐसा इस तत्वाङ्गी का मुख ही चिन्ता-सन्तापित हृदय को व्यक्त कर रहा है।

(समीप जाकर) प्रिये ! दुःखी-सी क्यों दिख रही हो ?

Alas ! her smile is gone, and knit her brow-
How burdened with its boundless grief her soul !

(Approaches her)

O Love ! why dost thou look so sad today ?

तावकीनैर्गुणैः प्रीतश्चिरक्रीत इव प्रिये ।
यद्यस्म्यनुचरश्चिन्ता किं तापयति ते मनः ॥ ६ ॥

(इत्यालिङ्गितुमीहते।)

भानुमती- ण क्खु अज्जउत्तस्य अह्मे अणुवत्तणिज्जा । [न खलु आर्यपुत्रस्य वयमनुवर्तनीयाः।]

तावकीनैरिति। हे प्रिये ! तावकीनैस्त्वदीयैर्गुणैःसौन्दर्यसौकुमार्य-वचनमाधुर्यादिभिः प्रीतः प्रसन्नः चिरेण (सुबहुना कालेन) क्रीतः स्वायत्तीकृतो गृहदास इवानुचरः सेवको यदि अहमस्म्येव। तदा चिन्ता इष्टसमीहाजनितो मनोविकारस्ते तव मनः (कर्म) किं कस्मात्तापयति ? नास्ति किमपि सन्तापकारणमिति भावः ॥ ६ ॥ ईहते चेष्टते। उदीर्यते उच्यते।

हे प्रिये ! तुह्मारे बहुविध गुणों के द्वारा प्रसन्न होकर अनन्तकाल तक खरीदा गया सेवक के जैसा मैं यदि तुह्मारे समक्ष तत्पर हूँ हीं, तो फिर किस बात की चिन्ता तुह्में या तुह्मारे मन को कष्ट दे रही है ?॥ ६ ॥

(इसके साथ राजा, रानी का आलिंगन करना चाहते हैं।)

भानु. - नहीं, मैं आर्यपुत्र (आप) के अनुवर्तनयोग्य नहीं हूँ (कि आप हमारे पीछे चलें या फिर आप अपने को 'अस्म्यनुचरः' कहें।)

Thy virtues won my heart in times long past;
What pain can e'er be thine if I be near ?
(Tries to embrace her)

BHANUMATI : I will not be pursued by thee, my lord !

राजा - किमिदमुदीर्यते ?

तन्वि त्वं निधिरेव सद्मनि कुले कल्याणकल्लोलिनी
काचिल्लोचनयोर्नवामृतलवासारावसेकक्रिया।
अङ्गे चन्दनपङ्कसंकरतरत्कर्पूरपूरप्लव-
स्तल्पे सौरतशिल्पकल्पलतिका तन्नाम किं नासि नः ॥ ७ ॥

अपि च -

तन्वीति। हे ! तन्वि ! कोमलाङ्गि ! त्वं सद्मनि गृहे 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनमि' त्यमरः। निधि र्निधानमेवासि। त्वन्मूलकमेव सर्वं

गृहसुखमविच्छिन्नमनुवर्त्तत इति भावः । एष हि निधिस्वभावो यत्स्वामिनमेकरूपेणानारतं स सुखयति न च क्षीयते यथाकामव्ययेनापीति। कुले वंशे कल्याणानां मङ्गलानां कल्लोलिनी महोर्म्मिशालिनी (सन्ततप्रवाहिणी) नदी असि। त्वन्मूलकमेव हि कुले कल्याण परम्परा-निरन्तरमनुवर्त्तत इति भावः। लोचनयोर्नयनयोः काचिदनिर्वचनीयस्वरूपा नवा नूतना अमृतलवानाममृतकणानाम् 'लवलेशकणाणव' इत्यमरः। सम्पातेन अवसेचनमवसेकस्तत्क्रियाऽसि। तद्वत्[1] त्वद्दर्शनं नेत्रे सुखयतीति भावः। अङ्गे वपुषि चन्दनपङ्केन सङ्कर उन्मिश्रणमेकीभावो यस्य तथाभूत एवं तरन्नाविलीभवन्नुपरि स्यन्दमानो वा कर्पूरस्तच्चूर्णं यत्र तथाभूतो यः पूरः प्रवाहः। 'पूरः स्यादम्भसां वृद्धौ ब्रणसंशुद्धिखाद्ययो'रिति हैमः। तस्मिन्प्लवोऽवगाहनं कर्पूरपरागोन्मिश्रचन्दनपङ्काऽऽलेपनम् असि तद्वत्सुखयसीत्यर्थः। तल्पे शय्यायाम् 'तल्पं शय्याट्टदारेष्वि' त्यमरः। सौरतशिल्पस्य सुरतक्रियाकौशलस्य कल्पलतिकासि। इच्छानुरूपसुरत-सुखप्रदानकुशलासीत्यर्थः। किं बहुना तत् किन्नाम वस्तु प्रियतमं लोके प्रसिद्धं यत्त्वं नोऽस्माकं नासि। सर्वम्प्रियतमं वस्तु त्वमेवासीति भावः। 'नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः। प्राकाश्यं प्रसिद्धिः॥ ७॥

राजा - यह क्या कह रही हो ? हे कोमलाङ्गी ! तुम तो हमारे घरमें निधि (सम्पत्ति की खान)ही हो, कुलमें कल्याणकारिणी सतत प्रवहमाना नदी हो, आँखों के लिए कोई अनिर्वचनीय अमृतकणों से की गई सिंचन क्रिया हो, अङ्गों के लिए चन्दन पङ्क (घिसे हुए श्रीखण्डचन्दन) से युक्त तथा तैरते हुए कर्पूर पूरितजल पवाह के समान (शीतलता दायिनी) हो, साथ ही शयनशय्या पर सुरतकला की कल्पलता हो - इस प्रकार (हे देवि !) तुम हमारे लिए क्या ऐसी वस्तु है, जो नहीं हो ? अर्थात् तुम मेरे लिए सब कुछ हो, उत्तम वस्तु और सुखदायिनी हो ॥ ७ ॥

और भी-

---

१. नूतनामृतकणासम्पातावसेकवत्।

KING : What words be these ?
O slender and most fair ! my throne's rich jewel,
Sweet stream of benediction to my house !
Why rain ambrosial tears from thy dear eyes ?
Why on thy limbs in such confusion strange
Doth camphor with thy sandal-unguent mix ?
Ah, come ! and as a tendril clasp me close
Within thy rounded arms, for thou art mine !

Nay, More than this,

त्वत्कान्त्या मम कौमुदीसमुदयस्यारोचने लोचने
प्रस्यन्दः पृषतामथेन्दुदृषदामङ्गप्रसङ्गस्तव।
पीयूषस्य घटीमपि श्रुतिपुटी वाचा तवाचामति
प्राप्यं पुण्यशतैरितः किमधिकं सद्मापि पद्मापतेः ।। ८ ।।

भानुमती - अज्जउत्त ! अलिअं क्खु एदम् । अण्णधा कहं एत्तिअं कालं णिरणुक्कोसो भविअ अण्णत्थ गमेसि । ण क्खु जाणादि अज्जउत्तो जं खणं पि असहणं मम जीविणं तुह विओअस्स । [आर्यपुत्र ! अलीकं खल्वेतत् । अन्यथा कथमेतावन्तं कालं निरनुक्रोशो भूत्वा अन्यत्र गमयेः । न खलु जानात्यार्यपुत्रो यत्क्षणमप्यसहनं ममजीवितं तव वियोगस्य ।] (इति रोदिति ।)

राजा - देवि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । गतोऽहमितो भागीरथीतीरं ज्योतिर्विदा केनचिदुपदर्शितं प्रतिकूलं शमयितुम् । तत्र च ब्राह्मणपरतन्त्रतया स्थितोऽस्मि, न पुनर्निरनुक्रोशतया। पश्य--

त्वत्कान्त्येति । त्वत्कान्त्या हेतुभूतया मम लोचने (कर्तृभूते) कौमुदीसमुदयस्य चन्द्रिकाप्रादुर्भावस्यारोचने अनास्वादके स्तः । त्वत्कान्तिदर्शनसमनन्तरं चन्द्रिकाऽपि मन्नेत्राभ्यां न रोचते इत्यर्थः । अथानन्तरं

तवाङ्गप्रसङ्गः शरीरालिङ्गनमिन्दुदृषदां चन्द्रकान्तमणीनां तत्सम्बन्धिनां पृषताम्बिन्दूनां 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः पुमांस' इत्यमरः । प्रस्यन्दः प्रवाहः यथेन्दुकरसम्पर्काच्चन्द्रकान्तमणिराह्लादातिरेकादब्बिन्दुरूपमानन्दरसं प्रकर्षेण वहति तथा त्वदङ्गसम्पर्कात्कामाग्निसन्तप्तं ममाङ्गं चन्द्रकान्तमणि-स्यन्दवच्छीतलजलस्नानसुखमनुभवतीत्यर्थः । तव वाचा हेतुभूतया मे श्रुतिपुटी कर्णपुटी पीयूषस्यामृतस्य 'पीयूषममृतं सुधे' त्यमरः । घटीमपि आचामति । आचमनगण्डूषेन थूत्कृत्य तिरस्करोति । त्वद्वाग्रसतृप्तं श्रुतियुगलममृतरसमपि नाकाङ्क्षतीत्यर्थः । इत्थञ्च पुण्यशतैः प्राप्यं पद्मापतेर्लक्ष्मीपतेः 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मे' त्यमरः । सद्म वैकुण्ठभवनमपि इतोऽस्मान्मत्सद्मनोऽधिकं किं ? न कथञ्चिदप्यधिकमित्यर्थः । तत्र पुण्यशतैर्गत्वा यावान्सुखरसोऽनुभूयते तावान्सर्वोऽपि त्वत्सनाथेन मयाऽत्रैव लभ्यत इति न मत्सद्मनोऽधिकं पद्मापतेः सद्माप्यस्तीति भावः ॥ ८ ॥

प्राकृते असहनमिति नन्द्यादिल्युडन्तं कर्तृपदम् । वियोगस्येति कर्मपदम् ।

तेरी कान्ति (सौन्दर्य) से आह्लादित मेरे नयन चन्द्रमाकी क्रान्ति (चन्द्रकला) में भी रुचि नहीं रखती है (अर्थात् तेरी प्रभा के आगे चन्द्रप्रभा भी मेरे नयनों के लिए तुच्छ है), तेरा शरीर सम्पर्क भी मेरे लिए चन्द्रकान्त मणि से निःसृत विन्दुओं का प्रवाह ही है (अर्थात् तुह्मारा अङ्गस्पर्श चन्द्रकान्तमणि से भी अधिक शीतलता प्रदान करनेवाला है।), तेरी वाणी से मेरे कान मानो अमृतपूर्णघट से ही कुल्ला करते हैं (अर्थात् मेरे ये कर्णद्वय तुह्मारी वाणी रूपी अमृतपान की तुलना में सुधापान भी नहीं करना चाहते।) इस प्रकार सैकड़ों पुण्यों से उपलब्धयोग्य लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के भवन भी इससे अधिक क्या हो सकता है ? अर्थात् तुह्मारे कारण मेरे भवन से बैकुण्ठ भी बीस नहीं है॥ ८॥

भानु. - हे आर्यपुत्र ! यह सब मिथ्या है, अन्यथा इतनी देरतक निर्दयता पूर्वक अन्यत्र क्यों गँवाते ? हे नाथ ! क्या आप यह नहीं जानते कि आपके वियोग में क्षण भर भी जीना मेरे लिये असह्य हो जाता है ? (मूँह छिपाकर रोने लगती है) ।

राजा - देवि ! धैर्य धरो, शान्त होओ ! किसी ज्योतिषी के द्वारा कहे गये अशुभ ग्रह की शान्ति के लिए मैं तो यहाँ से गंगा तट को गया था। वहाँ पर ब्राह्मणों की परतंत्रतावश रुक गया था, न कि किसी निर्दयता से। देखो तो सही -

'Tis only though thy beauty that mine eyes
Gain light, reflecting thee, the moon's soft sheen,
While that thy falling tears reveal the love
The starry queen doth bear her chosen jewel;
'Tis through thy voice mine ear sweet nectar drinks !
Yea, though I did an hundred deeds of good,
Or though I dwelt above with Laksmi's Lord,
What greater bliss than thee could I e'er find ?

BHANUMATI : This is not true, my lord ! Wert thou not heartless, how couldst thou pass so long a time away from me ? My lord knows not how each moment of his absence I yearn for him ! (Weeps)

KING : Be comforted, my queen, be comforted ! It was to Ganges' bank I went to avert a misfortune foretold me by an astrologer. I was there in obedience to a Brahman, not in hardness of heart. Lo,

निजकरपरिरम्भप्रीतिदायोपचारं
परिहरति किमिन्दुः पारयन्कैरविण्याः ।
यदि न मदिरनेत्रे कश्चिदस्यान्तरा स्या-
द्विधुरविधिनियोगादभ्युपेयो वियोगः ।। ९ ।।

भानुमती - अज्जउत्त ! अण्णारिसो सो सिणेहो जस्सिं पिअविरहिदा केरविणी णिमीजिअ वासराइं गमेदि। अह वा अहं विअ पुणो वि पिअदंसणस्स पच्चासाए जीआवीअदि ।

[आर्यपुत्र ! अन्यादृशः स स्नेहो यस्मिन्प्रियविरहिणी कैरविणीं निमील्य वासराणि गमयति। अथवा अहमिव पुनरपि प्रियदर्शनस्य प्रत्याशया जीव्यते।]

राजा - एवमेतत्।

निजेति। हे मदिरनेत्रे ! मदजनकनयने ! 'मदिरो मादके पुंसीति' हैमः । 'मदी हर्षे' किरच्। इन्दुश्चन्द्रः पारयन् शक्नुवन् स्वेच्छयेति यावत्। कैरविण्याः कुमुदिन्याः 'सिते कुमुदकैरवे' इत्यमरः। निजकरैः स्वकिरणैः स्वहस्तैरिति ध्वनिः। यः परिरम्भः सम्पर्कः। आलिङ्गनमितिध्वनिः। तेन (तत्कृता) या प्रीतिस्तस्याः ददातीति दायः 'श्याद्व्यधे' ति (पा.३.१.१४१) णः कर्त्तरि। 'आतो युगि' ति (पा.७.३.३३) युक्। स चासाबुपचारश्चेति कर्मधारयः सः। तन्तादृशमुपचारं खेदप्रशमोपायं परिहरति वञ्चयति किम् ? न परिहरतीति काकुः। कदा ? यदि कश्चिन्मेघादिरस्येन्दोरन्तरा मध्ये व्यवधायक इति शेषः। 'अथान्तरेऽन्तरा। अन्तरेण च मध्ये स्युरि' त्यमरः। न स्यात् तदा। विधुरयति विश्लेषयतीतिविधुरः सचासौ विधिश्चेति कर्मधारयः समासः तस्य विधुरविधे र्विश्लेषज्ञनकदैवस्य नियोगादाज्ञापारवश्यात्तु वियोगः। अभ्युपेयः स्वीकर्त्तव्यो भवतीति भविष्यद्विप्रयोगस्यापि सूचना 'वैकल्येऽपि च विश्लेषे विधुरं विकले त्रिष्वि' ति मेदिनी। 'विधिर्विधाने दैवेऽपी' त्यमरः॥ ९ ॥

हे मदिराक्षि ! क्या चन्द्रमा कुमुदिनी के ऊपर से स्वेच्छया अपने किरणों के सम्पर्क स्वरूप प्रीतिदायक उपचार (खेदप्रशमरूप उपाय) को यदि इन दोनों (चन्द्र-कुमुदिनी) के बीच दुर्भाग्यवश कोई अनिवार्य वियोग न हो तो हटा सकता है ? नहीं न ! ॥ ९ ॥

भानु. - हे आर्यपुत्र ! वह तो कोई दूसरा ही प्रेम होता है, जिसमें प्रिय विरहिणी कुमुदिनी पलक झपका कर ही सारा दिन बिता देती है। अथवा मेरे समान फिर वह प्रिय मिलन की आशा में जीती रहती है।

राजा - हाँ, ऐसा ही है।

Ne'er doth the moon, whose gentle rays soft kiss.
The timid lotus smiling but for him,
Turn from his love, except at Fate's decree.

BHANUMATI : Ah my lord ! There is another devotion which the lotus shows, when, her lover lost, she closeth her eyes, and thus maketh the days to pass. Like me, she liveth but in hope that she shall see her beloved again.

KING : And yet,

प्रायः प्रेयोविरहविधुरान्बन्धुरान्गन्तुमेव
प्राणानाशाप्रणयपरवन्मानसानां रुणद्धि।
नो चेदेवं किमु कमलिनी भानुभासा विना स्या-
त्किं स्यादस्या हिमकरकरानन्तरा कैरविण्याः ॥ १० ॥

(नेपथ्ये सकलकलो वादित्रनादः । उभौ जालमार्गेण विलोकयतः)

राजा - (सविस्मयम् ।) देवि ! जितं भवत्या यदियमनुमरणाय भर्तारमनुगच्छन्ती विरहदहनं सोढुमपारयन्ती विविक्षुर्दहनं पुरंध्रीणां प्रणयं कमपि महिमानमारोहयति। साधु।

प्राय इति। आशा (कर्त्री) प्रणयपरवन्मानसानां स्नेहपराधीनचित्तानाम् 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः । 'प्रणयः प्रसवे प्रेम्णि याञ्चाविश्रम्भयोरपी' ति मेदिनी । प्रेयोविरहेण प्रियतमवस्तुवियोगेन विधुरान्विकलान् अत एव गन्तुमेव बन्धुरान् उन्नतानतान्[1] इत्येके नम्रानित्यपरे[2] सपदि समुद्युक्तानिति वयम् । प्राणान् प्रायोरुणद्धि निवारयतीति समुत्प्रेक्षे[3] । एवं नोचेत् तर्हि कमलिनी भानुभासा सूर्यकरसम्पर्केण विना स्याद्भवेत्किमु ?

---

१. यत्स्वभावादुन्नतमुपाधिवशादीषन्नतं च तद्बन्धुरमित्यमरटीका । (बन्धुरन्तून्नतानतमिति) हि विशेष्यनिघ्नेष्वमरः ।

२. 'बन्धुरः शोभने नम्रे' इतिमेदिनी।

३. प्रायः शब्दस्वरसादित्युक्तमधस्तात् ।

नैव भवेदित्यर्थः । अत्र उशब्दो वितर्के[४] । किं शब्दः प्रश्ने । अथ च हिमकरकरान अन्तरा चन्द्रकिरणैर्विना 'अन्तरा अन्तरेण युक्त' इति (पा. २.३.४) द्वितीया । 'अन्तरा च पृथग्वर्ज्जे' इत्यव्ययकोशः[५] । अस्याः कैरविण्याः कुमुदिन्याः किं रूपं स्यात् । तस्मात्प्रियसङ्गमाशैवासां जीवनमूलमिति भावः ॥ १० ॥

विविक्षुरिति प्रवेष्टुमिच्छुः । विश प्रवेशने सन्नन्तात् 'सनाशंसभिक्ष उः' इति (पा. ३.२.१६८) उप्रत्ययः । पुरन्ध्रीणां पतिपुत्रवतीनां स्त्रीणाम् । प्रणयं स्नेहम् । कमपि अनिर्वचनीयम् ।

स्नेहाधीन चित्तवाले जो लोग हैं, उनके प्राण, जो प्रियतम के विरहसे विकल होकर जाने के लिए तैयार रहता है - को प्रायः प्रणयमिलनकी आशाही रोक रखती है । नहीं तो, सूर्य किरण के सम्पर्क के विना वह कमलिनी क्या रह सकती है ? या फिर चन्द्रप्रभा (चान्दनी) के बिना उस कुमुदिनी का क्या हाल होता ? ॥ १० ॥

(नेपथ्य में कोलाहल सहित वाद्ययंत्र की आवाज होती है । दोनों खिड़की से देखते हैं ।)

राजा - (आश्चर्यपूर्वक) हे देवि ! आपने तो जीत ही लिया, क्यों कि यह जो स्त्री अपने मृतपति के पीछे जाती है वह मरने के लिए विरहानल को सहन करने में असमर्थ है तथा आग में प्रवेश चाहती है । जिससे वह पुरन्ध्री स्त्रियों के प्रेम को किसी उत्कृष्ट महिमान पर उठा रही है । धन्य है ।

Let not thy tender soul, weighed down by grief,
Distraught by separation from thy love,
Depart to realms unknown, bereft of hope !
What were the lotus blue without the sun,
Or the white lote without the moon's soft rays ?

---

४. उ सम्बोधनरोषोक्त्योरनुकम्पानियोगयोः ।
वितर्केऽनुनये पादपूरणेऽपि च दृश्यते । इति मेदिनी ।

५. अयञ्च महादेवकृतो मुद्रितद्वादशकोशान्तर्गतः ॥

(A sound of music and murmurs without. Both look through the lattice window)

KING : (In astonishment). My queen, thou hast conquered ! Here a wife followeth her lord in death, and since she cannot bear separation's fire, she will straightway enter the flames, kindling all matrons' esteem to lofty fervor. 'Tis true indeed !

सतीनां वः पत्यौ प्रणयपरिपाकस्य महिमा
किमाख्येयो यस्मिन्मृदुकुसुमतल्पीयति चितिः ।
अपि ज्वाला वह्नेर्मलयजरसीयन्ति विधुताः
कृतान्तोऽपि क्रूरः कुसुमविशिखीयन्विलसति ।। ११ ।।

भानुमती - अज्जउत्त ! एदं पि एदाणं ववसिदं असरिसं जेव्व पणअस्स, जं झत्ति पज्जलिअं विरहाणलं परिहरिअ चिदाणलं अवेक्खन्ति। [आर्यपुत्र ! एतदप्येतासां व्यवसितमसदृशमेव प्रणयस्य, यज्झटिति प्रज्वलितं विरहानलं परिहृत्य चितानलमपेक्षन्ते ।]

राजा - (आत्मगतम्।) अहो ! दूरमारूढोऽयमस्या निश्चयः । अथवा अहो विप्रलम्भः !

सतीनामिति । हे प्रिये ! सतीनां पतिव्रतानाम् वः युष्माकं स्त्रीणाम् पत्यौ प्रियतमे प्रणयपरिपाकस्य गाढप्रेमपरिणतेः महिमा महत्त्वम् आख्येयो वक्तुं शक्यः किम् ? नैव शक्यः । यस्मिन् प्रणयपरिपाके सति चितिः चिताऽपि 'चिताचित्याचितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । मृदुकुसुमतल्पीयति कोमलपुष्प-शय्यावदाचरति। 'उपमानादाचारे' कर्त्तुरिति (पा. ३.१.११) योगविभागात् क्यच्। 'क्यचि चे' ति (पा.७.४.३३) अस्येत्वम्। वन्हेरग्नेर्विधुताः समन्ततो लेलिह्यमानाज्वाला अपि मलयजरसीयन्ति चन्दनरसवदाचरन्ति । पूर्ववत्क्यच् । 'भद्रसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियामि' त्यमरः । किंबहुना क्रूरः निर्दयः कठिनो वा 'क्रूरौ कठिननिर्दयावि' त्यमरः । कृतान्तो यमोऽपि कुसुमविशिखीयन् कामवदाचरन् बिलसति विनोदं जनयन्सुखयतीत्यर्थः । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इत्यमरः ।। ११ ।।

हे प्रिये ! पतिव्रता नारियों का अपने प्रियतम में जो प्रगाढ़ प्रेम होता है, उसकी परिणतिके महत्त्व को क्या वर्णित किया जा सकता है ? विल्कुल नहीं। क्योंकि जिस प्रेम में चिता भी कोमल-कुसुम की शय्या-सी बनजाती है, आग की प्रचण्ड ज्वाला भी चन्दनरस के समान आचरण करने लगती है और साथ ही क्रूर कृतान्त (निर्दयी यमराज) भी कामदेव के सदृश आनन्द दायक जैसा बन जाता है ॥ ११ ॥

भानु. - हे आर्यपुत्र ! इन स्त्रियों का यह प्रेमाचरण भी वैसा नहीं है, जैसा कि होना चाहिए। क्यों कि यह सद्यः (त्वरित) प्रज्वलित विरहानल (विरहाग्नि) को छोड़ चितानल (चिताग्नि) की अपेक्षा करती है।

राजा - (स्वगत) अहो ! इसका निश्चय तो इससे भी बढ़कर है (यह इस स्त्री से भी अपने को अधिक प्रेमपगा मानती है)। अथवा अहो ! यह कोई विप्रलाप तो नही ? (यह कोई प्रतारण या छल तो नहीं ?)।

Could wifely troth e'er greater be than this,
When e'en the blazing pyre becomes a couch
All flower-soft, and when the rolling flames
Seem fragrant zephyrs from some sandal-grove,
While Death himself is changed to gentle Love ?

BHANUMATI : Nay, my lord ! Small affection is theirs who straightway shun the fire of parting and haste to the flame of the funeral pyre.

KING : (aside) Alas ! firm is her resolve ! Yet no; it is a trick.

एता एव स्तुताः स्त्रीणां विप्रलम्भनवागुराः ।
बद्धा यास्ववसीदन्ति तरुणा हरिणा इव ॥ १२ ॥

(प्रकाशम्।) देवि ! कीदृशोऽयं ते निश्चयः ।

भानुमती - णिच्चओ जेव्व तुह्म विरहं असहमाणस्स मे हिअअस्स।
[निश्चय एव तव विरहमसहमानस्य मम हृदयस्य ।]

राजा - (आत्मगतम्।) तदिदमस्ति ज्ञातव्यम्। अस्त्वेवम्। अस्त्वेव प्रस्तुता मृगया। (प्रकाशम्।) चिराय मृगयोत्सुकाः सैनिका

मामपेक्षन्ते। तदनुजानातु मृगयायै देवी। ततो निवृत्त्याचिरेणैव संभावयिष्यामि भवतीम्।

भानुमती - (सबाष्पोपरोधम्) ण क्खु अम्हे एत्थ पहवामो। [न खलु वयमत्र प्रभवामः।]

(राजा निष्क्रामति)

भानुमती- (अश्रूणि विमुञ्चन्ती राजानमनुगम्य) जाव अहं दुआरत्थम्भावलम्बिआ भविअ पलोएमि अज्जउत्तस्स मग्गम्। [यावदहं द्वारस्तम्भावलम्बिता भूत्वा प्रलोकयामि आर्यपुत्रस्य मार्गम्।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति कर्म्महारवंशोद्भवेन महामहोपाध्यायेन हरिहरोपाध्यायेन विरचिते भर्तृहरिनिर्वेदनामनाटके प्रथमोऽङ्कः समाप्तः।

विप्रलम्भः। वञ्चनम्। एताएवेति। एता एवानुपदोक्ताः स्त्रीणां विप्रलम्भनस्य वियोगदुःखासहिष्णुताभिनयरूपवञ्चनस्य (तज्जनित-वशीकारस्य साधनभूता) वागुरा मृगबन्धिन्यः। 'वागुरा मृगबन्धिनी' त्यमरः। स्तृताः छन्नाः सन्ति। स्तृञ् आच्छादने भूते क्तः। यासु बद्धास्तरुणा युवानः कामिनः हरिणा इव अवसीदन्ति। अवसादिता भवन्ति। अनुक्षणन्नितान्तं दुःखमनुभवन्तीत्यर्थः। षद्लृ बिसरणगत्यवसादनेषु। 'पाघ्राध्मेति' (पा. ७.३.७८) सीदादेशः॥ १२॥

इति कर्म्महारवंशोद्भवेन महामहोपाध्यायेन मुकुन्दझावख्शीशर्म्मणा विरचितायां भर्तृहरिनिर्वेदव्याख्यायां सुखबोधिनीसमाख्यायां प्रथमोऽङ्कः।

इस प्रकार के छलाभिनयरूप जाल (मृगफाँस) तो स्त्रियों द्वारा डाले ही जाते हैं, जिसमें फँस कर युवाजन हरिणों की भाँति प्रतिपल कष्ट का अनुभव करते हैं॥ १२॥

(प्रकाश) देवि! यह कैसा तेरा निश्चय है?

भानु. - आपके विरह को असह्य मानकर यही मेरे हृदय का निश्चय है।

राजा - (स्वगत) यदि ऐसा है तो देखना चाहिए। (इस प्रकार के निश्चय की परीक्षा करनी चाहिए।) ठीक ही तो है, शिकार पर जाने के लिए प्रस्तुत तो हैं ही। (उसी में इसकी परीक्षा भी हो जाएगी)। (प्रकाश) बहुत देर से शिकार पर जाने के लिए उत्सुक सैनिक मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतः हे देवि! शिकार पर जाने की अनुमति दें। वहाँ से शीघ्र ही मैं वापस होकर आपके सम्मुख रहूँगा (अर्थात् बहुत जल्दी ही लौट आऊँगा)।

भानु. - (आँसू रोककर) नहीं, हम इसकी आज्ञा देने में समर्थ नहीं हैं। (अर्थात् मैं कुछ भी कहने में असमर्थ हूँ)।

(राजा जाता है)

भानु. - (आँसू बहाती हुई राजा के पीछे जाकर) तब तक मैं दरवाजे के इस खम्भे को धरकर (या खम्भे के सहारे) आर्यपुत्र का मार्ग देखती हूँ (अर्थात् उनके आने की प्रतीक्षा करती हूँ)।

(सभी चले जाते हैं।)

भर्तृहरि निर्वेदनाटक की 'जयन्ती' हिन्दी व्याख्यान्तर्गत प्रथम अंक समाप्त हुआ)

Full wide fair women spread their guileful snares
Where they themselves are caught like false gazelles.
(Aloud) My queen, what is thy resolution ?

BHANUMATI : A decision of my heart that cannot endure thine absence.

KING : (aside) I must fathom this, I must indeed ! Now to the hunt ! (Aloud) Long and eagerly my soldiers have been awaiting me for the chase. May my queen permit me then to go. Soon I shall return and render her my homage.

BHANUMATI : (choking with sobs) : I cannot bear it here !

(Exit KING; she follows him, weeping) I shall cling to the pillars of the door and watch the pathway of my lord.

(Exeunt omnes)

(END OF ACT IST)

द्वितीयोऽङ्कः

(प्रविश्यापटीक्षेपेण विलपन्ती)

चेटी - (सोरस्ताडम्) हा ! हंदम्हि मन्दभाइणी। [हा ! हतास्मि मन्दभागिनी।]

अपरा - (प्रविश्य) सहि! को क्खु एसो अन्तेउरम्मि कल अलो ? [सखि ! कः खल्वेषोऽन्तःपुरे कलकलः।]

प्रथमा - (विलप्य) सहि! सा क्खु अह्माणं सअलसमीहिदसंवादण अरी, णअरीए सीमन्तमणी, मणीसिदकप्पलदा बन्धुहिअआणं, हिअ आणन्दो ज्जेव रण्णो रण्णो अलीअं सावदेण वावादणं सुणिअ उवरदा। [सखि ! सा खल्वस्माकं सकलसमीहित-संपादनकरी नगर्याः सीमन्तमणिर्मनीषितकल्पलता बन्धुहृदयानां हृदयानन्द एव राज्ञो राज्ञोऽलीकं श्वापदेन व्यापादनं श्रुत्वोपरता।]

अपरा - (वेपमाना सास्रम्) हा ! केण उण हदासेण एदं अलिअं पआसिदम् ? [हा! केन पुनर्हताशेनेदमलीकं प्रकाशितम्।]

प्रथमा - देवस्स सआसादो ज्जेव्व आअदेण दुरक्खाइणा पच्छाऊण अलिअं क्खु एदं त्ति बोधितावि ण पडिबुद्धा। [देवस्य सकाशादेवागतेन दुराख्यायिना पश्चादलीकं खल्वेतदिति बोधितापि न प्रतिबुद्धा।]

उभे - (सकरुणबहुमानम्)

अवि अलिअं पिअमरणं सुणिअ मुअन्तीएँ तुज्झ कित्ती।
कज्जगुरुओ त्ति अज्ज प्पणअस्स पणासिदं अजसो ॥ १॥
[अप्यलीकं प्रियमरणं श्रुत्वा मृतायास्तव कीर्त्या।
कार्यगुरुरित्यद्य प्रणयस्य प्रणाशितमयशः ॥]

सुख. - अवीति। एतच्छायाव्याख्यातं यथा। अलीकमनृत 'म्मिथ्याभूत' मपि 'अलीकंत्वप्रियेऽनृत' इत्यमरः। प्रियस्य निजबल्लभस्य मरणं श्रुत्वा न तु दृष्ट्वा मृतायास्तव कीर्त्या (कर्त्तृभूतया) प्रणयः स्नेहः कार्ये सति प्रयोजने गुरुः (भवति) इति। प्रणयस्य अयशः अकीर्त्तिः प्रणाशितम् सर्वथा नाशमापादितम्। न हि स्वार्थसाधनमात्रं प्रणयफलमपि तु प्रणयिजीवनाधीनजीवनमपीत्यावेदितमिति भावः ॥ १ ॥

(पर्दा हटनेके साथ ही विलाप करती हुई प्रवेश करके)

दासी - (छाती पीटती हुई) हाय ! मैं अभागन मर गई।

दूसरी - (प्रवेश करके) सखी ! अन्तः पुरमें यह कोलाहल कैसा है ?

दासी - (विलपती हुई) हे सखी ! हमारी सभी आशा-अभिलाषाओं को पूरा करनेवाली, भालमणि की तरह नगर की शोभा-स्वरूपा, बान्धवजनों के हृदय के लिए अभिलषित कल्पलता अथवा बन्धुओं को मनोभिलाषिणी-कल्पलता और राजा के हृदय को केवल आनन्द ही देने वाली रानी, जंगली जानवरके द्वारा राजा के मारे जाने की झूठी खबर से अब नहीं रही।

दूसरी - (काँपती हुई, सजलनेत्र) हाय ! किस दुष्ट (अभागा) ने यह मिथ्या समाचार फैलाया ?

दासी - राजा के पास से ही आया हुआ मिथ्याभाषी के द्वारा बादमें 'यह समाचार मिथ्या है' कहकर समझाने पर भी वह होश में नहीं आयी। (अर्थात् रानी प्रथम 'मिथ्या समाचार' से ही मर गयी)।

दोनों - (करुणासहित अतिशय सम्मान के साथ) हे देवि ! स्वामीके मरण का मिथ्या समाचार होनेपर भी, उसे सुनकर आपकी

मृत्यु के बादभी आपकी कीर्तिने प्रणय के उस अयश को समाप्त कर दिया कि काम आने पर लोग भारी बन जाते हैं ॥ १ ॥

(Enter, with a toss of the curtain, a MAID SERVANT, *weeping)*

MAID-SERVANT *(beating her breast)* :

Alas, that I were dead, poor wretch !

(Enter SECOND MAID-SERVANT)

SECOND MAID-SERVANT :

What means the outcry in the gynaceum, dear ?

FIRST MAID-SERVANT (*weeping*) :

The queen that fulfilled every wish of ours, the city's crowning jewel, delight of heart to all her kin, died as she heard the false news that a tiger had slain the king, the king !

SECOND MAID-SERVANT : *(shaken with sobs)* :

Alas ! What heartless creature brought these lying tidings ?

FIRST MAID-SERVANT :

A messenger of ill from the king, Even though she later learned the message was untrue, she did not revive.

BOTH : (With compassion and respect)

The slander on her love is gone today;
Now knows the king what his harsh words have done,
For her life passed because he falsely said
That he was slain, although she knew he lied .

(नेपथ्ये कलकल: ।)

उभे - **कहं दाणिं देवी अणरीए बाहिरं णिज्जइ । एसो अ दुरक्खाई मिअआपडिणिउत्तस्स रण्णो ज्जेव्व समीवं गच्छदि । ता अम्हेवि अपच्छिमं देवीए अणुगमणं कदुअ अप्पाणं अणवरज्झं करेह्म । [कथमिदार्नी देवी नगर्या बहिर्नीयते ।**

एष च दुराख्यायी मृगयाप्रतिनिवृत्तस्य राज्ञ एव समीपं गच्छति। तदावामप्यपश्चिमं देव्या अनुगमनं कृत्वात्मानमनपराद्धं कुर्वः ।] (इति निष्क्रान्ते ।)

इति प्रवेशकः

(ततः प्रविशति मृगयानिवृत्तः सपरिजनो राजा)

राजा - (वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा ।)

नैव स्वकीयानि हिताहितानि ज्ञातुं जनो यानि कथंचिदीष्टे ।
आश्चर्यमङ्गानि जडान्यपि प्राग् विज्ञाय तानि स्फुरितैर्वदन्ति ।। २ ।।

(सचिन्तोद्वेगम्) नूनमिदमस्मदीयस्य दुर्मन्त्रितस्य दुर्विपाकि फलं सूचयति । तथाहि ।

प्रवेशकः । तल्लक्षणन्तु दर्पणे -

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ।। इति ।

अनुदात्तोक्त्या - नीचोक्त्या, नीचेनैव नीचाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितः । एवकारेण संकीर्णविष्कम्भकव्युदासः । शेषं वृत्तवर्त्तिष्यमाणेत्यादिविशेषणं विष्कम्भकवदत्रज्ञेयम् । वामाक्षिस्पन्दनमधस्त एव नोपरितः । 'वामस्योर्ध्वं हरति सकलम्मानसंदुःखजातम्' इति शाकुनिकाः[1] प्राहुः ।

सुख. - नैवेति । जनः यानि स्वकीयानि स्वसम्बन्धीनि (अपि) हितानि चाहितानि चेतिद्वन्द्वः सः । हिताहितानि ज्ञातुं कथञ्चित्कृच्छ्रेणापि नैव ईष्टे समर्थो भवति । तानि (कर्मभूतानि हिताहितानि) जडान्यचेतनान्यप्यङ्गानि (कर्त्तृभूतानि) प्राक्[2] तदुत्पत्तेः प्रथममेव विज्ञाय ज्ञात्वा स्फुरितैः स्फुरणैः (क्रियाभूतैः) भावे क्तः । वदन्ति (इति) आश्चर्यम् ।। २ ।।

---

१. एतच्च तृतीयाङ्कादौ स्फुटी भविष्यति ।

२. हिताहितोत्पत्तेः ।

(नेपथ्य में कोलाहल होता है)

दोनों - क्या अभी रानी (देवी) नगरसे बाहर लिये जा रही हैं ? और यह दुराख्यायी (अपभाषी) शिकार से लौटे राजा के पास ही जा रहा है। तबतो हमें भी महारानी का अन्तिम अनुगमन करके आत्मा को निरपराध करना चाहिए (अथवा उनकी आत्मा को शान्ति देना चाहिए)।

(दोनों निकल जाती हैं।) (प्रवेशक समाप्त होता है।)

(अनन्तर शिकारसे वापस हुए राजा का परिजनों के साथ प्रवेश होता है।)

राजा - (वायीं आँख के फड़कने का अभिनयकर)

अपने जिस सम्भावित शुभाऽशुभ फल को आदमी किसी भी प्रकार जानने के लिए समर्थ नहीं हो पाता (अथवा जान नहीं पाता), आश्चर्य है, उसीको उसके ज्ञानशून्य (जड़) अंग (या इन्द्रीय) पहले ही जानकर स्फुरण (अंग स्फुरण=फड़कना) के द्वारा बता देता है ॥ २ ॥

(चिन्ता, भय और आशंका के साथ) निश्चय ही यह हमारी ही दुर्मन्त्रणा का दुष्परिणामको सूचित कर रहा है। क्यों कि -

(*A noise without*) How shall the queen be carried from the city now ? Here comes the messenger of ill to the king that is returned from the hunt. The last honors to our mistress we shall preform and show our innocence .

(*Exeunt*) (*End of the connecting - scene*)

(Enter, as returning from the hunt, the KING and attendants)

KING : (making as if his left eye twitched)

No man may know what joy or pain shall come,
And yet his body, senseless though it be,
Doth prophesy to him in throbbings strange,

(Anxiously) Too surely this portendeth the working of the evil fate foretold me ! Lo,

प्रियविरहितान्हातुं प्राणानयं प्रणयाकुले
हृदि मृदुतनोरासीदेव ध्रुवो बत निश्चयः।
इह यदि मृषा दोषारोपो गुणेऽपि कृतस्ततः
फलमपि मया जाल्मेनास्मिन्यथोचितमाप्स्यते ॥ ३ ॥

दुराख्यायी पुरुषः - (प्रविश्य वेपमानः) देव ! देवीए -[देव ! देव्याः-]। (इत्यर्धोक्ते वाक्स्तम्भं नाटयति।)

राजा - (सोद्वेगम्) दुराख्यायिन्! किं देव्याः ?

दुरा. - देव्वेण पआसिदुमाणत्तं देव्वस्स सावदेण वावादणं अह्मसुहादो सुणन्तीए - [देवेन प्रकाशयितुमाज्ञप्तं देवस्य श्वापदेन व्यापादनमस्मन्मुखाच्छृण्वन्त्या -]

सुख. - प्रियेति। मृदुतनोः कोमलाङ्ग्या मत्प्रियायाः प्रणयाकुले स्नेहभङ्गभीत्या दुरवस्थिते 'व्यस्ते त्वप्रगुणाकुलौ' इत्यमरः। हृदि मनसि 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। प्रियेण मया विरहितान् सञ्जातमद्विरहान् प्राणान् हातुं त्यक्तुम् 'ओहाक्त्यागे' (जु० प०) तुमुन्। अयमित्थम्भूतः प्रज्वलिष्यद्विरहानलप्रवेशरूपो ध्रुवः स्थिरः निश्चयः आसीदेव बतेति खेदे। 'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बते' त्यमरः। यदि जाल्मेनासमीक्ष्यकारिणा मया (जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यादि)त्यमरः। अस्मिन् अनुपदोक्तविधध्रुवनिश्चयरूपे गुणेऽपि मृषा मिथ्या (भूतोऽयमस्या निश्चय इति) दोषारोपः 'कथञ्चलचित्तायाः स्त्रीजातेरस्यामप्येवंभूतोऽनुरागातिशयो भवेद्येनेथम्मद्विरहानल एव प्राणान्हातुं निश्चिनोतीति तज्जिज्ञासया प्रस्तुतमृगयाव्याजेन सद्यो विरहसम्पादनेन (तत्परीक्षया) कृतः। ततस्तदा फलमपि यथोचितमाप्स्यते अवश्यं प्राप्स्यते ॥ ३ ॥

प्रेमभंग (विछोह) के भयाकुल चित्त होने की स्थिति में मैं अपने प्राणों का त्याग कर दूँगी-ऐसा इस कोमलाङ्गीका

ध्रुव (अटल) निश्चय था; फिर भी अर्थात् इस प्रकार के गुण होने पर भी यदि मैंने (मिथ्या- मृत्यु-वार्तारूप) मिथ्या दोषारोपण कर डाला, तो अहो ! उसका समुचित फल (दण्ड) भी तो मुझ अज्ञानी जन को अवश्य ही मिलेगा ॥ ३ ॥

(हाँफता हुआ प्रवेश करके - दुराख्यायी)

दुराख्यायीपुरुष - हे राजन् ! महारानी का.....(इस आधे ही वाक्य पर कण्ठावरुद्ध-होने का अभिनय करता है।)

राजा - (उद्वेग सहित) दुराख्यायी ! क्या देवी का ?

दुराख्यायी- देव ! आप के निर्देशानुसार महाराज के हिंसक जन्तु से व्यापादित होने (मारे जाने) का समाचार मेरे मुख से सुनते ही...... (अर्थात् आपने जो उन्हें यह कहने की आज्ञा दी थी कि जंगल में शिकार पर गये महाराज हिंसक जानवरके द्वारा मारे गये, इस समाचार को मेरे कहते ही रानी...)

Firm, all too firm, the love within her heart -
To die, bereft of him she held most dear !
If in my folly I distrusted her,
The vengeance of my deed now falls on me.

(Enter in agitation, the MESSENGER OF ILL)

MESSENGER OF ILL : O King, the queen's - (Breaks off abruptly)

KING : (agitated) Messenger of ill, what of the queen ?

MESSENGER OF ILL : When she heard from my lips, as thou hadst bidden me, that the king had been killed by a tiger -

राजा - (सखेदवितर्कम्)

किं देव्याः समभून्मनो निपतितं मूर्छातमिस्रान्तरे

दुरा. - मग्गावलोअणत्थं दुआरत्थम्भावलम्बिआए जेव्व - [मार्गावलोकनार्थं द्वारस्तम्भावलम्बिन्या एव -]

राजा - (सबाष्पगद्गदम्) किं वक्तुमध्यवसितोऽसि ?

जातं वाथ जगत्त्रयं मम हतस्यैवान्धकारायितम्।

दुरा. - अह इं। विणिग्गआ अणिवत्तिणो णीसासा। (अथ किम्। विनिर्गता अनिवर्तिनो निश्वासाः।)

(राजा मुह्यन् भूमौ निपतति)

दुरा. - (धारयित्वा) समाससदु देव्वो। [समाश्वसितु देवः।]

राजा - (ईषदाश्वस्य)

श्वासा एव परं न पङ्कजदृशो देहाद्बहिर्निर्गता
गेहाद्भर्तृहरेर्गता विधिहता हा! जीवलोकोत्सवाः ॥ ४ ॥

सुख. - किमिति। देव्या भानुमत्या मनः मूर्च्छा मोह एव तमिस्रा तामसीरात्रिर्गाढाऽन्धकार इति यावत् तस्या अन्तरे मध्ये निपतितं समभूत् किं ? (इत्येको[1]वितर्कः) अथवा हतस्य तद्वियोगेन गतासुप्रायस्य हतभाग्यस्येति यावत्। ममैव (तद्वियोगेन) जगत्त्रय[2]मन्धकारायितमन्धकारमयं जातम् किं ? 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति (पा० ३-१-११) क्यङन्तात् क्तः। अकर्मकत्वात्कर्त्तरि (पा० ३-४-७२)। इत्यपरो वितर्कः। पङ्कजदृशः कमलनयनायास्तस्या देहात् श्वासा एव परं केवलं न बहिर्गता अपि तु भर्तृहरे मर्म गेहाद्विधिना प्रतिकूलदैवेन हताः स्वरूपहानिमापादिता जीवलोकस्य मनुष्यजन्मन उत्सवाः (सर्वेऽपि) गताः। हा इति कष्टे (हा विषादशुगर्तिषु) इत्यमरः। इदानीं तदालम्बनवस्त्वभावादिति भावः ॥ ४ ॥

राजा - (दुःख और वितर्क के साथ) क्या देवी का मन मूर्च्छारूपी गहन अन्धकार में चला गया ?

---

१. तथा च विश्वः 'किंवितर्के परिप्रश्ने क्षेपनिन्दाप्रकर्षयोरि'ति।

२. अत्रान्धयतीत्यन्धं तमः पचाद्यच्। तत्करोतीत्यन्धकारम् कर्मण्यण् तदिवाचरतीत्यर्थे क्यङ्। 'सनाद्यन्ते'ति धातुत्वाद् 'गत्यर्थाकर्मके' त्यादिना क्तः कर्त्तरीत्येवं साधनप्रक्रियोह्या।

दुराख्यायी - आपके वापस होने का मार्ग देखती हुई (जोहती हुई) दरवाजे के खम्भे को पकड़ी हुई ही...... (उस देवी का.....)

राजा - (सवाष्प, अवरुद्ध कण्ठसे) कहना क्या चाहते हो ? - अथवा क्या मुझ अभागे का तीनों लोक ही अन्धकारमय हो गया ?

दुराख्यायी - और क्या ? ...... कभी न लौटने वाला ..... श्वास.... चला गया !

(राजा मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिरते हैं)

दूराख्यायी - (राजा को पकड़ते हुए) महाराज ! धैर्य धारण करें। (धैर्य रक्खें।)

राजा - (थोड़ा आश्वासन पाकर) हाय ! इस कमलनयनी के शरीर से न केवल श्वास ही निकले हैं, वल्कि भर्तृहरि के घरसे तो दैव के मारे जीवलोक के सारे उत्सव ही चले गये ॥ ४ ॥

KING : (in frantic conjecture) What thought entered the queen's heart, all troubled by her swoon ?

MESSENGER OF ILL : Even while she clung to the pillars of the door to watch thy pathway-

KING : (his voice choked with sobs) Why breaks't thou off in the middle of thy words ? Or is the three-fold world thus darkened by wretched self ?

MESSENGER OF ILL : (Alas ! her breath hath gone, nor come again !

(The KING sinks fainting to the ground. The MESSENGER OF ILL supports him)

MESSENGER OF ILL : (supporting the King). Courage, Sire !

KING : (reviving slightly) :

'Twas not her breath alone that passed away,
O Love, O Lotus-Eyed ! but from my soul.
The Joy of life is fled, and Fate doth curse.
The house of Bhartrhari evermore !

(इति भूयोऽपि मूर्च्छितः पतति)

(परिजना धारयन्ति)

राजा - (चिरेण संज्ञां लब्ध्वा) कथं व्यतिक्रान्तान्येव तानि तानि ललितानि विलसितानि। हन्त !

कथमहह तथाविधेन तादृक् परिहृतमेव निरीक्षितेन चक्षुः।

बत वदनमपि व्यमोचि तस्याः स्मितमधुरेण किमीरितेन तेन ॥ ५ ॥

(सोत्कण्ठम्) कथय क्वेदानीं देवी।

दुरा. - णअरादो बाहिरं णिज्जन्ती मए दिट्ठा। [नगराद्बहिर्नीयमाना मया दृष्टा।]

राजा - (सखेदम्) कथं चितायां देवी दाह्येति वन्धूनां व्यवसायः। (सोन्मादं च परिक्रामन्। सक्रोधम्) हन्त हन्त। मैवम्।

ललितानि। ईप्सितानि। लल ईप्सायां क्तः। ईप्सा प्राप्तीच्छा। विलसितानि विलासाः। भावे क्तः। हन्तेति वाक्यारम्भे विषादे वा 'हन्त हर्षेनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोरि' त्यमरः।

सुख.- कथमिति। प्रकारप्रश्नोयम्। अहहेत्यद्भुते खेदे। अद्भुते अभूतपूर्वे। तथा चायमर्थः। तथाभूतेनानुभूतप्रकारेण निरीक्षितेनावलोकितेन तादृक् अनुभूतरूपं भावभङ्गुरं चक्षुः परिहृतं वञ्चितमेव किं ? वतेति विस्मयामान्त्रणे। अहो स्मितमधुरेण स्मितं नेत्रविकासि ईषद्धसितन्तेन तत्कृतेन मधुरेण प्रियेण 'स्वादुप्रियौ तु मधुरा' वित्यमरः। तेनानुभूतचरेण ईरितेन वचनेन तस्या मत्प्रियायाः वदनं मुखमपि व्यमोचि विमुक्तं किं ? ॥ ५ ॥

(कहते-कहते फिर मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। परिजन सम्हालते हैं।)

राजा - (देर से संज्ञा प्राप्त करके) क्या ! उनकी वे सारी सुन्दर विलासिताएँ (हाव-भाव) चली गयीं ? हाय ! अहह ! उस प्रकारके अद्भुत निरीक्षण से उसकी आँखें कैसे वञ्चित हो गयीं ? मुस्कान भरा वह मधुर वचन भी उसके मुख को कैसे छोड़ दिया ? ॥ ५ ॥

(उत्कण्ठा से -) बताओ, महारानी अभी कहाँ हैं ?

दुराख्यायी - नगरसे बाहर ले जाती हुई मैंने उन्हें देखा है।

राजा - क्या ! महारानी को चिता में भस्मकर देनेका बन्धुओंने निश्चय कर रक्खा है ? (उन्मत्त होकर घुमते हुए, क्रोध सहित) हा ! हा ! ऐसा न करें।

(Again falls fainting, Attendants support him)
Those gentle joys all past ! Ah, me !
How could her sight leave her whom once it saw,
Her smile desert her lips---but weak is speech !
(Anxiously) Tell me, where is the queen now ?

MESSENGER OF ILL : I saw them bearing her forth from the city.

KING : (in agony) How can her kinsfolk think the queen is to be burned on the pyre ? (Rushes madly about. Angrily) No, no! It shall not be !

अस्याः स्निग्धशिरीषकेसरशिखामृद्वङ्गमालिङ्गितुं
प्रोद्धूमज्वलनाञ्चिता बत चिता काष्ठाचिता नोचिता ।
मद्दोर्भ्यां पिहिता मदङ्गनिहिता मत्कामवह्नावसा -
वह्नायावयवानहो वरतनुः स्नेहोद्धते होष्यति ॥ ६ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) इयमत्र श्मशाने प्राणेश्वरी। हा धिक्, कष्टम् ।

सुख.- अस्या इति। स्निग्धा मसृणाः 'कोमलं मसृणं स्निग्धमि' त्यमरः। ये शिरीषाः। शिरीषपुष्पाणि 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' (पा० ४/३/१६६ वा०) इति विकारार्थस्याणोलुप्। 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' इति (पा० १-२-५१) युक्तवद्भावात्प्रकृतिवल्लिङ्गवचनता। तेषां याः केशरशिखाः किञ्जल्काग्रभागाः। 'किञ्जल्कः केशरोऽस्त्रियामि' त्यमरः। तद्वन्मृदु कोमलमस्या मत्प्रियाया (भानुमतीदेव्याः) अङ्गमालिङ्गितुं प्रकर्षेणोदगतो धूमो यस्य 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति (२-२-२४

वा०) सः । तथाभूतो यो ज्वलनो वह्निस्तेनाश्रिता जाज्वल्यमाना काष्ठैः आचिता व्याप्ता चिता नोचिता, बतेति खेदे । किन्तु मद्दोर्भ्यां मद्बाहुभ्यां पिहिता आलिङ्गनमुद्रयाऽऽच्छन्नाऽथ च मदङ्गे मद्वक्षसि निहिता अर्पिताऽसौ बरतनुः कोमलाङ्गी मत्प्रिया स्नेहेन प्रेमरसरूपेण घृतेन उद्धते जाज्वल्यमाने मत्कामवह्नौ अन्हाय झटिति 'स्राग् झटित्यञ्जसाह्नायद्राङ्मंक्षुसपदिद्रुते' इत्यमरः । अवयवान्हस्तहृ दयादीन्होष्यत्यहो इति विस्मये ॥ ६ ॥

स्निग्ध-शिरीषफूल के केशर-शिखा के सदृश (चिकने शिरीष फूलके केशराग्रभाग के जैसा) इसके मृदुल अंग को आलिंगन करने के लिए यह धूमसे भरी हुई आग और काष्ठसे भरी हुई चिता उचित नहीं है । वल्कि, मेरे बाँहों से पिहित (ढ़की हुई), मेरे अङ्गों पर रक्खी हुई और स्नेह से प्रज्वलित मेरी कामाग्नि में यह कोमलाङ्गी अपने सभी अवयवों (हाथ-पैर-हृदयादि) को अर्पित कर देगी ॥ ६ ॥

(घूमकर और देखकर-) यही तो इस श्मशान में प्राणेश्वरी हैं ।हा! धिक्, कष्ट है । (बहुत दुःख की बात हैं) ।

Upon her funeral couch of mortal wood
Nor smoke nor fire shall wrap her from so dear,
All tender as *sirisa*-filaments;
But in mine arms, within my fervent love,
Upon my knees her body shall be laid,
That so, through mine affection's holy flame,
Her limbs shall be a sacrifice indeed !

(Walking around and looking about) Here is my darling in the cemetery ! Alas, oh, evil fate !

एषां चित्यर्धदग्धावयवशवसमाकर्षणे हर्षभाजां
फेत्कारैः फेरवाणां क्षणजनितभयोद्भ्रान्तगृध्रावरुद्धम् ।
नेत्रान्धीकारिनासापुटकषणपटूद्गन्धिधूमान्धकारं
मद्देहश्रीशरीराश्रयणमिदमभूद्भस्मधानं श्मशानम् ॥ ७ ॥

(इति मूर्छितो निपतति)

(नेपथ्य कलकलः)

परिजनाः-(राजानं धारयित्वा) एदे दे णिअबान्धवा सोअविअला देवस्स अवत्थन्तरं पेक्खि रुअन्ति । [एते ते निजबान्धवाः शोकविकला देवस्यावस्थान्तरं प्रेक्ष्य रुदन्ति ।]

राजा - कथमद्यापि जीवति भर्तृहरिरिति जानन्ति बान्धवाः । भो भोः !

सुख. -एषामिति । इदमदृष्टपूर्वं भयजनकम् । भस्मान्याधीयन्त अस्मिन्नित्यधिकरणे 'करणाधिकरणयोश्चे'ति (पा ०३.३.११७) ल्युट् । भस्मधानं भस्माश्रयः श्मशानं, मद्देहश्रियो मद्गृहलक्ष्म्या भानुमत्याःशरीरस्याश्रयणमभूदिति नातः परं दुःखावहं किमपीति मूर्च्छाहेतुः । श्मशानं वर्णयति-एषामित्यादिना पादत्रयेण । चित्यां चितायामर्द्धदग्धा अवयवा हस्तपादादयो येषां शवानां तेषां समाकर्षणे हर्षभाजामानन्दवतामेषां फेरवाणां जम्बूकानां 'फेरुफेरवजम्बुका' इत्यमरः । फेत्कारैः स्वजात्युचितैः क्रूरशब्दैः क्षणं कञ्चित्कालं जनितमुत्पन्नं यद्भयं तेनोद्भ्रान्ता इतस्ततस्समुड्डीय गता ये गृध्रास्तैरवरुद्धम् समन्ततो व्याप्तम् । किञ्च नेत्रान्धीकारी नयनान्धीकरणशीलः । ताच्छील्ये 'सुप्यजातावि'ति (पा० ३-२-७८)णिनिः । कृञो योगेऽभूततद्भावे 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य कर्त्तरिच्विरि'ति (पा० ५-४-५०) च्विप्रत्ययः 'अस्य च्वावि'ती -(७-४-३२) त्वम् । अथच नासापुटयोः[१] कषणे दृढपिधानेन निष्पीडने पटुः योग्यः । यतश्च उद्धतः, (उत्कटः) गन्धो यस्य स उद्गन्धिः । 'प्रादिभ्यो धातुजस्ये'ति (२--२-२४ वा०) सः 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्य' इति (पा० ५-४-१३५) इदादेशः समासान्तः पूतिगन्धिः । स चासौ धूमश्चेति[२] चतुर्णां कर्म्मधारयः सः । तेनान्धकारो यत्र तत्तथाभूतम् ॥ ७ ॥

---

१. यद्यपि कष धातुर्हिंसार्थकैस्सह भ्वादौ पठितस्तथापीहोक्तार्थे प्रकरणवशात्पर्यवसन्नः । क्लेशापादनमेव हि हिंसा ।

२. नेत्रान्धीकारी चासौ नासापुटकषणपटुश्चेत्येकः । स चा सावुद्गन्धिश्चेत्यपरः । एषाञ्च धूमेन सहेति चतुर्णामित्यर्थः ।

जो श्मशान, चिताओं के अर्द्धदग्ध शवोंके अङ्गों को खींचने व नोचने से हर्षोल्लसित श्रृगालों के स्वाभाविक क्रूरशब्दों (चीख) से क्षणिक भयाक्रान्त होकर इतस्ततः भागते हुए गृद्धों से घिरा हुआ है तथा आँखों को धुन्धला देनेवाले, नथुनेको रगड़ाने में पटु एवं महादुर्गन्ध फैलाने वाले धुओं से अन्धकारयुक्त हो गया है - ऐसा भस्म से भरा हुआ (भस्माश्रय) यह श्मशान ही मेरी गृहलक्ष्मी का आश्रय (पनाह) बन गया है - भला इससे बढ़कर दुःख और कष्ट की बात और क्या हो सकती है ? ॥ ७ ॥

(इस पद्य के द्वारा कवि वीभत्स रसका बड़ा ही सजीव चित्र उपस्थापित किया है। श्मशान में जिस तरह चारों ओर चिता जलती रहती है, कहीं अधजले शवों को लेकर श्वानों में लड़ाई होती है, शृगाल हर्षित होकर चीख-चीत्कार करते हैं, शवाङ्गों को खींचते व नोचते हैं, हर्ष मनाते हैं, उनकी आवाजों से भयभीत होकर गृद्धपक्षी भागते-फिरते हैं- ऐसे ही शृगालों व गृद्धों से भरा पड़ा है - यह श्मशान। जहाँ पर ऐसी दुर्गन्धयुक्त धूआँ उठ रही हैं, जो आँखों को धुन्धला कर देने वाली हैं, दुर्गन्ध के कारण हाथ व उँगली से बार-बार नथुने को जो धूआँ रगड़ाने में पटु है और ऐसे ही महादुर्गन्धयुक्त धूओं से यह श्मशान भरा पड़ा है। साथ ही साथ जहाँ चिता-भस्म भी भरे पड़े हैं - ऐसा ही श्मशान मेरी गृहलक्ष्मी भानुमती के लिए आश्रयस्थल हो गया है)।

(राजा यह कहते - कहते मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं।)। (नेपथ्य में कोलाहल होता है।)

परिजन - (राजा को पकड़कर) ये सब आपके शोक-विह्वल बान्धवजन आपकी इस अवस्था को देखकर रो रहे हैं।

राजा - अरे ! रे ! क्या अब भी भर्तृहरि जीवित है - यह बान्धवजन जानते हैं ?

In this abode of death the jackals how !

That drag the corpses to their loathly feast,

And mumble o'er the fragments scorched and burned,

Frighting e'en vultures with the awfu! sight !

The black smoke of the dead doth blind mine eyes,
And fills my nostrils with its pungency---

This, this the resting place of her I Love !

(Agan faints, Noise without)

ATTENDENTS : (supporting the King). Here are thy kinsmen, all worn with grief, weeping at the change which hath come upon their lord.

KING : How know my kinsfolk that Bhartrhari lives today ?

Alas, alas !

श्रुत्वैव या मम विनाशमलीकमेव
प्राणांस्तृणादपि लघुनिव निर्मुमोच ।
तां तथ्यमप्युपरतामवलोक्य जीव-
ज्ञानीत जीवति न भर्तृहरिर्निराशः ।। ८ ।।

(उपसृत्य नेपथ्यावलोकितकेन सकरुणम्) देवि ! किमेतत् ।

श्रुत्वैवेति । भोःपरिजनाः ! (इति शेषः) या अलीकं मिथ्याभूतमेव मम विनाशं श्रुत्वैव न तु दृष्ट्वा प्राणान् तृणादपि लघून् निःस्सारानिव मत्वा निर्म्मुमोच त्यक्तवती । 'लघुरगुरौ च मनोज्ञे निःसारे वाच्यवत्क्लीबम्' इति मेदिनी । तां तथ्यं सत्यमपि 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यगमूनि त्रिषु तद्वती' त्यमरः । उपरतां गतासुमवलोक्यापि जीवन् प्राणान्धारयन् निराशश्च्युतधैर्यो भर्तृहरिर्न जी तीति (यूयं) जानीत ।। ८ ।।

जो मेरी प्रियतमा भानुमती मेरे मिथ्या मरण का ही समाचार सुनकर अपने प्राणों (जीवन) को तिनके की भाँति तुच्छ मानकर छोड़ दिया, उसी प्रियतमा को यथार्थ में मरी हुई देखकर जीता हुआ भी यह धैर्यहीन भर्तृहरि जी नहीं रहा है ॥ ८ ॥

(नजदीक जाकर नेपथ्य की ओर देखकर, करुणा सहित)

देवि ! यह क्या है ?

Lo, she hath died for me, although she knew
I spake her false to test the love she bare,
Like as a wisp of grass she gave her life,
And she is gone, while I must stay; yet who
Today could say that Bhartrhari lives ?

(Giong up stage with a piteous expression) My queen, what is this ?

कान्तिः क्लाम्यति कुङ्कुमादपि परिश्रान्तिः स्रजाप्यूढया
दृष्टा ताम्यति शैशिरादपि रवेर्यस्यास्तवेयं तनुः ।
सैव त्वं भसिताचिता बत चितादुर्दारुभिर्दारुणै-
राक्रान्ता गहनोत्तरङ्गिदहनोन्मादे कथं स्थास्यसि ॥ ९ ॥

परिज्ञनाः -(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कधं एस महत्तओ देव्वतिलओ । [कथमेष महत्तरको देवतिलकः ।]

कान्तिरिति । हे देवि ! यस्यास्तव कान्तिः कुङ्कुमात्काश्मीरजन्मनोऽपि 'अथ कुङ्कुमं काश्मीरजन्माग्निशिखमि' त्यमरः । क्लाम्यति ग्लानं भवति । 'क्लमु ग्लानौ' (दि० प०) वर्त्तमानसामीप्ये भूतेऽत्र लट् । श्यन् । 'ष्ठिवुक्लम्विति' (पा० ७-३-७५) दीर्घः । ऊढया मूर्ध्निधृतया स्रजा मालयापि 'माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि' इत्यमरः । परिश्रान्तिः परिश्रमः दृष्टा । इयन्तनुः मूर्त्तिः 'कायो देहः क्लीबपुंसोस्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूरि' त्यमरः ।

शैशिरान्माघफाल्गुनरूपशिशिरर्त्तुसम्बन्धिनोऽपि रवेः सूर्यात्तत्कर-सम्पर्कात्ताम्यति ग्लानं भवति । 'तमु ग्लानौ' (दि० प०) लट् पूर्ववत् श्यन् । 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनी'ति (७-३-७४) दीर्घः । सैव त्वं भसितैः भस्मभिः 'भूतिर्भसितभस्मनी' त्यमरः । आचिता व्याप्ता । चिताभस्मावगुण्ठितेति कुङ्कुमप्रतिरूपकोक्तिः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । दारुणैः भयानकैरतिकठोरगुरुभिरिति यावत् 'दारुणं भीष्रणं भीष्मं घोरं भीमं भयानकमि' त्यमरः । चितादुर्द्दारुभिः चितासम्बन्धिदुष्काष्ठैराक्रान्ता[1] गहनोतरङ्गी ज्वलद्दावाग्निस्तत्तुल्यो यो दहनश्चिताग्निः । तस्योन्मादे समन्ततो दीप्तौ कथं स्थास्यसीत्यसम्भवोक्तिध्वनिः वतेति खेदे ॥ ९ ॥

जो तुह्मारी कान्ति (सौन्दर्य) पहले कुंकुम लगाने से भी उदास हो जाती थी, माला धारण करने पर भी थक जाती थी और तो और शिशिर ऋतु में भी तुह्मारा जो शरीर परिश्रान्त हो जाता है; हाय ! वही तुम राख से भरी हुई इस भीषण चिता पर कठोर लकड़ियों की भारी बोझसे लदी हुई (अथवा कठोर लकड़ियों से दबी हुई), लपकते दावानल की भाँति अग्नि की इस भयानक ज्वाला में कैसी रहोगी ? ॥ ९ ॥

परिजन - (नेपथ्य की ओर देखकर) क्या ये महामन्त्री देवतिलक हैं ?

Thy beauty faded even as thy saffron,
All wearied from thy garland's weight thou art,
With ashes covered o'er, by logs oppressed,
How cans't thou bide within this sea of flame ?

ATTENDANTS : (looking up stage) Why comes this courtier, Devatilaka ?

---

१. एताच्चार्थवशाद्व्याख्यातम् । गहने वने उद्धतस्तरङ्गो ज्वालापरम्परा यस्येत्यर्थात 'दवदावौ वनानले' इति चामरः ।

देवतिलकः -(प्रविश्य) देव ! समाश्वसिहि ।

राजा - कथमाश्वासितव्यम् !

हित्वा मां विधिहतमेष जीवलोका-
दाश्वासः सुखमनया सह प्रयातः ।
धिक्प्राणांस्तदनुसृतानितो बतैवं
दुर्दैवं समवरुणद्धि कः प्रकारः ॥ १० ॥

अपि च, मया स्वयमेव प्रियतमामभिसंधाय स्वस्मिन्नियमुपनिपातिता विपत् । तथा हि ।

समाश्वासो धैर्यावलम्बनम् ।

हित्वेति । एष आश्वासः धैर्यावलम्बनम् । बिधिना दुर्द्दैवेन हतं गतासुप्रायं मां हित्वा त्यक्त्वा 'ओहाक् त्यागे' 'जहातेश्च क्त्वि' इति (पा० ७-४-४३) इत्वम् । जीवलोकात् अनया मत्प्रियया सह सुखमनायासेन प्रयातः प्रस्थितः । इतोऽस्माज्जीवलोकात् तदनुसृतान् आश्वासानुगतान् प्राणान् दुर्द्दैवं (कर्त्तृ) एवं समवरुणद्धि निवारयति वतेति खेदे । अतो धिक् अर्थाद्दुर्द्दैवमेव । कः प्रकारो विधय इति शेषः । नास्ति प्रतिकूलदैवोपरोधे कश्चन प्रकार इति सानुशयोक्तिः ॥ १० ॥

देवतिलक - (प्रवेश करके) देव ! धीरज धरें ।

राजा - कैसे धीरज धरें ।

यह 'सान्त्वना' (धैर्य) तो विधि के मारे मुझे छोड़कर मेरी इस प्रियतमा के साथ सुखपूर्वक मर्त्यलोक से ही चला गया । हा ! इस दुर्दैव (विधिके प्रतिकूल विधान) को धिक्कार है, जो उस सान्त्वना के अनुगमन कर रहे मेरे प्राणों को इस प्रकार रोक रहा है । अब इसका क्या प्रतीकार है ? (अब इसका उपाय भी क्या है) ॥ १० ॥

उस पर भी, मैंने स्वयं अपनी प्रियतमाको प्रतारित कर (उन्हें लक्ष्य करके) इस विपत्तिको अपने पास बुलाया है । जैसे -

(Enter DEVATILAKA)

DEVATILAKA : Courage, Sire !

KING : How can I have courage ?

All consolation's fled and gone with her
From earth to heaven, but Fate hath stricken me !
A curse upon my life, that fain would pass
Where she doth dwell, the while mine evil lot
Constrains me here ! Ah, me! what can I do ?

By mine own act this misfortune hath befallen me for deceiving my wife. Lo,

स्वयं निर्मायान्धुं बत हतधियास्मिन्निपतितं
मया व्यादायास्यं स्वयमहिपतेश्चुम्बितमिदम् ।
कृपाणेन स्वेन प्रहतमिदमात्मन्यकरुणं
स्वयं सुप्त्वा सद्मन्यहह ! निहितो द्वारि दहनः ।। ११ ।।

देवतिलकः- राजन् ! अतिमहत्येव दुःखहेतौ मनः श्लथीकृत्याश्वसन्ति महान्तः ।

स्वयमिति । हतधिया मया स्वयमात्मनैवान्धुं कूपं 'पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूपमि' त्यमरः । निर्माय अस्मिन्नन्धौ निपतितं निपातः कृतो बतेति खेदे। अथ वा अहिपतेः सर्पराजस्य वासुके र्महाविषस्य 'वासुकिस्तु सर्पराज' इत्यमरः । आस्यं मुखं व्यादाय प्रसार्य स्वयम् इदं चुम्बितम् । तच्चुम्बनतुल्यमिदं मच्चेष्टितमित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । अथ वा स्वेन स्वकीयेन स्वहस्तस्थितेनेति यावत् कृपाणेन खड्गेन 'खड्गे तु निस्त्रिंशश्चन्द्रहासासिरिष्टयः । कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवदि' त्यमरः । आत्मनि स्वशरीरे अकारणं निर्दयं यथा स्यात्तथा प्रहतं प्रहारः कृतोयम् । अथ वा सद्मनि गृहे 'गृहं गेहोदवसितं वेश्मसद्मनिकेतनमि' त्यमरः । सुप्त्वा स्वयमात्मनैव द्वारि दहनो वह्निर्निहितो निःक्षिप्तः । यन्मृगयाव्याजेनात्मविप्रयोगमापाद्य दुराख्यायिपुरुषमुखेनालीकमेवात्ममरण-माश्राव्यास्याः प्रेमपरीक्षणं कृतं, यस्योदर्कोऽयमेतावाननर्थ उदभूदिति भावः ।

अहहेतिखेदातिशयोक्तिः । 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः । अद्भुते अभूतपूर्वे ॥ ११ ॥

श्लथीकृत्य निरुद्धप्रसरं कृत्वा । समाधायेति यावत् ।

अहो ! स्वयं कूआँ खोंदकर मूर्ख अपने ही उसमें गिर पड़ा । अजगर का मुँह खोलकर स्वयं मैंने उसका चुम्बन किया । अपने ही तलवार से स्वयं अपने ऊपर निर्दयता से प्रहार किया । अहह ! और तो और, घर के भीतर सोकर स्वयं द्वार में आग लगा दी, जिससे पूरा का पूरा घर जल उठा ॥ ११ ॥

देवतिलक. - राजन् ! बहुत् बड़ी विपत्ति के आने पर ही विचारवान् व्यक्ति (महान् लोग) अपने मनको स्थिर(शान्त)कर धैर्य धारण करते हैं ।

'Twas I that digged the pit wherin I fell,
'Twas my lips kissed her with a serpent's sting,
'Twas my sword wrought the murder of my soul,
'Twas I that slept at ease while my house burned !

DEVATILAKA : Sire, though the great be weak of heart in time of awful pain, they take courage once again !

राजा - वैगुण्यमण्वपि सरोजदृशो यदि स्या-
दस्यामिदं बत कथं न मनः श्लथं स्यात् ।
तादृक्पुनः कणमितोऽपि गुणः कुतोऽपि
प्राप्येत चेन्न[1] कथमाः क्षणमाश्वसीमि ॥ १२ ॥

देवतिलकः - राजन् ! तथाप्यापदि धैर्यमेवाबलम्बनम् ।

वैगुण्यमिति । सरोजदृशः कमलनयनाया मत्प्रियाया अणु किञ्चिदपि वैगुण्यं यदि स्यात्तदास्यां प्रेयस्यां मनः कथं श्लथं बिरागि न स्यात् परन्तन्नास्त्येवातो न कथंचिदपि श्लथं भवतीति भावः । एवं तादृक् तद्गुणसदृशो गुणः कणमितोऽल्पीयानपि कुतोऽपि कस्माच्चित्[2] कुत्रचिद्वा

---

१. 'कथमाश्वसिमि क्षणार्धम्' इति पाठः ।
२. यद्यपि पञ्चम्यन्तादेव तसिः । सप्तम्यास्त्रल् । तथापि 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानमि'ति (५-४-४४वा०) सार्वविभक्तिकोऽपि तसिः । आदौ आदित इति यथा ।

प्राप्येत चेत् तदा कथं क्षणार्द्धमपि न आश्वसिमि। धैर्यमवलम्बयामि। 'स्वस्प्राणने' (अ ० प०) 'रुदादिभ्य: सर्वधातुक' इति (७-२-७६) इडागम: । नैव कुतोऽपि प्राप्यत इत्यवसीदामि धृतेरिति भाव: ॥ १२ ॥

राजा - इस कमलनयनी में यदि अणुमात्र भी दोष होता तो इसके सम्बन्ध में मेरा मन क्यों न शिथिल होता ? (अर्थात् तब मैं अवश्य ही धैर्य धारण करता) फिर यदि इसके समान गुणका लेश मात्र भी कहीं किसी में दिखता तो आधे क्षणके लिए भी सही मैं धैर्य धारण क्यों नहीं करता ? (अर्थात् वैसी स्थिति में अवश्य ही धैर्य धारण करता।) ॥ १२ ॥

देवतिलक. - राजन् ! फिर भी आपत्ति काल में एक धैर्य ही अवलम्बन होता है। (कहा भी गया है कि 'विपत्ति धैर्यम्'।)

KING : Yea, had there been some little fault in her,
My heart had pitied her; but love like this,
Where can one atom e'er be found again ?
And at this thought my courage droops and dies.

DEVATILAKA : Sire, even so, firmness is a support .

राजा -

किं तादृशेन धैर्येण धिक्कृतस्य ममाधुना ।
ईदृशो विप्रयोगस्य यत्प्रतीपं व्यवस्यति ॥ १३ ॥
(शवदोलालोकनं नाटयित्वा सोन्मादम्) देवि ! देवि !!

किमिति । धिक्कृतस्य लोकैरिति शेष: । ''कथमेवं निरनुक्रोशो भर्त्तृहरी राजा यदनागसं तादृशीं प्रेयसीं परलोकाय संप्रेष्यापि स्वयं जीवन्नत्रास्त इत्येवं लोकैर्भर्त्सितस्य मम तादृशेन लोकधिक्कारपदेन धैर्येणाधुनेदानीं प्रेयसीविरहे किं न किमपि प्रयोजनमुपपद्यत इति भाव: । यत् यत: 'यत्तद्यतस्ततोहेतावि'त्यमर: । ईदृश: उक्तप्रकारस्य किन्नन्तोऽत्र द्वशि: । विप्रयोगस्य तथाविधप्रेयसीविरहरूपस्य प्रतीपं प्रतिकूलं जीवनधारणरूपं व्यवस्यति उद्युङ्क्ते । धैर्यमिह कर्त्तृ ॥ १३ ॥

राजा - धिक्कार के योग्य अथवा धिक्कार को प्राप्त मेरे उस प्रकार के धैर्य से भी अभी क्या लाभ, जो इस तरह के वियोग का प्रतिकूल ही कर रहा है (अर्थात् जीवन धारण रूप विपरीत ही कार्य कर रहा है, अन्यथा इसे भी चला जाना चाहिए था।) ॥ १३ ॥

(यहाँ राजा अपने को धिक्कार का काबिल मानता है, क्यों कि जिसने स्वयं जानबूझकर अपनी पत्नी को मृत्यु के मुख में डाल दिया हो और स्वयं जीता हो, वह संसार में धिक्कार के योग्य ही तो होगा।)

(अर्थी को देखकर, पागल की भाँति-)

हे देवि ! प्राणेश्वरी !

KING : **Support ! what means that word ? Oh, curse my deed !**
For union, not for parting, is my prayer !
(Seems to look frantically on a litter for the dead)

O my queen ! my queen !

स्नेहाम्भोनिधिरयमावयोरगाध:
साधु त्वं सुमुखि ! गतासि पारमस्मिन् ।
संजातो मम पुनरन्तरा निपातो -
निर्मग्न: परमिह मोहमेकमूहे ॥ १४ ॥

स्नेहेति । हे सुमुखि ! आवयोस्तव मम चायं स्नेहाम्भोधि: प्रेमसमुद्रोऽगाधोऽतॅलस्पर्शो दुरन्तपारो दुस्तर इति यावत् 'अगाधमतलस्पर्श' इत्यमर: । आसीत् । परं त्वमस्मिन् स्नेहाम्भोधौ साधु सम्यक् पारं गतासि । मम पुनरन्तरा मध्य एव निपात: सञ्जात: । अहमिह स्नेहाम्भोधौ निर्मग्न एकं केवलं सुखलवैरप्यसंपृक्तं परमुत्कृष्टं मोहं मूर्छाम् ऊहे अनुभवामि । क्षणे क्षणे इति शेष: । 'ऊह वितर्के' (भ्वा० आ०) लट् ॥ १४ ॥

यह हम दोनों के अगाध प्रेमका सागर है, जिसमें हे सुमुखि! तुम तो भली - भाँति पार हो गयी। परन्तु मेरा तो मध्य सागर में ही पतन हो गया (मैं तो बीच समुद्र में ही गिर गया) और यहाँ मैं डूबा हुआ (निमग्न) केवल सन्ताप (पीड़ा, मोह) का अनुभव कर रहा हूँ ॥ १४ ॥

How deep the ocean of thy love, dear heart,
Where thou hast voyaged in safety to thy port,
While I am drowning in the waves that close
Above my head for my most grievous wrong !

हा देवि !

अद्यैव त्वमनङ्गमङ्गलकलासंभारभूरप्यभू-
रद्यैवावसितेदृशी मम हृदो निर्दारणा दारुणा ।
अद्यैवासमुदारमेदुरमदः सौभाग्यसौख्यैकभा-
गद्यैवास्मि बहिर्गतः प्रतिहतश्रीजीवलोकादपि ॥ १५ ॥

(नेपथ्ये)

देव ! दिज्जउ देवीए हुअवहादेसो । [देव ! दीयतां देव्या हुतवहादेशः ।]

राजा - (आकर्ण्य) हन्त ! नैवं व्यवसितव्यम् । (सक्रोधं च) कथमस्मत्प्रतिषिद्धमाचरितुमुद्यता बान्धवाः ?

अद्यैवेति । हे देवि ! अद्यैव त्वम् अनङ्गस्य कामस्य यो मङ्गलकलासम्भारः मङ्गलप्रदकौशलसम्भृतिस्तस्य भूरुत्पत्तिस्थानमाश्रयोऽप्यभूः । पुनः अद्यैव अवसिता अवसानं पश्चिमां दशां गता । ईदृशी अननुभूतरूपा मम हृदो दारुणा भयंकरी निर्द्दारणा विदारणसाधनभूता जाताऽसि । अद्यैव उदारः प्रशस्तमहिमा मेदुरः स्निग्धः 'सान्द्रस्निग्धस्तु मेदुर' इत्यमरः । मदो हर्षो यस्य तथाभूतोऽहं सौभाग्यसौख्ययोरेकभोक्तैकाश्रय आसम् । स एवाहमद्यैव प्रतिहता निरुद्धप्रसरा श्रीः सौभाग्यादिलक्ष्मी र्यस्य

तथाभूत: जीवलोकादपि बहिर्भूतोऽस्मि । न हि जीवनसुखं किञ्चिदप्यत: परं पश्यामीति भाव: ॥ १५ ॥

हाय ! प्राणेश्वरी !

आज ही तुम कहाँ कामदेव की मङ्गलकलाओं के समस्त साधनों की उत्पत्तिस्थली थी (अथवा कामदेवकी मङ्गला= पतिव्रतास्त्री, कला=रति की भाँति साधन स्थली थी) और कहाँ आज ही मेरे लिए इस अननुभूता दशा में भी अपने निधन से (अवसान से) मेरे हृदयके लिए कठोर (और प्रचण्ड) निर्दारणा (विदारिका, फाड़ देनेवाली) बन गयी हो। कहाँ मैं आज ही कान्तियुक्त - उदार-स्निग्ध (कोमल), हर्षातिरेक से युक्त तथा सौभाग्य और सुख का एकमात्र आश्रयस्थल था और कहाँ आज ही मैं श्रीहीन होकर इस जीवलोक से भी बाहर हो गया हूँ ॥ १५ ॥

(नेपथ्य से आवाज आती है - महाराज ! देवी को अग्नि संस्कार के लिए आज्ञा दीजिए।)

राजा - (सुनकर) हाऽऽ ! ऐसा न करो। (क्रोध से) मेरे द्वारा मना किये गये कार्य को करने पर क्या बान्धवजन उद्यत हैं ?

Alas ! my queen !

Today the gentle arts of love were thine,

Today my heart doth break for evermore !

Today all joy, all happiness I held,

Today my glory turns to living death !

VOICE : (without) Sire, give commandment to bear the queen to the pyre !

KING : (listening) No, it shall not be !(Angrily) why do my kinsmen try to thwart my will ?

देवतिलकः -राजन्! अलमेतादृशेन निर्बन्धेन।

राजा - निर्बन्ध एवायम्। -

मामेवं बिधिहतमित्यपोह्य यूयं चेद्वह्नौ वपुरथ दित्सथ प्रियायाः।
संरोद्धुं हृदयमपारयन्निदानीं जानीत ध्रुवमहमत्र प्रविष्टः ॥१६॥

(इति सोन्मादं चिताभिमुखं धावति)

देवतिलकः- हन्त! वयमपि गत्वा राजानं धारयामः।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति महामहोपाध्याय -सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-
हरिहरोपाध्यायविरचिते भर्तृहरिनिर्वेदनाटके द्वितीयोऽङ्कः ॥

मामेवमिति। भोः परिजनाः! चेद्यदि यूयं विधिना दुर्दैवेन हतं गतासुप्रायं कृतं मामेवमपोह्य निवार्य मे मम प्रियाया वपुः शरीरं वन्हौ दित्सथ दातुमिच्छथ। तदा इदानीमस्मिन्नेव काले हृदयं संरोद्धुमपारयन् अशक्नुवन् अहमत्र चिताग्नौ प्रविष्ट इति यूयं जानीत ॥ १६ ॥

इति महामहोपाध्यायमुकुन्दझावक्शीविरचितायां
श्रीमद्भर्तृहरिनिर्वेदव्याख्यायां सुखबोधिनीसमाख्यायां
द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

देवतिलक. - राजन्! ऐसा हठ न करें। (इस तरह मना करना व्यर्थ है।)

राजा - यह हठ ही सही।

(हे बान्धवजन!) आप लोग मुझे विधिका मारा हुआ जानकर (दुर्दैव का मारा हुआ समझकर कि अभी ये अपनी मनःस्थिति में नहीं हैं, अतः उचित-अनुचित विचार नहीं दे सकते) यदि उपेक्षा करके (दाह संस्कारादिकार्य से दूर करके) मेरी पत्नी के शरीर को आग में देने या आग के हवाले करने की इच्छा (भी) रखते हैं, तो आप सब यह निश्चय जान लें कि मैं

भी अभी अपने हृदयको रोकने में असमर्थ होकर निश्चय ही यहाँ (चितामें) प्रविष्ट हो जाऊँगा ॥ १६ ॥

(पागलकी भाँति राजा चिता की ओर दौड़ते हैं।)

देवतिलक - हा कष्ट ! अब हम भी जाकर राजा को पकड़ते हैं।

(सभीका प्रस्थान। पर्दा गिरता है।)

॥ भर्तृहरिनिर्वेद के दूसरे अंक का
'जयन्ती' हिन्दी व्याख्यान समाप्त हुआ ॥

DEVATILAKA : Sire, give o'er this obstinacy !

KING : Obstinacy, indeed !

**Ye'd thrust me back because I'm damned by Fate,
Would give my darling's body to the flames,
Lo, thus I burst the fetters of my heart,
And in the fire I plunge to be with her !**

(Rushes frantically toward the pyre)

DEVATILAKA : Quick ! we must stay the king !

(Exeunt omnes)

END of Act. II

तृतीयोऽङ्कः

कञ्चुकी - (प्रविश्य) (स्खलनं नाटयित्वा) हन्त ! जराशोकाभ्यामभिभूतस्य मे दण्डकाष्ठमपि नालम्बनाय। यतः -

सहजेन जरापराहता विधुता स्वामिशुचा पुनस्तनुः ।
अथ तत्प्रविकारसंभ्रमाद्विकला केन किलावलम्ब्यताम् ॥ १ ॥

(कृच्छ्रेणोत्थाय) यावद्योगिनोऽस्य प्रतिज्ञातं राजशोकापनयनममात्याय विज्ञापयामि। (परिक्रम्यावलोक्य) कथमयममात्यः ?

सहजेनेति। सहजेन (कालकृतस्वभावेन) हेतुनेति यावत् 'सहजस्तु निसर्गे ना सहोत्थे पुनरन्यवदि' ति मेदिनी। 'स्वरूपश्च स्वभावश्च निसर्गश्चे' ति चामरः। हेत्वर्थे 'हेतावि' ति (२-३-२३) तृतीया जरया वृद्धावस्थया (कर्त्तृभूतया) पराहताऽभिभूता पुनः स्वामिनो भर्तृहरे राज्ञः शुचा शोकेन विधुता विशेषेण कम्पिता। 'धुञ्कम्पने' (स्वा० उ०) क्तः। अथानन्तरं तयोर्जराशुचोः प्रकृष्टविकारस्य संभ्रमात्संबेगात् 'समौ संवेगसंभ्रमावि' त्यमरः। विकला स्वकार्यकरणाक्षमा तनुः कायः (देहः) केनावलम्ब्यतां किल। किमवलम्ब्य तिष्ठतु। न किमप्यवलम्बसाधनं सम्भाव्यते। अत्र किलेति सम्भाव्योक्तौ। 'वार्त्तासम्भाव्ययोः किले' - इत्यमरः ॥ १ ॥

(पर्दा उठता है। कञ्चुकी आता है।)

कञ्चुकी - (लड़खराते हुए-) हाय ! बुढ़ापे और दुःखों से अभिभूत (ग्रस्त) मैं ठीक से लाठी भी नहीं पकड़ सकता। क्यों कि -

पहले तो मेरा यह शरीर स्वाभाविक रूप से ही वृद्धावस्था के कारण शिथिल हो गया है, फिर अपने स्वामी राजा भर्तृहरि के शोक से यह विशेष कम्पित है। ऐसी स्थिति में

इन दोनों के कारण शारीरिक इस विकृति से विकल होकर (यह शरीर) किसका सहारा ले ? ॥ १ ॥

(कष्ट पूर्वक उठकर) अच्छा ! तो राजाको शोक से दूर करने के लिए की गयी इस योगी की प्रतिज्ञा को मन्त्री से बता दूँ। (परिक्रमण करके, देखते हुए-) क्या ! ये मन्त्री ही हैं ?

(Enter CHAMBERLAIN)

CHAMBERLAIN : (stumbling) Alas ! even a staff is no support for me who am vanquished by age and grief ! Nay,

My body worn with age and sick with grief
For my dear lord, and frighted by the change
That hath come o'er him--what could be its staff ?

(Rising with difficulty) Now I shall tell the minister of the ascetic's promise which will free the king from sorrow. (Walking about and gazing fixedly) why, this is the minister.

देवतिलकः - (प्रविश्य) (सचिन्तम्)

कथमहह परस्परप्ररूढप्रणयगुणग्रथनस्थिरोऽयमन्तः ।
बत बहिरपनीयतामिदानीं मरणसुखैकरतेरमुष्य शोकः ॥ २ ॥

कञ्चुकी - (उपसृत्य) अमात्य ! योगीश्वरोऽयं 'राज्ञः शोकमपनेष्यामि' इति प्रतिजानीते ।

देवतिलकः- (सानन्दम्) एवमस्तु । तदस्त्वत्र राजा योगिनं गत्वावलोकयामि ।

(इति निष्क्रान्तौ)

इति विष्कम्भकः ।

कथमिति । इदानीमस्मिन्समये मरणमेव सुखं (मत्वा) तत्र एका मुख्या 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । रतिः प्रीति र्यस्य तथाभूतस्यामुष्य भर्तृहरे राज्ञः । अन्तर्हृदि परस्परमन्योन्यं प्ररूढ़ो नितान्तं वर्द्धितो यः प्रणयः स्नेहः स एव गुणो बन्धनसाधनं रज्जुः 'रज्जुस्त्रिषु वटी गुण' इत्यमरः । तेन यद्ग्रथनं

परस्परबन्धनं तेन स्थिरोऽयं शोकः कथं केन प्रकारेण बहिः अपनीयताम् बतेति विस्मयामन्त्रणे । अहहेत्यद्भुते खेदे ॥ २ ॥

विष्कम्भकः - तल्लक्षणन्तु सुधाकरे -

'तत्र विष्कम्भको भूतभाविबस्त्वंशसूचकः ।
अमुख्यपात्ररचितः संक्षेपैकप्रयोजनः ॥
द्विधा स शुद्धो मिश्रश्च मिश्रः स्यान्नीचमध्यमैः' ।
शुद्धः केवलमध्योयमेकानेककृतो द्विधा'॥ इति ।

तदयमेककृतः शुद्धस्तथाभूतस्य राज्ञोऽवस्थापनेन, वैराग्यप्रदस्य योगीश्वरस्योपस्थापनेन च भूतभविष्यतोर्वस्तुनोः सूचनम् ।

देवति. - (प्रवेश करके, चिन्तित से होकर)
अभी बस केवल मरण को ही सुख समझने वाले, उसी में अपना प्रेम देखनेवाले इस राजा भर्तृहरि के हृदय में जो नितान्त स्नेह और गुणरूपी बन्धन से जकड़ा हुआ यह अविचल शोक है, उसे कैसे बाहर हटाया जाय ? ॥ २ ॥

कंचुकी - (पास आकर) मंत्रिवर ! ये योगीश्वर प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं राजा का शोक दूर कर दूँगा ।

देव. - (आनन्द पूर्वक) यही हो । तब तो राजा यहीं रहें । मैं योगी को जाकर देखता हूँ। (जिससे राजा के साथ उन्हें मिलाया जा सके ।)

---

१. मध्येन मध्यभाम्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥
इति दर्पणकारोक्तेः । तत्र 'दर्पणे'
वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निर्देशकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शित ॥ इत्यप्युक्तम् । तत्र मध्येनेति । तत्र नात्युच्चनीचं पात्रं मध्यमित्युच्यते नीचेति । अयमत्र निष्कर्षः । शुद्धसंकीर्णभेदेन द्विविधो विष्कम्भकः । तत्रैकद्विमध्यमपात्रप्रयुक्तः संस्कृतात्मकः शुद्धः । मध्यमनीचपात्रप्रयुक्तः संस्कृतप्राकृतात्मकः संकीर्ण इति ।

(दोनों जाते हैं।) विष्कम्भक समाप्त हेता है।

(Enter DEVATILAKA)

DEVATILAKA : (meditatively)

And so the end hath come for very love !

How strong the bond betwixt the king and queen !

Ah, let me voice my grief, who fain were dead !

CHAMBERLAIN : (approaching), Excellency, the noble ascetic promises he will heal the king's woe.

DEVATILAKA : (joyfully) So be it ! Let the king be here; I will go see ascetic.

(Exeunt) (End of the connecting scene)

(ततः प्रविशति सोन्मादो राजा)

राजा -

अयि कान्ते काशिराजनन्दिनि !

त्वया त्यक्ताः प्राणाः प्रणयिमरणाकर्णनवशा-
द्यशः स्त्रीणां त्रीनप्युपरि बत लोकानिदमभूत।
अतो देहः शोच्यो बत बत न मोच्यो यदि मया
कथं वार्यो यूनां गुरुरपयशोदुन्दुभिरयम् ॥ ३ ॥

इयं च मे साधीयसी प्रत्याशा यदेनामङ्के निधाय मृतस्यैतदनुध्यानवशाज्जन्मान्तरेऽप्यनया सनाथत्वं भविष्यतीति।

(नेपथ्ये)

हा डिब्बिए ! कहिं सि गदा। हा देव्व ! अइपडिऊलदाए मं परिहरिअ णासिआ मे डिब्बिआ। [हा डिब्बिके ! कुत्रासि गता ? हा दैव ! अतिप्रतिकूलतया मां परिहृत्य नाशिता मे डिब्बिका।] (इति विकलं रोदिति।)

राजा - (आकर्ण्य) कामं ममेवातिशोकोपहतस्यायमार्तनादः। तद्भवतु। गत्वा विलोकयामि। (इति परिक्रामति) (परिजना अनुसरन्ति)

राजा - (विलोक्य) कथमयं योगी भग्नां स्थालीमनुशोचमानो निपतति। तद्भवतु! एनमाश्वासयामि।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो योगी)

योगी - हा डिब्बिए.....(इत्यादि पूर्वोक्तं पठित्वा रोदिति)

राजा - योगिन्! समाश्वसिहि।

योगी - (निःश्वस्य) हन्त! केरिसो आसासो जस्स मह दूरदेसपरिब्भमणसहअरी अणेअगुणप्पणइणी डिब्बिआ भग्गा। [हन्त! कीदृश आश्वासो यस्य मम दूरदेशपरिभ्रमणसहचरी अनेकगुणप्रणयिनी डिब्बिका भग्ना।]

त्वयेति। त्वया प्रणयिनः प्रियतमस्य मम मरणस्य यदा कर्णनं श्रवणं तद्वशादेव प्राणास्त्यक्ताः इदं स्त्रीणां स्त्रीजातेर्यशः त्रीनपि लोकान् अतिक्रम्य उपरि अभूत्। बतेति सन्तोषे 'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणेवते' त्यमरः। अत एतस्मात् कारणात् मया यदि देहो न मोच्यः तदाहं शोच्यः लोकानाम् दुर्यशो भाजनत्वात् बत बतेति खेदातिशये द्विर्भावः। कुतस्मात्सर्वथा देहत्याग एव स्मरणम्। कथमन्यथा यूनां तरुणानां पुंसां (पुंजातेः) अयं गुरुर्म्महान् अपयशोदुन्दुभि दुर्यशोभेरीनादः 'स्याद्भेर्य्यां दुन्दुभिः पुंसी' त्यमरः। वार्य्यो वारणीयः स्यात्। न केनापीत्यर्थः॥ ३॥

साधीयसी। अतिशयेन साध्वी। साधुशब्दादतिशायने ईयसुन् (५-३-५७) 'टेरि' ति (६-४-१५५) टिलोपः। अनुध्यानमुत्कण्ठापूर्वकं स्मरणम्। ततश्च। यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्।

तन्तमेवेति कौन्तेयेतिभगवद्वचनाज्जन्मान्तरेऽन्यजन्मन्यपि सनाथत्वं सहितत्वम्। डिब्बिका मृन्मयः पात्रभेदः।

(पागल की भाँति राजा का प्रवेश)

राजा - हा! प्रिये! काशिराजसुते!

तुमने तो अपने प्रियतम के मरण-समाचार को सुनकर ही प्राण त्याग दिया, जिस कारण नारियों का यश तीनों लोक (स्वर्ग-मर्त्य और भूलोक) से भी ऊपर उठ गया। अहो ! ऐसी स्थिति में, अब यदि मैं अपने इस शोक करने योग्य शरीर को त्यागता नहीं हूँ तो संसार में युवकों के द्वारा होने वाले उस भयंकर अपयश रूपी नगाडे को कैसे हटा पाऊँगा (कि यही वो राजा है, जिसने अपनी मृत्यु का मिथ्या समाचार फैलाकर अपनी ही पत्नी की जान ली है) ॥ ३ ॥

अब मुझे अपनी अभिलाषा को पूरा करना ही चाहिए कि प्राणेश्वरी को अपनी गोदमें लेकर इस जीवन लीला को समाप्त कर दूँ; जिससे कि उनकी चिन्ता में सतत मग्न रहने के कारण जन्मान्तर में भी इन्हीं का पति बनूँ।

नेपथ्य में - हा डिब्बिके ! (हाय डिब्बी !) तू कहाँ चली गई ? हा दैव ! तू ने बड़ी ही निष्ठुरता से मुझे छोड़कर मेरी डिब्बी को नाश कर दी ।

(यह कहकर विकलता से रोता है।)

राजा - (सुनकर) मेरे ही समान किसी अत्यन्त शोकाकुल व्यक्तिका यह कैसा करुण क्रन्दन है ? .... जो भी हो, जाकर देखता हूँ।

(घूमते हुए जानेका अभिनय करते हैं। परिजन भी उनका अनुसरण करते हैं।)

राजा - (देखकर) क्या ! यही योगी टूटे डब्बे को लेकर शोकवश गिड़ता-पड़ता आ रहा है। अच्छा, तो इसे धैर्य दिलाना चाहिए।

(अनन्तर उसी रूप में योगी का प्रवेश।)

योगी - हा डिब्बिके ! तू कहाँ चली गयी ? मुझे अकेले छोड़ तू कहाँ हो ? हा दैव ! तूने बड़ी ही निर्दयता से मेरी डिब्बी नाश कर दी। (रोने लगता है।)

राजा - योगिन् ! धैर्य रक्खें।

योगी - (निःश्वास लेकर) हाय ! कैसे धीरज रक्खूँ ? मेरे दूर देश तक जाने में सदा साथ देनेवाली, अनेक गुणों की खान मेरी डिब्बिका टूट गयी।

(Enter the KING in frenzy)

KING : Oh, my beloved, thou daughter of Benares' king !
Thy life is fled because thou heardst I died---
Be this thy fame above all womankind !
But I, alas ! how wretched must I live,
Dishonored by the dooming drums of shame !

This is my chief hope, to take her in mine arms, and through meditation on death to become her spouse in another birth.

VOICE : (without) My bowl ! where art thou ? O God ! most cruelly hath my bowl been reft from me and destroyed ! (Weeps as if exhausted)

KING : (listening) Truly a sound of grief as it were mine own that am striken down by sorrow ! How now ! Let me go and see . (Walks about, followed by attendants . Looking about him) Why does this ascetic sink down for grief because of a broken jar ? Come let me console him.

(Enter ASCETIC, as described)

ASCETIC : My bowl ! (Weeps as he repeats his former words)

KING : Be comforted, Ascetic !

ASCETIC (sighing): Alas ! what comfort for me whose bowl is broken, the companion of my wanderings in many lands, my wife of virtues manifold ?

राजा - (सकरुणम्)

अल्पस्यापि व्यपायेन प्रेयसो विषयस्य कः।
न शोचते पुनः किं स्यान्मादृशामीदृशापदि ॥ ४ ॥

तथापि बोधयामि योगिनम्। योगिन् ! किमनया नष्टया एवं परितप्यसे ?

योगी - (साम्रम्) के तुम्हे णिठ्ठुरा एव्वं भणध। अह वा अणहिण्णा एदाए गुणाणम्। [के यूयं निष्ठुरा एवं भणथ ? अथवा अनभिज्ञा अस्या गुणानाम् ।]

राजा - के नामस्या गुणाः ?

योगी - हन्त ! केत्तिआ गणिज्जन्तु। तहवि के वि गणिज्जन्ति। [हन्त ! कियन्तो गण्यन्ताम्। तथापि केऽपि गण्यन्ते ।]
(संस्कृतमाश्रित्य)

अल्पस्येति। अल्पस्यापि प्रेयसोऽतिप्रियस्य विषयस्य व्यपायेन नाशेन को न शोचतेऽपि तु सर्वोऽपि प्राणिवर्गः। मादृशां मत्सदृशानां गुरुतरप्रेयोवस्तुविरहवताम्। ईदृशापदि तादृशप्रियतमाविरहरूपाया-मस्यामापदि विपत्तौ किं पुनः स्यात् सर्वथा शोकसमुद्रनिपात एव स्यादिति भावः ॥ ४ ॥

राजा - (करुणा पूर्वक, स्वगत).

अत्यधिक प्रियवस्तु को थोड़ा भी नाश हो जानेसे कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जिसे दुःख न हो ? (अर्थात् सभी को होता ही है।) फिर, मेरे जैसे ऐसी विपदा में पड़े व्यक्ति का तो कहना ही क्या ? (अर्थात् वह व्यक्ति तो मानो शोक - सागर में ही डूब गया हो।) ॥ ४ ॥

फिर भी इस योगी को ढ़ाँढस दिलाता हूँ। (प्रगट रूप से) हे महात्मन् ! इसके नष्ट हेने से इतना परिताप (दुःख) क्यों करते हैं ?

योगी - (आँखों में ऑसू भरकर) अरे ! तू कौन निष्ठुर ऐसा कहता है ? अथवा इसके गुण से तू सर्वथा अनजान है।

राजा - इसके क्या-क्या गुण थे ?

योगी - हाय ! मैं कितना गिनाऊँ ? फ़िरभी कुछ गिनाते हैं - (संस्कृतका आश्रय लेकर -)

KING : (with sympathy)

Who grieveth not to lose what most he loves,
Small though it be ? But wert thou reft as I,
How could'st thou bear misfortune's burden then !

So shall I address this pious man. Ascetic, why art thou so distressed at the breaking of this bowl ?

ASCETIC (tearfully) : Who art thou that speakest so harshly ? Thou knowest not its virtues.

KING : What were they, pray ?

ASCETIC : Ah, so great they should be told, but who can tell them ? (Speaking Sanskrit),

करीषानुच्चेतुं दहनमुपनेतुं मुहुरपः
समाहर्तुं भिक्षामटितुमथ तां रक्षितुमपि ।
पिधातुं पक्तुं चाशितुमथ च पातुं क्वचिदथो -
पधातुं नः पात्री चिरमहह चिन्तामणिरभूत् ।। ५ ।।

करीषानिति । नोऽस्माकमियं पात्री मृन्मयभाजनं (डिब्बिका)। 'त्रिषुपात्री' त्यमरः । 'पात्र्यमत्रेत्रिष्वि' ति मेदिनी । 'पात्रं तु कूलयोर्म्मध्ये पर्णे नृपतिमन्त्रिणि । योग्यभाजनयोर्यज्ञभाण्डे नाट्यानुकर्त्तरि' इति हैमः । चिरं सुबहुकालपर्यन्तम् अत्यन्तसंयोगे 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २। ३।५) इति द्वितीया । करीषान् शुष्कगोमयपिण्डान् उच्चेतुं राशीकर्तुं दहनं वन्हिमुपनेतुमानेतुं मुहुः पुनः पुनः यथावसरमपः जलानि समाहर्त्तुं भिक्षाम् उद्दिश्य अहितुं गृहाद्गृहान्तरं गन्तुं, न हि पात्रीमन्तरा रिक्तपाणेर्भिक्षाग्रहणाय गमनमुपयुज्यत इति भावः । अथ तां भिक्षां रक्षितुमपि भुक्तावशेषा हि सा आवासस्थानपरिमार्जकेभ्यो भृत्येभ्यः प्रदास्यत इति रक्षते स्म । पिधातुं- वस्त्वन्तरमाच्छादयितुम् । भागुरिमते नापे रल्लोपः[१] ।

---

१. तथाचोक्तम् -
'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपश्चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशे,ति ।

'अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानिचे' त्यमरः। पक्तुं-पाकमपि कर्त्तुं च पुनः अशितुं भक्षितुम् अथ च क्वचित् कूपादौ[1] अपः इति शेषः। पातुम् अथ उपधातुम्[2] उपधानं कर्तुमित्येकं चिन्तामणिः। तद्वत् सर्वार्थसाधनमभूत आसीत्। अहहेति खेदातिशये। यथा स (चिन्तामणिः) चिन्तितं सर्वमप्यर्थन्दातुं प्रभवति। तथेयं पात्री तत्तत्क्रियाकरणाय साधनभूता सती सर्वं समपादयत्. इत्यस्याश्चिन्तामणित्वमुत्प्रेक्ष्यते। अत्र च क्रियार्थायां क्रियायान्तुमुन्प्रत्ययः। 'तुमुन् ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (पा० ३-३। १०) इत्यनुशासनात्॥५॥

उपला (कण्डा) संग्रह करने में, आग लाने में, बारंबार पानी लाने में, भिक्षा लाने में, फिर उसे रखने में, खाना पकाने में, उसे ढँक कर रखने में, फिर खाना खाने में, पानी पीने में, कहीं कहीं तकिया के रूप में भी व्यवहार में आनेवाली मेरी यह डिब्बिका अहा हा! काफी दिनों से मानो 'चिन्तामणि' ही थी॥५॥

(चिन्तामणि एक ऐसा पत्थर विशेष है, जो मन में विचार करते ही अभिलषित वस्तु को प्रस्तुत कर देता है)।

Long was this dish the idol of my soul;
Therewith I gathered fuel for my fire,
It gave me drink, it begged my scanty meal
And held it covered o'er the while it cooked;
And then I ate from it, and tenderly
Concealed it lest some harm sould come to it.

---

१. अन्यत्र हस्तेनापि तत्सिद्धेः।

२. उपधीयते आरोप्यते शिरोऽत्रेत्युपधानमधिकरणे 'करणाधिकरणयोश्चे'ति (३-३-११७) ल्युट् 'उपाधानन्तूपवर्ह' इत्यमरः।

राजा - एवमेतत् ।

प्रियस्य वस्तुनो नाम गुणान्को गणयिष्यति ।

स्नेहेनोपहृताः सर्वे तत्रैव सुखहेतवः ॥ ६ ॥

तथाप्यशक्यप्रतीकारे विनष्टे वस्तुन्यलमनुतापेन ।

योगी - मए जेव्व एदाए दिढत्तणं परिक्खिदुं पउत्तेण पाडिआ भग्गेति महन्तो संतावो । [मयैवैतस्या दृढत्वं परीक्षितुं प्रवृत्तेन पातिता भग्नेति महान्संतापः ।]

राजा - (सखेदम्) स्वयं नाशिते प्रिये वस्तुन्यविश्रान्तिः संतापस्य । यतः-

प्रियस्येति । प्रियस्याभिमतस्य वस्तुनः गुणान् कः गणयिष्यति संख्यास्यति 'गणसंख्याने' चुरादिरदन्तः स्वार्थिकोऽत्र णिच् अल्लोपस्य स्थानिवद्भावान्नोपधावृद्धिः (७-२-११६) नामेति प्रसिद्धौ[1] । 'नामप्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सन' इत्यमरः । स्नेहेन (कर्त्रा) सर्वेऽपि सुखहेतवः सुखसाधनानि तत्रैव प्रियवस्तुनि उपहृताः समाचित्य स्थापिताः सन्तीति[2] शेषः ॥ ६ ॥

राजा - ऐसा था क्या ?

प्रिय वस्तुके गुणों को कौन गिन सकता है ? सुखके सभी साधनों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर स्नेह (वह प्रेम जो छोटों के प्रति हो) उसी प्रिय वस्तु में स्थापित (इकट्ठा) कर देता है ॥ ६ ॥

फिर भी जिस वस्तु के पुनः पाने का कोई प्रतीकार न हो, वैसी वस्तु के नाश होने पर सन्ताप करना ही बेकार है ।

---

१. प्रसिद्धिः प्राकाश्यं (प्रकाशभावः) ।

२. 'अस्तिर्भवन्ती परोऽप्रयुज्यमानोप्यस्तीति कात्यायनस्मरणात् । अस्तिरसधांतुः । 'इकस्तिपौ धातुनिर्देशे' (पा० ३.३.१०८) वा भवन्तीतिलटः प्राचां संज्ञा । 'भुवो झिच् (३-३-५०) झोऽन्तः । कृदिकारादिति (पा० ४ । १ । ४५ ग० सू०) ङीष् ।

योगी - मेरे द्वारा ही इसकी मजबूती जाँचने के लिए गिराने से यह नष्ट हुई (टूट गयी) है; इसीलिए इतना दुःख हो रहा है।

राजा - (दुःखी होकर) अपने ही द्वारा अपनी प्रिय वस्तु के नाश कर देने पर वस्तुतः दुःखों की कोई सीमा नहीं होती। क्यों कि-

KING : Too true,
Who reckoneth the virtues of his love,
All things in her bring joy unto his soul.

Yet even so, since, thy bowl is broken beyond repair, give o'er this grief.

ASCETIC : While I put its strength to the test, it fell and broke- this is my sorrow.

KING : (sadly) Of mine own grief there is no end, since what I loved hath perished now, for,

कथमपि यत्र क्लिष्टे वस्तुनि दृष्टे प्रमोहमेति मनः।
स्वयमेव नाशितेऽस्मिन्क्षणमपि कः प्राणिति हताशः॥ ७॥

(इत्यश्रूणि विमुच्य सधैर्यम्) तथापि योगिन्!

कथमपीति। यत्र प्रियवस्तुनि कथमपि केनापि प्रकारेण क्लिष्टे क्लेशभाजि उपहते वा दृष्टे सति मनः प्रमोहं दुःखातिरेकमेति अवगच्छति। अस्मिन् प्रियवस्तुनि स्वयमात्मनैव नाशं प्रापिते सति को हताशः[१]अनष्टधैर्यः। क्षणमपि प्राणिति-जीवति। अन् प्राणने। लट् 'रुदादिभ्यः सार्वधातुक' (७.२.७६) इतीट्। 'अनितेरि' ति (पा. ८.४.१९) णत्वम्। न कोऽपीत्यर्थः॥ ७॥

जिस किसी भी प्रकार से प्रियवस्तु का नाश हो जाने पर मन बहुत ही दुःखी हो जाता है। और अपने ही द्वारा उसके नाश होने पर भला कौन निष्ठुर पल मात्र भी जीता है। (अर्थात् कोई नहीं।)॥ ७॥

---

१. 'उपसर्गादसमासेऽपि' इति प्राप्तणत्वं 'नशेः षांन्तस्ये' (पा० ८।४।३६)तिष्ठ निषिध्यते।

(आँसू पोंछते हुए, धैर्य के साथ) फिर भी, हे योगी !

My heart is dazed with sorrow--why, when hopes
Are gone and souls are dead, should life live on ?
(Firmly, as he wipes away his tears) Yet even so,
Ascetic,

भवितव्यता भगवती वस्तु प्रियमप्रियं वापि ।
घटयितुमथ विघटयितुं प्रभवति पुरुषस्य को दोषः ॥ ८ ॥

(योगी अनाकर्णयंस्तत्कर्परोत्करं हृदये निधाय रोदिति)

राजा - योगिन् ! अलं रुदितेन । दीयते मया इतोऽप्यधिकतरा मृण्मयी रजतमयी वा स्थाली ।

योगी - (कर्णौ पिधाय) सन्तं पावम् । अलं सुवण्णादिमइआए डिब्बिआए । जदो मट्टिआमइआ जेव्व डिब्बिआ एआरिसं अणत्थं परिणइए उप्पादेइ, किं उण सुवण्णादिमई । अवि अ-[शान्तं पापम्। अलं सुवर्णादिमय्या डिब्बिकया। यतो मृत्तिकामय्येव डिब्बिका एतादृशमनर्थं परिणताबुत्पादयति, किं पुनः सुवर्णादिमयी। अपि च -] (संस्कृतमाश्रित्य)

भवितव्यतेति । भगवती समग्रफलसाधनैश्वर्यवती भवितव्यता भविष्यत्फलभाग्यं प्रियमप्रियं वा वस्तु घटयितुं संयोजयितुम् अथवा विघटयितुं वियोजयितुं प्रभवति समर्था भवति। पुरुषस्य को दोषः, न कोऽपि । स हि तत्परवश एव सर्वं करोति नत्वात्मवशः किमपि कथञ्चिदपि कर्तुं प्रभवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

कर्परोत्करम्। कर्परः कपालः। तस्योत्करो राशिस्तम्। 'स्यात्कर्परः कपालोऽस्त्री' 'स्यान्निकायः पुञ्जराशी उत्करः कूटमस्त्रियामि' ति चामरः। अधिकतरा महती । अध्यारूढशब्दात्कनि 'अधिकमि' (५-९-७३) त्युत्तरपदलोपो निपात्यते ।

भावी बहुत बलवान् होता है, वह ईश्वरीय विधान है। वही प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु को बनाने किंवा विगाड़ने में समर्थ होता है (वही प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुको बनाता व बिगाड़ता है) इसमें किसी व्यक्ति का क्या दोष ? ॥ ८ ॥

(योगी राजा की बातों को अनसूनी-सी करके डब्बे के टुकड़े को हृदय से लगाकर रोता है।)

राजा - हे योगी ! अधिक रोने से भी क्या लाभ ? मैं आपको इससे भी अच्छी बटलोई मिट्टी की या फिर सोने-चान्दी की (जो चाहें चलो) देता हूँ।

योगी - (दोनों कान बन्द करके) हाँ हाँ हाँ ! पाप शान्त हो। सोने-चान्दी की हँड़िया (बटलोई) से क्या काम, वह बेकार है। क्यों कि जब मिट्टीकी बनी यह डिब्बी ही मुझे इतना भयंकर दुःख और सन्ताप दे रही है, तो फिर सुवर्णादि से निर्मित डिब्बी या हँड़िया क्या करेगी ? और भी - (संस्कृत का आश्रय लेकर)

'Tis Fate that joineth love and loathing, Fate
That parteth them, while man falls impotent.

(The ASCETIC weeps, not listening to him, but pressing the mass of potsherds to his heart) Weep no more, Ascetic ! I will give thee yet a better bowl of earthenware, silver, or gold.

ASCETIC : (stopping his ears). Heaven forbid ! Away with a golden bowl ! If one of clay causeth such distress at its breaking, What would it be if it were of gold ! Nay, more (speaking Sanskrit)

मदग्राहोद्भ्रान्तिर्भयमकरकोटिव्यतिकरः
स्फुरद्द्वेषावर्तस्तरलिमतरङ्गोपचयभूः।
तनीयानप्यर्थो मम यदि दुरर्थोदधिरभू-
त्प्रभूतायामापद्यहमिह निमग्नों निपतितः ॥ ९ ॥

अवि अ, इदो वि अहिअअरे त्ति अलिअं आवेदेसि। इअं क्खु तह सुप्फंसा सुरमणी आकिदी सुगहिरवित्थरा सुदिढप्पइदि कुदो अण्णा संभावीअदि। [अपि च, इतोऽप्यधिकतरेत्यलीकमावेदयसि। इयं खलु तथा सुस्पर्शा सुरमणीयाकृतिः सुगभीरविस्तारा सुदृढप्रकृतिः कुतोऽन्या संभाव्यते ?]

मदेति। मम अतिशयेन तनुस्तनीयान्। अतिशायने ईयसुनि (पा. ५-३-५७) 'टेरि' (पा. ३-४-१५५) त्युकारलोपः। अल्पतरस्तुच्छोऽपि 'तनुः काये त्वचि स्त्रीस्यात्त्रिष्वल्पे विरले कृशे' इति मेदिनी। अर्थः मृन्मयपात्रीरूपः यदि दुरर्थोदधिरनर्थसमुद्रोऽभूत्तदा (महीयसो रजतादिमयस्य का कथा। यस्याल्पीयसोप्यऽर्थस्यापगमे) अहमिहास्यां प्रभूतायां प्रचुरायां दुस्तरायामिति यावत् 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमि' त्यमरः। आपदि निपतितः निमग्नः प्रोद्धर्तुमात्मानमसमर्थो भवामीति भावः। दुरर्थोदधिं वर्णयति - मदेत्यादिना। मदो[१] गर्व एव[२] ग्राहो जलजन्तुविशेषः तस्य उद्भ्रान्तिः उच्छलत्परिवर्त्तनं यत्र सः। [३]भयान्येव मकरा जलजन्तुभेदास्तेषां कोटिः[४] शतलक्षं तस्य व्यतिकरः व्यतिषङ्गः (परस्परसंघर्षः) यत्र सः 'अथ व्यतिकरः पुंसि व्यसनव्यतिषङ्गयोरि' ति मेदिनी। स्फुरन् प्रकाशमानो द्वेष[५] एवावर्त्तोऽम्भसो भ्रमो यत्र सः 'स्यादावर्त्तोऽम्भसां भ्रम' इत्यमरः। तरलिमा तरलत्वं चञ्चलत्वं 'चञ्चलं तरञ्चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः। ततो भाव इमनिच्प्रत्ययः (पा. ५/१/१२२) स एव तरङ्ग उर्म्मिस्तस्योपचयो वृद्धिस्तस्य भूः स्थानमित्थंभूतः ॥ ९ ॥

अत्यन्त तुच्छ (अल्पतर) भी मेरा यह कारण (डिब्बिका भग्नरूप अर्थ) यदि अनर्थका (अत्यन्त दुःख का) सागर बन गया है, (और उस मृण्पात्र डिब्बिका के लिए) मैं

---

१. ममेत्यभिनिवेशात्। २. जातावेकवचनम्।

३. अरक्षितोऽन्येनापहरिष्यते बिनंक्ष्यतीति शश्वद्भयम्।

४. एकवचनत्त्वमनुपदं टीकायामेव स्फुटिष्यति।

५. अलभमानस्यान्यदीयवस्तुनि द्वेष इति सर्वत्रान्योन्यं पुसां रागोपहतमनसां द्वेषः।

उस महाविपत्ति में पड़कर अभी डूब जाऊँगा । (फिर सोने-चान्दी के पात्र का तो कहना ही क्या ?)(यह सागर कैसा है, उसका वर्णन करते हैं -) यह सागर मेरी विक्षिप्ततारूपी ग्राह (मगर) के उछल-कूद से युक्त है, मेरी बीमारी (भय-भीति अथवा डिब्बी के प्रति अनन्य प्रीतिरूपी रोग) रूपी करोड़ों घड़ियाल (जलकुंजर) के आघात - प्रत्याघात से पूर्ण है, थरथराते द्वेष (द्वेष अर्थात् घृणा, अरुचि; रह-रहकर जीनेके प्रति हो रही अरुचि, जीवन के प्रति घृणा-द्वेष) रूपी भँवरों (भ्रमी) से भरा है तथा (पात्री के निमित्त मेरी) चंचलतारूपी लहरों का संचय-स्थान है (किंवा लहरों को उत्पन्न करने वाला स्थान है।) ॥ ९ ॥

और भी-आपका यह कहना कि 'इससे भी अच्छी-' भी मिथ्या ही है। क्योंकि ऐसी चिकनी, सुन्दर आकृतिवाली, गहरी, बड़ी और मजबूत डिब्बिका अन्यत्र कहाँ मिल सकती है ? (अर्थात् कहीं नहीं।)

Delusion's shark ensnares me with desire,
Foul passion's whirlpools eddy round my soul;
If such small griefs an ocean seem to me,
'Neath Sorrow's billows I should be o'erwhelmed.

Falsely dost thou speak of aught better than this ! Whence should I get another so goodly to touch, so fair of form ?

राजा - (सनिर्वेदम्)

अधिकाधिकानि गुणतो नितरामितराणि सन्तु सुलभानि शतम् ।
प्रणयेन वस्तु मनसस्तु परं परितापकारि किमपि क्रियते ॥ १० ॥

अधिकाधिकेति । इतराणि प्रणयविषयादन्यानि (इतरस्त्वन्यनीचयोरि) त्यमरः । वस्तूनि गुणतो गुणैः सार्वविभक्तिकस्तसिः । अधिकाधिकानि अधिका[1] दप्यधिकानि अत्यन्तमधिकानि

---

१. यद्वा आभीक्ष्ण्ये 'नित्यवीप्सयोः' (पा० ८।१।४) इति द्विर्भावः । आभीक्ष्ण्यं पौनः पुन्यम् । 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः । भविष्यत् ।

अपरिमितगुणानीति यावत् नितरामत्यन्तं सुलभानि सुखेन लभ्यानि शतं सन्तु 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोरि'-तिकोशाच्छतमित्येकवचनम् । परन्तु प्रणयेन स्नेहेन (कर्त्रा) वस्तु स्वविषयभूतं मनसश्चित्तस्य किमपि अनिर्वचनीयं परितापकारि सन्तापकरणशीलं क्रियते 'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नमि' ति न्यायेन स्नेह एव मनसः प्रसञ्जकतया प्रसक्तिहेतु र्न वस्तुसौन्दर्यमिति भावः ॥ १० ॥

राजा - (वैराग्य के साथ स्वगत)

अधिकाधिक गुणों से युक्त यद्यपि सैकड़ों अन्य वस्तु अत्यन्त सुलभ क्यों न हों (निश्चित ही प्राप्त क्यों न हों), पर स्नेह के कारण जो वस्तु किसी का प्रिय होता है अथवा मन में बैठ जाता है, उसके लिए जो दुःख और कष्ट होता है, वह तो कुछ और ही है (अर्थात् वर्णनातीत है) ॥ १० ॥

KING : (with a revulsion of feeling)

Though thou shoulds't gain a hundred things with ease,
In numbers more than ever virtues were,
It is desire misleads the mind of man,
And causeth him all anguish and distress.

योगिन् !

अधिक तर प्रियमेतन्ममेति बुद्धिर्न वस्तुसौन्दर्यात् ।
नूनमनपेक्षितगुणो मोहधनः स्नेह एवेह ॥ ११ ॥

योगी - भो मुद्ध ! ण क्खु णवरं सिणेहो ज्जेव्व । सरीरसंवद्धणं पि एदाए ठिदाए भवे । [भो मुग्ध ! न खलु केवलं स्नेह एव । शरीरसंवर्धनमप्येतया स्थितया भवेत् ।]

राजा - अथ कियन्तं कालमिदमिदानीमनष्टमपि पात्रं स्थितं स्यात् ?

अनुपदोक्तभावमेव विवृणोति - अधिकेति । एतत् वस्तु मम अधिकतरम् अन्त्यन्तं प्रियमिति बुद्धिः मोहरूपा वस्तुनः सौन्दर्यात्

सौष्ठवात्तन्मूलिका न भवति। किन्तु न अपेक्षित आकाङ्क्षितः गुणः वस्तुसौन्दर्यादिर्येन तथाभूतः स्नेह एव इह वस्तुनि मोहो धनं सर्वस्वं यस्य तथाभूतः। स्नेहो हि गुणमनपेक्ष्य सर्वात्मना मोहमर्जयति। स एव तन्मूलमिति भावः॥ ११॥

योगिन्!

यह मेरा अत्यधिक प्रियवस्तु है - इस प्रकार की बुद्धि या मान्यता, उस वस्तु की सुन्दरता या बनाबट से नहीं होती; वल्कि निश्चय ही गुण से उदासीन 'स्नेह' ही उसके मोह का कारण है॥ ११॥

योगी - हे मोहग्रसीभूत! मूर्ख! इस डिब्बी से न केवल मुझे स्नेह थां, अपि तु शरीर संवर्द्धन (रक्षा) भी तो होता था।

राजा - हाँ तो, यह मजबूत (नष्ट न होने वाला अथवा नष्ट न हुआ होता तो) पात्र भी कितने दिनों तक चल पाता? (टिक पाता?)

Ascetic!

Each thought of earthly passion snares the heart
And mocks the soul with beauty that shall fade,
For love is folly and knows virtue not.

ASCETIC : Thou fool, this is not mere love! It gave my body nourishment.

KING : And yet, how should this bowl have remained unbroken?

चेत्कल्पकोटिमथ कल्पशतानि कल्पं
कल्पार्द्धमप्यथ यदि स्थिरतास्य भूयात्।
युक्ता भवेदिह मनागपि शोचना ते
द्वित्रैर्दिनैर्यदि विनङ्क्ष्यति कोऽत्र शोकः॥ १२॥

अलं च शरीरसंवर्द्धकविनाशानुतापेन। यतः -

चेदिति। हे योगिन्! चेद्यदि कल्पानां मन्वन्तराख्यदिव्यैकसप्तति-युगात्मककालानां [1]कोटिम् 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग' इति (पा.२-३-५) द्वितीया। एवमुत्तरत्रापि। अथ वा कल्पशतानि। अत्र शतञ्च शतञ्चेत्येकशेषा[2]द्बहुवचनोपपत्तिः। कल्पम् अथ कल्पार्द्धमपि यद्यस्य वस्तुनः (डिब्बिकाख्यस्य) स्थिरता भूयात्तदेहास्मिन् वस्तुनि ते तव मनागल्पापि शोचना शोको 'ण्यासश्रन्थोयुजि' ति (पा.३-३-१०७) युच् 'युवोरनाकौ' (पा.७-१-१) इतियोनरादेशः स्त्रीत्वाट्टाप्। युक्ता उचिता भवेत्। यदि द्वे वा त्रीणि वा द्वित्राणि 'संख्याव्ययासन्ने' ति (पा.२-२-२५) बहुव्रीहौ 'बहुव्रीहौसंख्येयेडजि' ति (पा.५-४-७३) डच् समासान्तः। डित्वाट्टिलोपः। तैर्द्वित्रैरेव विनंक्ष्यति विनाशं प्राप्स्यति (तदा) अत्र वस्तुनि (एतद्वस्तुविषयकः) शोकः कः? न कोपीति वृथा तेऽत्र शोकः। 'मन्वन्तरन्तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः। संवर्त्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि' इति 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इति चामरः॥ १२॥

शरीरेत्यादि। शरीरसंवर्द्धकस्य देहपोषकस्य विनाशे योऽनुपश्चात्तापस्तेन।

करोड़ों कल्पों तक अथवा सौ कल्पों तक अथवा एक कल्प तक अथवा आधा कल्प तक भी यदि यह पात्र स्थिर रहता तो आपका यह सोचना (विलाप करना) थोड़ी देरके लिए सही होता। परन्तु जब इसे दो-तीन दिनों में नष्ट होना ही था, तो फिर उसके लिए शोक करना कहाँ तक उचित है? ॥ १२॥

---

१. एतच्च स्थिरतेतिक्रियायोगमभिसन्धायोक्तम्। तत्र (सूत्रे) हि गुणक्रियाद्रव्यैरभावेन चात्यन्तसंयोगो निरन्तरसंबन्धोऽभिधित्सित आचार्यस्येति स्पष्टं शब्देन्दुशेखरादौ।

२. अन्यथा विंशत्याद्याः सदैकत्व इत्युक्तवचनादेकवचनमेव युज्यते स्म।

(ब्रह्मा जी के एक दिवसको अर्थात् एक सहस्र युगव्यापी काल को 'कल्प' कहते हैं।)

मात्र शरीर रक्षा करने बाले इस डब्बे के नष्ट हो जाने के कारण भी दुःख करना व्यर्थ है। क्यों कि -

If it might last ten times a million years,
Or for a century, e'en for a year,
Or yet the half thereof, then might'st thou mourn;
But wherefore should a sage like thee be sad
For a poor bauble that a day doth break ?

Lament no more at thy body's increase or decrease, for,

देहस्यास्य हितानि यद्विरहितान्येतानि वस्तूनि वः
संतापाय भवन्ति हन्त सकलः सोऽयं मनोविभ्रमः।
गेहेनैव यदेवमादिविपदां देहेन दुर्जन्मना
द्वित्राण्येव पलानि पाणिपयसोराश्लेष एव भ्रमः॥ १३॥

योगी - तह वि विप्पिअं परिहरिअ किंत्ति पिअं अणुवट्टेदि लोओ।
[तथापि विप्रियं परिहृत्य किमिति प्रियमनुवर्तते लोकः।]

देहस्येति। देहस्य अस्य हितानि ? किमिति काकुः यत् यतः एतानि वस्तूनि डिब्बिकादीनि विरहितानि विघटितानि सन्ति वो युष्माकं सन्तापाय भवन्ति। सोऽयं[१] सकलः सम्पूर्णः मनसो विशिष्टो भ्रम एव। हन्तेति खेदे। कुत इत्युक्तौ हेतुमाह देहेनेति। यत् यतः एवमादयः इष्टवस्तुविनाशलक्षणाः या विपदस्तासां गेहेनाश्रयेण दुर्जन्मना दुःखप्रदजन्मवता देहेनैव (आत्मनो) द्वित्राण्येव[२] पलानि आश्लेषः। अत्यन्त संयोगे द्वितीया। अत्र दृष्टान्तः

---

१. अन्ये तु व्याचक्षते यदिति भवनक्रियाविशेषणन्तच्छब्देन च सैव परामृश्यते। तथाच सोऽयमिति विधेयप्राधान्यात्पुंस्त्वनिर्देशः। 'उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोरैक्यमापादयत्सर्वनाम पर्यायेण तत्तल्लिङ्गभागिति' महदुक्तेः यच्छब्दयोगाच्चोद्देश्यत्वम्भवनस्य। 'यच्छब्दयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्य लक्षणम्। तच्छब्द एवकारश्च स्याद्विधेयस्य लक्षणमि' ति महदुक्तेः।

२. अत्र समासप्रक्रिया पूर्वश्लोकोक्ता बोध्या।

पाणिपयसोराश्लेष एवम् इति । यथा पाणिपयसोराश्लेषः द्वित्राण्येव पलानि भवन्ति । चुलुकस्था ह्यापो झटित्येव शनैः प्रस्रवन्त्येवं देहेनात्मन आश्लेषोऽपि । वस्तुतस्तु-सोऽप्याश्लेषः भ्रमः भ्रान्तिरेव न तु वास्तविकः । असङ्गो ह्यात्मा । अयं भावः । योऽयं व्यवहारदशायां पाणिपयसोरिव देहात्मनो राश्लेषः प्रतीयते सोपि 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इति महदुक्ते र्देहादिभावानां क्षणिकत्वाद्द्वित्राण्येव पलानि यावद्भवति । वस्तुतस्तु द्वित्राणीत्यप्युपलक्षणं क्षणमात्रस्य । तथाच यदा देहेनैव क्षणिकः संयोगस्तदा देहसम्बन्धिभि र्गेहकलत्रपुत्रपौत्रादिभिः किमु वक्तव्यः । इत्थञ्च प्रतिक्षणविलक्षणेनैकेन केनचिदपि देहे[१]नात्मनस्संबन्धेऽनियते सति तत्सम्बन्धिभिरन्यैर्न्नास्त्येव सम्बन्धः । सम्बन्धाभावे च हिताहितत्वसमीक्षा काकदन्तपरीक्षावन्मूढकल्पितैव तस्मान्नैव हितान्येतानि वस्तूनि। यद्विघटितानि सन्ति सन्तापाय भवेयुरिति सोऽयं सकलोऽपि सन्तापो मनसो भ्रान्तिरेवेति स्थितमिति (ववा यथा तथेवैवं साम्ये) इति । 'यत्तद्यतस्ततो हेतावि' ति चामरः ॥ १३ ॥

इस देहके जितने भी ये सब हितकारी (रक्षा करने वाली) वस्तुएँ हैं, उनके नष्ट होने से आप सबों के लिए सन्ताप के ही कारण बनते हैं (अर्थात् ये सबके सब नष्ट होने वाली वस्तुएँ दुःख देने के लिए ही होते हैं) । हा कष्ट ! ये सब के सब मानसिक भ्रम ही हैं । क्यों कि इस प्रकार की विपदाओं के घर के समान व दुःखों को जन्म देने वाले इस देहसे जीवका सम्बन्ध मात्र दो-तीन पल के लिए ही रहता है, जैसे कि चुल्लू में रक्खे पानी का चुल्लू के साथका सम्बन्ध कुछ पल के लिए होता है । उसी प्रकार का यह भी एक मिथ्या ज्ञान ही है कि अमुक हमारा शरीर रक्षक पदार्थ है ॥ १३ ॥

---

१. देहे एकत्वानुसन्धानन्तु दीपस्य शिखावद्भ्रान्तिनिबन्धनमेव सरूपपरिणामे भेदानधिगतेः ।

योगी - फिर भी लोग अप्रिय वस्तु को छोड़कर किसी प्रिय वस्तु के लिए क्यों लगे रहते हैं ?

'Tis well with thee when earthly treasures pass,
Affections of this world bring but distress.
Our own lives are the source of primal woe,
And all is but an empty mockery.

ASCETIC : Doth not the world leave what it liketh not, to follow what it doth desire ?

राजा - विभ्रमात् । पश्य !

यद्वन्माद्यति सौष्ठवेन विषयस्यापाततः प्रेयस-
स्तद्वत्ताम्यति तत्र तत्र विपदा तस्यैव पर्यन्ततः ।
व्यत्यासेन च वस्तु विप्रियमपि स्वे संपदापद्द्वये
तापायाथ मुदे तदेष कुरुते मोहः प्रियं चाप्रियम् ॥ १४ ॥

योगी - सुट्ठु एदं जाणीअदि तह वि अप्पदीआरं तम्मइ मह हिअअम् । [सुष्ठु एतज्ज्ञायते तथाप्यप्रतीकारं ताम्यात मम हृदयम् ।]

राजा - यदि सन्नपि नालमपि वस्तुविचारस्तदा कः प्रतीकारः ?

योगी- एत्थ मरणं जेव्व पडीआरो । जदो एदं हिअए काऊण मरन्तो जम्मन्तरे वि एदाए सणांहो हुविस्सम् । [अत्र मरणमेव प्रतीकारः । यत एतां हृदये कृत्वा म्रियमाणो जन्मान्तरेऽप्येतया सनाथो भविष्यामि ।]

विभ्रममुपपाद्य दर्शयति-यद्वदिति । यद्वत् । यथा यथा । प्रेयसोऽतिप्रियस्य । प्रियशब्दादतिशायने ईयसुनि ''प्रियस्थिरे'' (६.४.१५७)त्यादिना प्रियस्य प्रादेशः । विषयस्य आपाततः पातं यावत् । सौष्ठवेन सुष्ठुतया रामणीयकेनेति यावत् (कादाचित्केन मनः कल्पितेन न तु वस्तुसत्ता) माद्यति मत्तो भवति । तद्वत् तथातथा तत्र तत्र देशे काले च तस्यैव

वस्तुनः पर्यन्ततः परिणामे विपदा विनाशेन ताम्यति ग्लानो भवति। 'तमु ग्लानौ' (दि.प.)श्यनि ''शमामष्टानां दीर्घःश्यनी''ति(पा. ७.३.७) उपाधादीर्घः। व्यत्यासेन विपर्ययेण च 'स्याद् व्यात्यासो विपर्यासो व्यत्ययश्च विपर्यय' इत्यमरः। विप्रियमपि वस्तु स्व आत्मीये सम्पदापद्द्वये सम्पदि आपदि च विषये। ''पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वे''ति (पा. ७-१-१६) वा सर्वनामतेति डेःस्मिन् न। (यथाक्रमं) तापाय अथ मुदे हर्षाय च भवति। [1]तादर्थ्येऽत्र चतुर्थी। तत् प्रियमप्रियञ्च एष मोहः कुरुते। अयम्भावः न हि वस्तुगत्या किञ्चित्प्रियमेव किञ्चिद्विप्रियमेवं। किन्तु तदेव प्रियं वस्तु स्वेनापातरामणीयकेन स्वसम्पदि सुखयति। परिणामे च स्वविपदि दुःखयति। एतद्विपर्ययेण विप्रियं वस्तु स्वसम्पदि सन्तापयति स्वापदि हर्षयतीति मोह एव प्रियमप्रियञ्च करोतीति न कुत्रापि प्रियताऽप्रियता वा नियतास्ति। किन्तु यत्रैव मोह स्तत्रैव शोकः सम्पदापदोः क्रमेण द्रष्टव्यः। यथाहुः[2]। 'प्रसरति विषयेषु येषु रागः परिणमते विरतेषु तेषु शोक' इति॥ १४॥

यदीति यदि सन् वर्त्तमानोऽपि वस्तुविचारो नालं न शोकापनोदाय पर्याप्तस्तदा प्रतीकारोऽपि कः ? न कोऽपीत्यर्थः।

राजा - भ्रम से। (मिथ्याज्ञान के कारण अर्थात् भ्रान्तिवश) क्यों कि, देखिए -

जिस प्रकार अकस्मात् (प्रथम दृष्ट्या) अत्यन्त प्रिय किसी विषय के सौन्दर्य से मन मस्त (प्रसन्न) हो जाता है, उसी तरह उस (पदार्थ) की समाप्ति से स्थल-स्थल पर विपदा धर दबोचती है (अर्थात् मनको उसके विनाश से बहुत बड़ा कष्ट

---

१. तस्मै इदन्तदर्थन्तस्य भावस्तादर्थ्यं कृत्तद्धितसमासैः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययनेति महदुक्तेः उपकार्योपकारकभावसम्बन्ध एव तादर्थ्यम्। मुक्तये हरिं भजतीति वत्।

२. अमृतोदयनाटके शिवस्तुतौ च महामहोपाध्याय फणदहावंशावतंस गोकुलनाथशर्म्मीणः।

होता है) । ठीक इसके विपरीत कोई अप्रिय भी वस्तु स्वाभाविक प्रकृतिगत समृद्धि या विपत्ति दोनों में (आगमन या विनाश में) क्रमशः कष्ट और प्रसन्नता ही देता है। (अर्थात् अप्रिय वस्तुके आगमन से ताप तथा निर्गमन से हर्ष होता है) । अभिप्राय है कि वस्तु के प्रति वर्त्तमान मोह ही प्रिय अथवा अप्रिय की दृष्टिसे किसी पदार्थ को देखता है ।। १४ ।।

योगी - यह तो मैं भी भलीभाँति जानता हूँ, तथापि इसके किसी प्रतिकार के अभाव में मेरा हृदय दुःखी हो रहा है।

राजा - यदि वस्तु का विचार होने परभी यथोचित (दुःख दूर) नहीं होता है, तो उसका उपचार ही क्या है ?

योगी - यहाँ मर जाना ही उपचार है। क्यों कि इस डिब्बी को हृदय से लगाकर मरने पर जन्मान्तर में भी फिरसे इसे पाऊँगा।

KING : Through delusion ! Lo ,

Great as thy joy in that thy love doth live,
Shall be thy sorrow when the parting comes;
Thus pleasure walks with pain, and e'en in hate
Delight doth mingle strangely with distress,
Yet both alike are but Delusion's snare.

ASCETIC : I know it well, yet hath my heart no remedy.

KING : If even the good have not saving knowledge, what refuge can there be ?

ASCETIC : There's death ! So I will think upon my bowl, and die, to be with it once more in another incarnation.

राजा - (विहस्य) सोऽयं संसारमूलं महामोहः । यस्य नामेदृशानि दुःखमयानि दुर्विलसितानि ।

योगी- (सोच्चैर्हासम्)

परोपदेशे पाण्डित्यमिदं मूढस्य गीयते।
तमः समाश्रितस्येव दीपस्यान्य[1] प्रकाशनम् ।। १५ ।।

---

१. 'दीपेनान्य' इति पाठान्तरम् ।

(राजा सवैलक्ष्यमधोमुखश्चिन्तयति)

योगी - राजन्! किं विचिन्त्यते ?

राजा - भगवन्! किमपरं ? मद्वाक्यैरेव मामुपदिश्य ममापनीतोऽयं शोकः श्रीपादैः।

योगी - एवमेतत्। भगवतीं विन्ध्यवासिनीमवलोक्य परावृत्तेन मया त्वामेवंभूतमवगत्य सत्त्वसुलभेन करुणभावेन तवायमुन्मीलितः प्रबोधः।

राजा - तदवधारयामि श्रीगोरक्षनाथपादैर्भवद्भिर्भवितव्यम्।

योगी - एवमेतत्।

राजा - भगवन् ! साधूद्धृतोऽहमस्मादन्धकूपात्। (इति पादयोः पतति)

(गोरक्षनाथ उत्थापयति)

राजा - (अञ्जलिं बद्ध्वा) यदतः परं तदुपदिशतु गुरुर्येन भूयोऽपि नैतादृशमनर्थमासादये।

गोरक्षनाथः- साधु ! उत्कटदुःखाभिषङ्गलाङ्गलावकृष्टा वस्तुविवेकरसावसेकवती विज्ञानबीजं वप्तुमस्ति योग्या ते चित्तभूमिः। श्रूयताम्।

परोपदेशे इति। मूढस्य स्वयंयुक्तायुक्तविवेकविधुरस्य पुंस इदं 'परोपदेशे[१] पाण्डित्यम्' इति गीयते भण्यते। पूर्वैर्महद्भिरिति शेषः। अत्र दृष्टान्तः। तमः समाश्रितस्य तमसि वर्त्तमानस्य स्वयं सम्यक् मार्गमनवलोकयतो दीपहस्तस्य पुंसः दीपेनान्यप्रकाशनमिवेति। दीपस्यान्यप्रकाशनमिवेति पाठे शेषेविभाषेतिकर्त्तरी षष्ठी शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्य्यस्य वेति वत्॥ १५॥

---

१. 'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्म्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्य चित्तु महात्मनः'। इति।

उत्कटेति। उत्कटेन दुःखेन योऽभिषङ्गः पराभवस्स एव लाङ्गलं हलं तेनावकृष्टा अवकर्षणेन सुसम्पादिता। वस्तुविवेक एव रसो जलन्तेनावसेकवती संसिक्ता।

राजा - (हँस कर) अरे! यही महामोह तो संसार का मूल है, जिसके द्वारा इसप्रकार का दुःखमय दुर्भाव मन में आता है। (अथवा यही संसार का मूल वह महामोह है, जिसका दूसरा नाम दुःखपूर्ण बुरा आमोद - प्रमोद है।)

योगी - (ठहाके के साथ) दूसरे को उपदेश देने में अपना पाण्डित्य दिखाना - यही तो मूर्खका कार्य कहा गया है। (अर्थात् स्वयं आप अपने बारे में ये सब भूल जाते हैं और मुझे उपदेश देते हैं।) जैसे कि कोई दीपक पूरा घर तो प्रकाशित कर देता है, पर वह स्वयं अन्धकार में ही रहता है (अर्थात् अपने से नीचे स्थान को प्रकाशित नहीं करता, दिये तले अन्धेरा।) ॥ १५ ॥

(राजा लज्जा - शर्म्म के मारे मुँह नीचा करके खड़ा हो जाता है।)

योगी - राजन्! क्या सोच रहे हो? (अर्थात् किस सोच में पड़ गये?)

राजा - भगवन्! और क्या सोचूँगा? आपने मेरे ही वाक्यों से मुझे उपदेश देकर शोकों को दूर जो कर दिया है।

योगी - ऐसा ही है। भगवती विन्ध्यवासिनी देवी का दर्शन कर लौट ही रहा था कि तुम्हें इस अवस्था में जानकर (तुम्हारे साथ ऐसी दुर्घटना हो गयीं और तुम इस परीस्थिति में हो यह वृत्तान्त सुनकर) सत्त्व-सुलभ-करुणाभाव से तुम्हारे प्रबोध को जगाया है। (अर्थात् मैंने तुम्हें करुणभाव के स्वाभाविक आचरण से यथार्थज्ञान को जगाया है, प्रकट किया है।)

राजा - तब तो मैं समझता हूँ कि आप श्रीपाद भगवान् गोरखनाथ जी होंगे। (अथवा - आप तो साक्षात् श्रीगोरखनाथ जी प्रतीत हो रहे हैं।)

योगी - हाँ, ऐसा ही है।

राजा - मैं इस अन्धकूप से भली भाँति निकाला गया हूँ (अर्थात् इस अन्धकूप से निकालकर आपने सर्वथा ठीक ही किया है।) (राजा योगी के पाँवों पर गिरता है। योगी उन्हें उठाता है।)

राजा - (करबद्ध होकर) हे गुरुदेव ! अब आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे कि आजके बाद फिर कभी इस प्रकार का अनर्थ करने की प्रवृत्ति न हो।

गोरक्षनाथ - वाह, राजन् ! वाह ! अतिशय (दारुण) दुःखों के कारण प्राप्त पराभवरूपी हल से परीष्कृत एवं वस्तु - विवेकरूपी रस किं वा जल से सिञ्चित तुह्मारी यह चित्तवृत्तिरूपी भूमि अब विशिष्ट ज्ञान रूपी बीज बोनेके लायक बन गयी है। अतः सुनो -

KING : (smiling); This utter folly is the source of reincarnation! what manner of man, pray tell, doth such sorry pranks and grievous ?

ASCETIC : (laughing aloud) :

The sages in their wisdom brand as fool
Him who in darkness hides, them lights a lamp.

(The KING bows his head in confusion) O KING, what thinkest thou ?

KING : Sir, what need of further words of mine ? Teach me; thou has removed my grief .

ASCETIC : Full true ! I, whose nature is that kindly one truth easily wins, met thee in thy plight as I returned from visiting the Lady of the Vindhyas, and revealed this wisdom unto thee.

KING : Teach me the future, noble Goraksanatha !

ASCETIC : I will.

KING : Sir, blessed hath been my salvation from that blind pit! (Falls at the ASCETIC'S feet. GORAKSANATHA raises him up. the KING assumes a suppliant's pos-

ture). If there is aught more, let my teacher instruct me, that I may not meet such grief again.

GORAKSANATHA : Goodly is the land of thy mind, seamed by the plow of grief, watered by discrimination's rain, ready for the seed of understanding. Harken,

संकल्पात्सकलापि संसृतिरभूदेषा विशेषान्ध्यभू-
रस्याश्चेद्विनिवृत्तिमिच्छसि तदैतन्मूलमुन्मूलय।
नावच्छिन्नमनेहसा न च दिशा यद्ब्रह्म सच्चिन्मयं
तत्त्वं तत्त्वमिदं विचिन्तय परानन्दं पदं प्राप्स्यसि ।। १६ ।।

राजा - भगवन् ! त्यक्ताः खल्वाशापरपर्याया मया संकल्पाः। साधु साधु !

विज्ञानबीजं वपति- सङ्कल्पादिति । हे राजन् ! एषा सकला समस्ताऽपि सुरनरतिर्यगादिरूपा संसृतिःसंसारः जन्ममरणपरम्परा । सङ्कल्पान्मनसः कल्पनावशादेव विशेषस्याऽन्ध्यस्याविवेकस्य भूरुत्पत्तिस्थानमभूत् । अस्याः संसृतेः (जन्ममरणपरम्परायाः) विनिवृत्तिं सर्वतोभावेन निवृत्तिमपुनरावृत्तिमिच्छसि चेत्तदा एतस्या मूलं 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' (पा. २-१-५१ वा.) संकल्पमुन्मूलय मूलतः समुद्धृत्यापनय । अनेहसा कालेन 'कालोदिष्टोऽप्यनेहाऽपि' इत्यमरः । न अवच्छिन्नं परिच्छिन्नं न च दिशदिशेन (अवच्छिन्नं) सत्त्रिकालावस्थं चिन्मयं चैतन्यघनः यद्ब्रह्म व्यापकं प्रत्यक् चैतन्यं तत्त्वमसीति इदं तत्त्वं वस्तुभूतम् अन्यद् अवस्तु यत्सत्तया सर्वमिदं सदिवावभाति तद्विचिन्तय सर्वत्रगं भावय । ततश्च त्वं परमानन्दपदमपुनरावृत्तिलक्षणं स्थानं प्राप्स्यसि । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये' तिश्रुतेस्तद्विज्ञानमेवापुनरावृत्तिसाधनं नान्यकिञ्चिदिति भावः ॥ १६ ॥

यह समस्त संसार कामना किंवा मानसिक इच्छा, खास करके अन्धेपन (मिथ्याज्ञान - अविवेकादिरूपी अन्धापन) की

जन्मस्थली है। इस संसारका यदि अन्त (समाप्ति) चाहते हो, तो इसके मूलको ही खतम कर दो। (अर्थात् जन्म - मरणपरम्परा रूपी इस संसारकी जड़ - अज्ञान, अविवेक, अभिलाषा आदि को ही उखाड़ फेंको।) साथ ही समय (काल) के द्वारा भी असीमित किं वा विभाजित (पृथक्) न होनेवाला, दिशा से भी असीमित व अविभक्त रहनेवाला जो यह सच्चिदानन्द (सत् चित् आनन्द मय सत्यरूप वास्तविक (तत्त्व) ब्रह्म (परब्रह्म परमात्मा) है, उसका ध्यान करो, इससे तुम ब्रह्मानुभव सुख (ब्रह्मानन्द, उत्कृष्टतम् आनन्द) को प्राप्त करोगे (जहाँ कोई भी जन्म मरणादि परम्पराजन्य अन्धापन या अज्ञानादि का भय नहीं है।) ॥ १६ ॥

राजा - देव ! मैंने आशा नामक संकल्पों (सांसारिक वासनाओं) को सर्वथा छोड़ दिया है। सत्य है ! सत्य है।

Desire gives brith to life and all its woe;
Would'st thou escape, eradicate the root
And meditate the majesty of Brahm,
The Lord Supreme that knows nor time nor space;
Thus, thus shall bliss supernal soon be thine.

KING : Sir, I have indeed renounced my desires which ever hope. Oh, bliss ! Oh, bliss !

यदामोदो मोहं दिशि दिशि द्विशत्यामुकुलना-
त्फलानामास्वादो जनयति यदीयो निपतनम्।
इहैवासां सद्यो वनविषलतानामिव मया
निरासादाशानां जितमहह मोक्षस्तु परतः ॥ १७ ॥

तत्त्वचिन्तनं चैतत्कथं स्यात् ?

यदा मोद इति। इहास्मिन्नेव जन्मनि (भवदनुगृहीतेन) मया वनविषलतानामिव आसामाशानां सङ्कल्पापरपर्यायाणाम् सद्यः सपदि

तत्स्वरूपज्ञानक्षण एव निराशात्त्यागाज्जितमहह । अद्भुतोऽयमर्थः । (अहहेत्यद्भुते खेदे) इत्यमरः । परतोऽतःपरं मोक्षस्तु मोक्ष एव अवशिष्यत इति शेषः । अत्र तु शब्दोऽवधारणे । आशां विषलतारूपकेण विशिनष्टि-यदिति । यस्या आशाविषलताया आमोदः पुष्पातिसुगन्धिः सर्वनाम्नो वृत्रिमात्रे पुंवद्भावः(१५१ वा.) मुकुलनात् मुकुलीभावात् आ तदारभ्य । ईषद्विकसितकलिकावस्थामारभ्येति यावत् । दिशि दिशि सर्वासु दिक्षु मोहमविवेकं दिशति ददाति । 'दिश् अतिसर्ज्जने' अतिसर्जनं दानम् । यदीयो [1]यत्सम्बन्धी फलानामास्वादः निपतनं निपातमेव जनयति । आशाविषलताफलमास्वाद्य न कोऽपि जीवितुं प्रभवतीति भावः ॥ १७ ॥

वनमें उत्पन्न विषलता के समान आशा (अभिलाषा, संकल्प) को मैंने इसी जन्म में सद्यः (तुरन्त) छोड़ दिया है, जिससे अहा हा ! मैंने उस आशा को (सर्वथा) जीत लिया है । अब इसके बाद तो मात्र मोक्ष ही शेष है । (यह आशा कैसी है, इसका वर्णन करता है -) इस वन - विषलतारूपी आशा का आमोद (सुवास, सुगन्धि) खिलते ही दिशा-दिशा में मोह (अज्ञान, भ्रम, पीड़ा) देने लगता है और उस आशा से सम्बन्धित फलोंका आस्वाद (रसानुभव) भी जीवको गिराने लगता है (अथवा नाश करने लगता है) ॥१७॥

यह तत्त्वचिन्तन अब कैसे होगा ? प्रभो !

Since pleasure is but folly from its birth,
And joy brings only sorrow in its train,
Lo, here and now I cast my hopes away
Like venomed creepers from a holy wood;
And yet, alas ! salvation is not won !

How should I meditate on truth ?

---

१. सम्बन्धश्चात्र पारम्परिकः फलद्वारक आशाविषलताया आस्वादनेन सह द्रष्टव्यः ।

गोरक्षः -

विषयेभ्यः समाहृत्य मनः शून्ये निवेशय।
स्वयमानन्दमात्मानं स्वप्रकाशमुपैष्यसि।। १८।।

राजा - तद्भवतु । संनिहित एव विजनोपवनैकदेशे गत्वा चिन्तयाम्येतत् ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महामहोपाध्याय-सर्वतन्त्रस्वतन्त्रहरिहरोपाध्याय-
विरचिते भर्तृहरिनिर्वेदनाटके तृतीयोऽङ्कः ।।

तत्त्वचिन्तनस्वरूपमुपदिशति - विषयेभ्य इति । विषिण्वन्ति विषयिणमनुबन्धन्तीति विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तत्प्रधाना अन्येऽपि। आज्ञूकाशादयो हि शब्दादिभिः श्रोत्रादीनिन्द्रियगणांस्तन्नियन्तृ मनस्तदधिष्ठातारमात्मानञ्चानुबध्नन्तीति तेऽपि विषयाः । यथोक्तममरेण 'रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी । गोचरा इन्द्रियार्थाश्चे' ति। विश्वनाथोऽपि-

'घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः ।
तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुते रि' त्येवमाह ।

तथा [1]सत्वादिसहितः । तेभ्यो बन्धहेतुभ्यो मनः समाहृत्यान्तर्वृर्त्तितया - (निदिध्यासनेना) त्मन्यवस्थाप्य शून्ये सच्चिदानन्दद्वयात्मके शून्यप्राये निराकारे प्रत्यगात्मनि निवेशय निर्वृत्तिकतया कञ्चित्कालमवस्थापय । तदा स्वयमात्मनैवात्मानं स्वप्रकाशमानन्दं तदात्माकमुपैष्यसि प्राप्स्यसि । तथा च श्रुतिः 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः[2] श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति। योगदर्शनञ्च 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (अ. १.१.) ।। १८ ।।

---

१. 'येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्यते' इति न्यायात् ।

२. द्रष्टव्य इत्यस्यैव प्रकारोपपत्तिः श्रोतव्य इत्यादिना, कथं द्रष्टव्य इत्याकाङ्क्षायां श्रवणादिद्वारेति तदर्थः ।

॥ इति महामहोपाध्याय-मुकुन्दझावक्शी- विरचितायां श्रीमद्भर्तृहरिनिर्वेदव्याख्यायां सुखबोधिनीसमाख्यायां तृतीयोऽङ्कः॥

गोरक्ष.- सांसारिक पदार्थों से अपने मनको हटाकर अनाशक्त होकर एकान्त में निवेशित करो (अथवा निराकार शून्य परब्रह्म के चिन्तन में लगाओ)। ता कि स्वयं अपने आत्मा को प्रकाशित करते हुए आनन्दमय परब्रह्म को पा सको ॥ १८ ॥

राजा - तो ठीक है। इसी पासके निर्जन उपवन के एकान्त स्थान में जाकर एकाग्र चित्तसे इसका चिन्तन करता हूँ।

(सभी चले जाते हैं। परदा गिरता है।)

॥ भतृहरिनिर्वेद के तीसरे अंक का 'जयन्ती' हिन्दी व्याख्यान समाप्त हुआ ॥

GORAKSANATHA :

Withhold thyself from every thought of earth,
Yea, fix thy mind upon the Infinite,
And soon the Lord of joy shall come to thee,
In gracious revelation to thy soul.

KING : So be it then ! Unto a grove nearby I'll go, where no folk come, and meditate on Him !

(Exeunt omnes)

(END OF ACT III)

चतुर्थोऽङ्कः

देवतिलकः - (प्रविश्य) (सानन्दम्) योगिनामुना श्मशानादुपवनं राजानीत इति बहूपकृतम्। तदहमपि तत्रैव गच्छामि। (इति परिक्रम्यावलोक्य च) कथमयं योगिना सहोपविष्टो राजा ध्यायति। तन्नूनं निगृह्यमाणस्य महतः शोकस्योर्मयो निमीलयन्ति राज्ञो बहिरिन्द्रियाणि। अथवा -

शोकसंवलनदावपावकप्रौढदीपकविभावभाञ्जि कः।
इन्द्रियाण्यनवरूध्य सर्वतो निर्वृतो बत भवेन्मनागपि ॥ १ ॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा योगी च)

राजा - (ध्यानावसानं नाटयित्वा सात्त्विकविकारनाटितकेन सानन्दम्) भगवन्! उदेति कश्चिद्विज्ञानसुखास्वादः।

गोरक्षः - अभ्यासात्पूर्णानन्दतया स्थास्यसि। अष्टाङ्गश्च हठयोगः समये मयोपदेक्ष्यते।

राजा - भगवन्! प्राप्तोऽयं वरः। (इति पादयोः पतति)

देवतिलकः - (सानन्दम्) योगिनामुनापनीतशोकः सानन्द इव विलोक्यते राजा। तदतः परं प्राप्तोवसरः। (इत्युपसृत्य) आज्ञापयतु देवो वह्निसंस्कारं देव्याः।

शोकेति। शोकस्य संवलनः[१] सम्यग्वलनसाधनभूता दावपावको दावाग्निः तद्वत् (सर्वतो दुरन्तक्लेशकराः) प्रौढाः सहसा स्वयं [२]निवर्त्तितुमक्षमा ये दीपकविभावा[३]: शोकोद्दीपनकराःकान्ताविप्रयोगादयस्तान् भजन्तीति

---

१. यद्यपि बलधातुः प्राणने भ्वादौ च पठितस्तथापीहोपसर्गवलेनार्थान्तरे वर्त्तते। कलबली कामधेनुरित्यपि पठ्यते। कामधेनुः यथेच्छमर्थेषु प्रयोक्तुं शक्यापीत्यर्थः। उद्देश्यविधेयभावाद्वचनव्यत्ययः साधुरेव।

२. दीपकपक्षे निर्वापयितुमित्यर्थः। पिधाने (वायुरोधे) हि दीपः स्वयं निर्वाणो भवति।

३. दीपेर्ण्यन्तात् ण्वुल्, वोरकादेशः।

शोकोद्दीपकविभाञ्जि 'भजोण्विः' (पा. ३-२-६२) उपधावृद्धिः। नपुंसकत्वाज्झलन्तलक्षणो नुम् (१७-१-७२) तद्वन्ति। विप्रलम्भगृङ्गाराद्युद्दीपनविभाववस्तुसहकृतानीन्द्रियाणि सर्वतस्सर्वस्मादेव तादृशाद्विषयादनवरुध्य असंयम्य कः मनागल्पमपि निर्वृतस्तुष्टो भवेद्बतेत्यनुकम्पायाम् 'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बते' त्यमरः॥ १॥

सात्विकेति। सात्विकविकाराः स्तम्भादयः।

स्तम्भःस्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।

वैवर्ण्यमश्रु प्रलयमित्यष्टौ सात्विका मताः॥

इति दर्पणोक्ताः। तेषां नाटितकेन अभिनयद्वारा प्रदर्शनेन।

अष्टाङ्गञ्चेति। अङ्गानि च 'यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्ये' ति पतञ्जल्युक्तानि।

(देवतिलक का प्रसन्नमुद्रा में प्रवेश)

देवति. - योगीजी ने अपनी युक्ति से राजा को श्मशान से उपवन लाकर बड़ा ही उपकार किया है। तो मैं भी वहीं (उपवन में) जाता हूँ।

(इधर-उधर घूमकर जाने का उपक्रम करता है, फिर देखकर)

क्या! यहीं यह राजा योगी के साथ बैठकर ध्यान कर रहा है? तब तो निश्चय ही निग्रह किये गये शोकतरंगों से राजा की बाह्येन्द्रियाँ भी निमीलित हो रही हैं। (अर्थात् राजा के शोक को दूर करने की चेष्टाओं से इनकी बाह्येन्द्रियाँ हाथ, पैर, आँख, कान, नाक आदि भी निष्क्रिय हो रही हैं।) अथवा - शोक संवर्द्धक दावाग्नि के सदृश प्रौढ़ दीपक (प्रचण्ड उद्दीपक) विभाव बननेवाले (अर्थात् विप्रलम्भ श्रृंगार में उद्दीपन विभाव बननेवाले) इन्द्रियों (अवयवों) को चारों ओर से (अथवा पूर्णतः) बिना रोके हा! कौन व्यक्ति थोड़ा भी निर्वृत्त हो सकता

है ? (काकुपरक अर्थ का तात्पर्य है कि कोई नहीं निर्वृत्त हो सकता है।) ॥ १ ॥

(यथा निर्दिष्ट राजा और योगी का प्रवेश होता है।) यहाँ अधिक उपयुक्त यह होगा कि नाट्यमंच पर एक ओर राजा और मंत्री बैठे हैं, दूसरी ओरसे देवतिलक आता है और वह घूमकर राजाकी ओर ही जाता है; न कि राजा और योगी का प्रवेश होता है)।

राजा - (ध्यान भंग होने का अभिनय करते हुए, सात्त्विक विकार को दिखलाते हुए, प्रसन्न मुद्रा में -)

भगवन् ! विज्ञानसुखका कोई अपूर्व आस्वाद उदित हो रहा है। (अर्थात् कुछ-कुछ विज्ञान सुख का अनुभव प्राप्त हो रहा है।)

गोरक्ष. - अभ्यास से पूर्ण आनन्द पूर्वक स्थिर रहो। अष्टाङ्ग हठयोगका उपदेश (दीक्षा) समय आने पर मैं दे दूँगा।

राजा - देव ! आपका यह वर (वरदान) मुझे प्राप्त हुआ। (योगी के पाँव पर गिरता है)।

देव. - (सानन्द) योगिराज ने राजा के शोक को नष्ट कर दिया है, तभी तो राजा को आनन्दित-सा देख रहे हैं। अब तो मेरे लिए भी (उन्हें कुछ कहने का) अवसर प्राप्त हो गया। (राजा के पास जाकर) हे देव ! महारानी को अग्नि संस्कार देने की अनुमति प्रदान करें।

Enter DEVATILAKA)

DEVATILAKA : (joyfully) 'Tis a great gain that this ascetic hath taken the king from the cemetery to the grove. Therefore I shall go thither. (Walks around and looks about him) How meditative the king is as the ascetic instructs him! Thus the waves of his great woe which is being

checked close his external faculties; or rather,
He whom the flame of bitter grief doth sear,
Unless he learn to bow his stubborn will,
May find no peace, e'en for a moment's space.

(Enter the KING as described, with the ASCETIC)

KING : (joyfully, showing by a gesture which indicates complete change that his meditation is ended). Sir, what a foretaste of blessed knowledge riseth up!

GORAKSANATHA : By study shalt thou be filled with bliss. In due time I shall teach thee the asceticism of self-control with its eight parts.

KING : Sir, joy is won ! (Falls at his feet)

DEVATILAKA : (Joyfully). This ascetic hath removed the king's grief and he seemeth almost joyful. Now is my time ! (Approaches) May the king command the preparation of the queen's funeral pile !

(राजा मौनेन तिष्ठति)

देवतिलकः- देव ! दीयतां प्रतिवचनम्।

राजा - (विहस्य) व्यतिक्रान्तोऽवसरः।

यस्मादासीत्तन्ममत्वं मम त्वं मन्त्री राजा चाहमेतद्यतश्च।
श्रीगुर्वाज्ञालब्धसर्वार्थसिद्धेःस व्यामोहो मे समूलो विनष्टः ॥ २ ॥
तदतः परं भवत एवास्त्वाज्ञापनभारो भवद्राजपुत्रस्य वा ।

देवतिलकः- (योगिनं प्रति) योगिन् ! न युक्तमेतत्कालसर्पदंशेन वृश्चिकदंशदोषापनयनम्।

गोरक्षः - मन्त्रिमहत्तक[१] ! अलमुपालम्भेन । परावर्तय राजानं शोकसुलभान्निर्वेदात्। अहमपि तवानुवर्ती भविष्यामि ।

देवतिलकः - राजन् ! किमेतत् ?

यस्मादिति । [२]यस्माद्व्यामोहान्नितां तमूढतापरपर्यायात्तस्या ममत्वन्तन्ममत्वम् (सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः) (पा. ७.२.८ वा.)

---

१. 'महोत्तर' इत्यपि पाठः ।
१. मिथ्याभ्रमादित्यपि केचित् । सति हि सारूप्ये भ्रमोऽपि साधीयान् यथार्थो भवति । न हि सुखकरसादृश्यमप्येषु वर्त्तते इति तद्भ्रमोऽपि मिथ्याभूत एवेति आहुः ।

ममत्वम् ममता 'ममेयमिति बुद्धिः' आसीत्। यतश्च मम त्वं मन्त्री अहं च राजेत्येतदासीत्। स व्यामोहः श्रीगुरोर्गोरक्षनाथपादस्याज्ञयोपदेशेन लब्धा प्राप्ता सर्वार्थसिद्धिस्त नामिक्रा-वृत्ति र्येन तस्य मे मम मूलेन स्वकारणेन सङ्कल्पेन सह विनष्टः। सङ्कल्पमूलक एव हि व्यामोहस्तन्मूलकञ्च ममत्वमिति सङ्कल्पनाशे सर्वदुःखनाशः। समुदितायां हि सर्वार्थसिद्धौ न किञ्चिदपि काङ्क्षितव्यमवशिष्यते योगिन इत्यन्यत्र (योगग्रन्थेषु) व्यक्तं द्रष्टव्यम्॥२॥

(राजा मौन रहता है।)

देव. - राजन्! उत्तर दीजिए।

राजा - (हँसते हुए) वह अवसर अब गया (समाप्त हो गया।)। जिस व्यामोह या अज्ञानता के कारण यह अपनापन था कि तुम हमारे मंत्रीं हो और मैं तुह्मारा राजा, वह व्यामोह वा अहंकार श्रीगुरु गोरखनाथजी की कृपा और उनके 'सर्वार्थसिद्धि' नामक उपदेश से (प्राप्त ज्ञान के कारण) अब समूल नष्ट हो चुका है॥ २॥

अतः अब ऐसी आज्ञा देने का भार आपको है या फिर आपके राजकुमार को।

देव. - (योगी के प्रति) हे योगिन्! जिसे बिच्छूने काट लिया हो उसके विष को उतारने के लिए उसे पुनः काले नाग से डँसवाना-कोई अच्छी बात नहीं है। (यह कोई अच्छा नहीं है कि कालसर्प से कटवा कर बिच्छू के दंश से प्राप्त विष को उतारा जाए।)

गोरक्ष. - हे मन्त्रिवर! यह उलाहना देना बेकार है। शोक के कारण हुए वैराग्य से तुम अपने राजा को वापस लौटा लो, इसमें मैं भी तुह्मारा साथ दुंगा।

देव. - राजन्! यह क्या है?

(The KING stands silent) Answer, Sire !

KING : (smiling). The time is past,---

While consciousness of self deluded me,
Thou wast a minister, and I a king;
But now you hermit's words have driven far
All folly and all madness from my soul.

Therefore on thee be the burden of command henceforth, or on thy heir.

DEVATILAKA : (to the ASCETIC): Ascetic, a scorpion's bite need not be cured by a serpent's !

GORAKSANATHA: Excellency, reproach me not ! Turn the king from this renunciation which he hath readily felt through his grief. I myself shall aid thee.

DEVATILAKA : O Sire, what means this ?

संविधाय नवनीतसंविदश्चारुपाकमपि दारुणौजसा।

सूपसंवलनसाधु भूपते राज्यमाज्यमिव किं न रोचते ।। ३ ।।

राजा - उक्तम् । व्यतिक्रान्तोऽवसरः । संप्रति हि -

संविधायेति। हे भूपते ! नवनीतन्नवोद्धृतमसंस्कृतं सर्पिरिव संविद अमात्यसुहृदादिभिः सम्मन्त्रणानि राज्यप्रतिष्ठापकानि । राज्यकर्मनियमान् वा 'संवित्संभाषणे ज्ञाने संयमे नाम्नि तोषणे । क्रियाकारे प्रतिज्ञायां सङ्केताचारयोरपी' ति हैमः । संविधाय महतायासेन सुसंपाद्य दारुणेन तीव्रेणौजसा प्रतापेन चारु सुयोग्यं पाकन्तत्फलमपि भुवस्सौराज्यं संविधायेति पूर्वेणान्वयः । (ततश्च) सुखेनोपसंवलने तत्सुखानुभवे साधु सुयोग्यं राज्यम् आज्यं सुसंस्कृतं (नवीनीतोद्धृतं साज्यस्कं) सर्पिरिव किं कुतो न रोचते तुभ्यमिति शेषः । "रुच्यर्थानां प्रीयमाण" (पा० १.४.३३) इति चतुर्थी । यथा कस्यचिन्नवनीतं सुसंपाद्य दारुणा मनोरमं साकमपि कृत्वा सूपस्य द्विदलस्य संवलने(वेष्टने उपस्कारे वा) सुयोग्यमप्याज्यं न रोचते तथा ते राज्यमित्यर्थः ।। ३ ।।

परम आयास करके (लकड़ी लाकर, चूल्हे में डालकर आग जलाकर...) अत्यन्त तेज आगसे (तेज आग बनाकर

उसमें) गरमाया गया, सुगन्धिपूर्ण तथा दाल में भली भाँति फेरा गया (घुमा-घुमाकर डाला गया) सुन्दर घी के समान यह राज्य हे देव ! आपको क्यों नहीं भा रहा है ? ॥ ३ ॥

(घी के साथ राज्य की तुलना करते हैं - घी के समान यह भी परम आयास से प्राप्त होने वाला है, तीव्रप्रताप से परिपक्व राज्य है, सुगन्धिपूर्ण घृत की भाँति यह भी समृद्धशाली वैभवपूर्ण है, घृत मिश्रित भोज्य द्विदल की भाँति यह भी सुख पूर्वक भोग्य है, घृत नवनीत यानि मक्खन से बनता है और यह राज्य भी मंत्री - पुरोहित-पण्डित आदि सभासदों की नवीन नीतियों किंवा मंत्रणाओं से चलता है।)

राजा - बता तो दिया है। वह अवसर अब रहा कहाँ ? (वह समय तो चला गया।) अभी तो -

Though by thy wondrous lore thou hast acquired
All knowledge and perfection, Lord of Earth,
Doth not thy throne shine bright as golden ghee ?

KING : I have spoken! The time is past, for lo,

अन्तर्दाहिमहाहिदुः सहविषप्रायप्रदोषज्वर-
ज्वालोद्रेकविकारवान्तिजनितातिक्लान्तिमूर्च्छस्य मे।
भुक्ताजीर्णरसप्रयुक्तविरतेर्युक्ताभियुक्तात्मनः
प्राज्यं मध्वभिधारिताज्यमिव तत्त्याज्यं न राज्यं कुतः ॥ ४ ॥

देवतिलकः- राजन्! कथमेतावत्संचितं वित्तमपि न ते चित्तमाहरति ?

अन्तर्दाहीति। संप्रति हि मे मम मधुनाऽभिघारितं[१] संमिश्रितं 'घृ क्षरणदीप्त्योः' (जु०प०) ण्यन्तात् क्तः। यदाज्यं घृतन्तद्वत्परिणतावर्थकरं तत्प्रसिद्धं प्राज्यं प्रभूतमपि 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमि' त्यमरः। राज्यं कुतो न

१. समं मिश्रितम्। समत्वे हि घृतमधुनोर्विषत्वं भवतीति आयुर्वैदिकसिद्धान्तः।

त्याज्यमवश्यमेव त्याज्यम् । मधुसंपृक्तं ह्याज्यं विषं भवतीति[1] प्रसिद्धम् । आत्मानं विशिनष्टि **अन्तरित्यादिना** । कथम्भूताय मे-अन्तर्दाही हृदयदहनशीलो महाहे र्महासर्पस्य दुःसहविषप्रायो दुर्विपाकविषतुल्यः यः प्रदोषज्वरः (योगपक्षे) संसारे प्रकृष्टदोषग्रहरूपो ज्वरो रोगः । 'ज्वर रोगे' (भ्वा० प०) पचाद्यच् (३-१-१३४) (रोगपक्षे) प्रकृष्टाः कफपित्तवातप्रकोपलक्षणाः दोषा यत्र तथाभूतः । तत्र या ज्वाला तस्या उद्रकं आधिक्यन्तत्प्रयुक्तविकारभूता या वान्तिरुद्वमनं (योगपक्षे) विषयपरित्यागः तया जनिता सम्पादिताऽतिशयिता क्लान्तिर्ग्लानिः 'क्लमु ग्लानौ' (दि० प०) मूर्च्छा सर्वविषयविनिवृत्तिलक्षणो मोहो यस्य तथाभूतः 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' (भ्वा० प०) 'गुरोश्च हल' इति (पा० ३-३-१०३) अप्रत्ययः स्त्रियां टाप् । 'गोस्त्रियोरि' ति (पा० १-२-४८) ह्रस्वः । पुनः कथम्भूतस्य पूर्वं भुक्तस्य पश्चादजीर्णस्य अपक्वस्य 'पूर्वकालैके' त्यादिना (पा० २-१-३९) समासः । यो रसो विकृतिलक्षणो रुचिप्रतिबन्धक उद्रेकः । (योगपक्षे) न हि विषया मया भुक्ता जीर्णीकृताश्च प्रत्युत विषयैरेवाहं भुक्तो जीर्णीकृतश्चेत्येवं तत्वानुभवरूपः । तत्प्रयुक्ता विरतिः संसारे हेयत्वबुद्धिः (रोगपक्षे) अन्नादिविषयवितुष्टया यस्य तथाभूतस्य । पुनः कथम्भूतस्य युक्ते विषयाऽऽसक्ते संसारिणि (योगपक्षे) युक्ते[2] योगिविशेषे यस्य हि सर्वदा (चिन्तां

---

१. तथाचोक्तं -

शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाऽश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।
तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी यो गणयति ॥ इति

२. तथाचोक्तम् -

योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः ।
युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ॥ इति
युक्तयुञ्जानरूपयोगिद्वैविध्याद्योगजसन्निकर्षोऽपि द्विविध इति हि तदर्थः ।

विनाऽपि) करतलामलकवत्सर्वं जगज्जातमाभासते । अभियुक्तः अभिग्रहवान् (साग्रहः) 'अभियोगस्त्वभिग्रह' इत्यमरः । आत्मा मनो यस्य तथाभूतस्य न हि नासिक्तो[1] रोगार्त्तोऽपि मृत्युसाधनं मध्वभिघारिताज्यं कथञ्चिदादत्ते । एवं संसारासक्तो[2] निर्विण्णो दोषवहुलं जगज्जातमाकलय्य दुःखासम्भिन्नं परमानन्दसुखमनुबुभूषू राज्यमपि कथञ्चिदाकाङ्क्षति । नितान्तदुःखसंभिन्नत्वात्तस्येति भावः । 'आत्मा कलेबरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि । चित्ते धृतौ च बुद्धौ च स्वभावे परमात्मनी' ति धरणिः ॥ ४ ॥

मधु मिश्रित घृत के समान यह विशाल राज्य भी क्यों न त्याज्य हो ? (आयुर्वेदिक सिद्धान्त के अनुसार समान मात्रा में घृत और मधु मिलाने से विष बनता है, जिसे लोग छोड़ ही देते हैं। उसी प्रकार मैंने भी घृत-मधु-मिश्रित इस राज्य को छोड़ दिया है। अर्थात् राज्य भी ऊपर से देखने में मधुर किंवा सुख कारक तो दिखता है, पर अन्ततः यह भी अनर्थकारक ही होता है।) (अब और कारण आगे देते हैं -) हृदय को दग्ध कर देनेवाले सर्पराज के असहनीय विष के सदृश, कफ-पित्त-वायु प्रयुक्त, प्रकृष्ट दोषरूप ज्वर के, ताप के आधिक्य से, विकार रूपी वमन के कारण, अत्यन्त श्रान्त होने से (अत्यन्त थकावट के कारण), संज्ञाहीन मुझे, अजीर्ण भोजनरूपी विष के कारण सांसारिक पदार्थों से विरक्ति हो गयी है। और ऐसी विरक्ति में युक्त मेरी आत्मा को - यह राज्य क्यों न त्याज्य हो ? ॥ ४ ॥

देव. - राजन् ! क्या इतना विशाल संचित् धन-सम्पदा भी आपके चित्त को आकर्षित नहीं करता ?

All faint and weary, parched with burning flame
Of feverish folly that consumed my soul,

---

१. संसारे आसक्तः । विषयी । २. संसारे असक्तः । विषयविरागवान् ।

I have cast far from me the deadly weight
Of venom poisoning the founts of life.
Disgust for what I loved now fills my heart;
I crave but holiness, and from my throne
As from some loathly feast I gladly flee.

DEVATILAKA : Sire, doth not the wealth that thou has gained restore thy mind ?

राजा -

प्राप्यं प्राणान्पीडयित्वा परेषां
रक्ष्यं प्राणैः पीड्यमानैः स्वकीयः ।
अव्युत्पन्नाल्पव्ययं प्राणकष्टं
नष्टं प्राणग्राहि वित्तं विपन्नः ॥ ५ ॥

देवतिलकः - हा धिक् ! अनन्यप्रार्थितमधन्यं नैर्धन्यमपि बहु मन्यसे ।

प्राप्यमिति । वित्तं धनं नोऽस्माकं विवेकिनां विपत् सर्वथा दुःखकरमेव । अत्र हेतुगर्भविशेषणान्याह-प्राप्यमित्यादिना । यतः परेषामन्येषां प्राणान् पीडयित्वा क्लेशमुत्पाद्य याचनादिनान्यान्कदर्थीकृत्येति यावत् । प्राप्यं प्राप्तुं योग्यम् । अथ च स्वकीयैः पीड्यमानैः सन्ततं चौरादिकर्तृकापहारशङ्कया दोदूयमानैः प्राणै रक्ष्यं रक्षितुं योग्यं भवति । ततश्चोत्पन्नाल्पोऽपि व्ययो विनियोगः समुत्सर्गो वा 'व्यय वित्तसमुत्सर्गे' (चु० उ०) यस्य तथाभूतं सत् प्राणानां कष्टं क्लेशकरं भवति । 'कष हिंसायाम्' (भ्वा० प०) 'कृच्छगहनयोः कष' (पा० ७-२-२२) इति निष्ठाया इडभावः । नष्टन्तु प्राणान् गृह्णाति तच्छीलम् प्राणग्राहि । ताच्छील्ये णिनिः (पा० ३-२-९८) प्राणापहारि भवति ॥ ५ ॥

अनन्यप्रार्थितम् । अन्यैर्न प्रार्थितं कैश्चिदपि । नैर्धन्यं दारिद्र्यम् ।

राजा - दूसरे के प्राणों को पीड़ा देकर (या क्लेश में डालकर) जो सम्पत्ति प्राप्त की जाय, अपने प्राणों को पीड़ित कर जिसकी रक्षा की जाय और तब जाकर प्राप्त धन से यदि थोड़ा व्यय भी

हुआ तो आत्माको कष्ट होता है और पूरा नष्ट हो जाने पर तो प्राणका ग्राहक (प्राण लेनेवाला) ही बन जाता है - ऐसी धन-सम्पत्ति हमारे (हम विवेकियों के) लिए विपत्ति ही है। (अर्थात् यह सम्पत्ति न होकर विपत्ति है।) ॥ ५ ॥

देव. - हा ! धिक्कार है । आपतो एकमात्र अनभिलषित (किसी के द्वारा न चाहनेवाली - अनन्य प्रार्थित) निन्दनीय निर्धनता को ही श्रेष्ठ समझ रहे हैं। (अर्थात् जिस निर्द्धनता को कोई नहीं चाहता, आप उसीकी प्रशंसा किये जा रहे हैं।)

KING : Aye, wealth, won by oppression of the poor,
Kept but by carking care and vigilance,
A peril and an evil to the soul.
Lo, as a reptile vile I trample it !

DEVATILAKA : Alas ! Thou esteemest poverty, For which no others pray, as a thing of little dread !

राजा -

च्युताशङ्कं चौरादपगतभयं भूपतिकुला -
त्खलादस्तद्वेषं क्षरदपरितोषं परिजनात् ।
अधन्यं नैर्धन्यं मम भवतु धन्या तु धनिता
तडित्प्रख्ये सौख्ये बहुमतिमतामस्तु भवताम् ॥ ६ ॥

देवतिलकः- राजन् ! सुखोपनता सर्वाकारेण हृदयामोदिनी मेदिनी किमवमन्यते ?

च्युतेति । अधन्यमन्यैरप्रार्थ्यं नैर्धन्यं द्रारिद्र्यं मम भवतु । धन्या पामरैः प्रार्थनीया धनिता तु तडित्प्रख्ये बिद्युत्तुल्येऽतिचपले सौख्ये विषयसुखे बहुमतिमतां क्षणनश्वरं सौख्यं बहुमन्यमानानां भवतामस्तु । उभयत्र प्रार्थनायां लोट् । नैर्धन्यं विशिनष्टि-च्युताशङ्कमित्यादिना । चौरात् च्युता गता आशङ्काऽपहारसंशयो यस्मिन्तत् । भूपतिकुलाद्राजगृहादपगतं भयं यस्मिन्

तत् । खलाद्दुर्जनादस्तोऽपगतो द्वेषोऽप्रीतिर्यस्मिन् तत् । ''द्विष अप्रीतौ'' (अ० उ०) भावे घञ् । परिजनाद्बन्धुवर्गात् क्षरन् अपगच्छन् अपरितोषोऽसन्तुष्टिर्यस्मिन् तत् । नैर्धन्ये हि नास्ति चौरापहारशङ्का नापि राजभयं न चापि खलानां द्वेषो न वा परिजनानामपरितोष इति वरन्तत् धनिताया यत्रैतद्वैपरीत्यमस्तीति भाव: ॥ ६ ॥

सुखोपनता सुखम् अक्लेशेन उपनता प्राप्ता मेदिनी पृथ्वी ।

राजा - दूसरों के द्वारा अवांछनीय (अधन्य) निर्द्धनता ही मेरे लिए प्राप्त हों; क्यों कि उसमें चोरों से चुराने का भय नहीं रहता, राजदरवार के द्वारा अधिकृत करने का डर गायब रहता है, दुष्टों से द्वेष (दुश्मनी) होना तिरोहित रहता है (अर्थात् किसी के शत्रु होने का सबाल ही नहीं रहता) और बन्धुजनों (आत्मीयलोगों) का असन्तोष समाप्त रहता है (अर्थात् बन्धुजनों के मनमें असन्तुष्टि की भावना समाप्त रहती है ।) । साथ ही मूर्खों द्वारा वांच्छित वह सम्पत्ति तो आप सबों को प्राप्त हो; क्यों कि विद्युल्लता की भाँति क्षणभंगुर उस सुख को ही आप लोगों ने बहुत कुछ मान रक्खा है । ॥ ६ ॥

देव. - हे राजन् ! सुख-सुविधा से प्राप्त हरेक प्रकार से हृदय को आनन्द देनेवाली इस पृथिवी की आप अवमानना क्यों कर रहे हैं ?

KING : Anxiety is o'er, I fear no thief;
All dread of rival monarchs now is gone.
I shrink no more before the covert sneers.
Of my retainers. Poverty be mine;
But riches, fleeting as the lightning's gleam,
Be multiplied to thee that cravest them !

DEVATILAKA : Is the Earth despised by thee, she that was won by thee in weal and that doth joy thy heart in every wise ?

राजा - कथमवमन्यते यद्यहमप्यस्या बहुमतः स्याम् । पश्य -

लावण्यौदार्यवीर्यार्जवजनितरतीन्दीर्घकालानुरक्ता-
नीषद्भक्तापरक्तानिव सपदि पतीन्विस्मरन्ती व्यतीतान् ।
अप्यङ्कारूढमञ्चत्वयमिति दयितं गर्हयन्ती जनेभ्यो
वारस्त्रीवैष्यदेष्यन्नवनवरमणामोदिनी मेदिनीयम् ॥ ७ ॥

कथमिति । यदि अहमपि अस्या मेदिन्या बहुमतः बहुतया मत इष्टः स्याम् । 'क्तस्य च वर्त्तमान' (पा० २-३-६७) इति कर्त्तरि षष्ठी । 'मतिबुद्धीति' (पा० ३ २-१८८) हि वर्त्तमाने कर्मणि क्तः । मतिरिहेच्छा बुद्धेः पृथगुपादानात् । तदा कथम्मया अवमन्येत अवमता भवेत् इयम्मेदिनीति शेषः । तदेव विसदयन्नाह पश्येति ।

लावण्येति । लावण्यं सुन्दरता औदार्य्यमुदारता मार्ज्जवं विनयस्तैर्जनितोत्पादिता रतिः प्रीतियैस्तान् दीर्घकालं[1] सुबहुदिवसम् । व्याप्य 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग' (पा० २-३-५) इति द्वितीया । अनुरक्तान् अनुरागवतः व्यतीतान् पूर्वान् प्रति ईषत्किञ्चिदपरक्ताऽनुरागवती अतएव अपरक्तानपगतरागानिव सपदि तत्क्षणमेव विस्मरन्ती अथ च अङ्कारूढमङ्के स्थितमपि दयितं वल्लभम् (राजसिंहासनासीनमपि) अयं (पुरुषापसदः) अञ्चतु गच्छतु 'अञ्च गतौ' (भ्वा०प०) इति जनेभ्यः जनानुद्दिश्य 'ल्यबूलोपे' (पा० १-४-३१ वा०). कर्मण्यधिकरणे च इति पञ्चमी । गर्हयन्ती विनिन्दयन्ती 'गर्हविनिन्दने (चु० उ०) स्वार्थे णिच् । वारस्त्री वेश्या इव इयं मेदिनी पृथ्वी एष्यन्तः एष्यन्तः नित्यमागमिष्यन्तः अत्र 'नित्यवीप्सयोः' (पा० ८ । १ ।४) इति द्वित्वम् ये नवनवा नित्यं नूतनाः रमणाः कामिनः तानामोदयन्ती हर्षयन्ती लक्ष्यते अत्र अतश्चास्मात् बहुमन्यमाना मेदिनी कथन्नास्माभिरवमता स्यादिति भावः ॥ ७ ॥

---

१. ल्यबन्तशब्दज्ञाने ल्यबन्तार्थावगमे सति ल्यबन्तधात्वर्थनिरूपितं यत्र कर्मत्वमधिकरणत्वं वा ततः पञ्चमीति तदर्थात् । प्रासादात्प्रेक्षत इत्यत्र यथा आरुह्येत्यध्याह्रियते । एवमिहोद्दिश्येत्यध्याहृतम् ।

राजा - उपेक्षा क्यों करता ? यदि यह पृथिवी भी मुझे चाहती होती। देखो तो सही -

यह पृथिवी सुन्दरता, उदारता, शौर्य और विनयोत्पन्न (उत्पादित) प्रीति करनेवालों को तथा चिरकाल से अनुरागवान् (अनुरक्त) पूर्वपतियों (राजाओं) को कुछ-कुछ प्रेम करती हुई, पुनः उन्हें तत्क्षण ही प्रेमविहीनों की भाँति भूल जाती है। अंकारूढ़ (राजसिंहासनारूढ़) स्वामी को भी प्रजाजनों से दोषी ठहराती हुई (अथवा अपमानित, भर्त्सना करवाती हुई) कि यह पुरुषापसद राजा भी जाए - ऐसा करके निकाल देती है। साथ ही यह पृथ्वी वेश्या की तरह नित्य नये -नये आनेवाले प्रेमियों को आमोदित करती है। (अतः बहुतों को चाहने वाली वेश्या की भाँति ऐसी इस पृथ्वी की क्यों न उपेक्षा करूँ ?) ॥ ७ ॥

KING : How is she despised if I was honored of her ?
Behold,
Straightway the Earth forgetteth her dead loves,
As they were little loyal or were false.
E'en though they worshipped her, she mocketh them
Before all people, and saith unto them,
"Now sleep ye on my breast!" Yea, harlot-like,
The Earth rejoiceth all, to all is false.

अपि च -

न प्रीणात्यवनान्मनागपि हतप्रज्ञावनी किं त्वसौ
वल्गद्वाजिखुरावदारणकृते वीराय वैरायते।
सद्यः संयति मुञ्चतोऽप्यभिमतान्प्राणानमुष्याः कृते
यन्निष्कृत्ततनोर्धिनोति रुधिरैर्निर्गत्वरैरान्तरम् ॥ ८ ॥

देवतिलकः - राजन् ! अनेकजन्मोपार्जितपुण्यप्राप्त राजपदं कः परित्यजति ?

न प्रीणात्त्विति । हतप्रज्ञा नष्टबुद्धिः अवनी पृथ्वी अवनाद्राजकृताद्रक्षणात् मनागल्पमपि न प्रीणातु प्रीतिं न करोतु । अतिसर्गेऽर्थे (३-३-१६३) लोट् अतिसर्गः कामचाराऽनुज्ञा किन्तु (उक्तवैपरीत्येन) असौ पृथ्वी वल्गन्तो गतिविशेषेण सुमधुरं गच्छन्तो 'वल्गु पूजामाधुर्ययोः' (भ्वा० प०) शतरि रूपम् । ये वाजिनोऽश्वास्तेषां खुरैः अवदारणं कषणं करोतीति वल्गद्वाजिखुरावदारणकृत् । क्विप् 'ह्रस्वस्य पिति कृती' ति (पा० ६-१-७१) तुक् । तस्मै । वीराय प्रतिपक्षराज्ञे (तदर्थे) वैरायते वैरं करोति पूर्वपत्युरिति शेषः । 'शब्दवैरे' त्यादिना (पा० ३-१-१७) करोत्यर्थे क्यङ् । ङित्वादात्मनेपदम् । कुतो ज्ञायते इत्यत आह सद्य इत्यादि । यतः सद्यः तत्क्षण एव अमुष्याः पृथ्व्याः कृते तदर्थं संयति संग्रामे 'संयत्समित्याजिसमिद्युध' इति युद्धपर्यायेष्वमरः । अभिमतान् इष्टान् प्राणानपि मुञ्चतस्त्यजतः निकृत्ततनो र्विदारितदेहस्य स्वपत्युर्न्निर्गत्वरैर्निर्गच्छद्भिः रुधिरै रन्तरमेवान्तर मन्तरात्मानं 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धिभेद तादर्थ्ये । छिद्रात्मीयविनावहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनिचे' त्यमरः । धिनोति प्रीणयति (तर्पयति) 'धिवि प्रीणने' (भ्वा० प०) 'धिन्विकृण्व्योरचे' ति (पा० ३-१-८०) उप्रत्ययो वस्यात्वं च । आर्धधातुकोपदेशकालेऽकारान्तत्वादतो लोपः । अल्लोपस्य स्थानिवद्भावान्नोपधागुणः । इत्थमकृतज्ञा हतप्रज्ञा निष्ठुरहृदया च मेदिनी कथन्नावमन्येतेति पूर्वेणाभिसंम्बन्धः ॥ ८ ॥

और भी -

यह हतबुद्धि पृथ्वी अवनीपालों के द्वारा रक्षा किये जाने से यदि थोड़ी भी उनपर प्रीति नहीं करती, तो न करे । परन्तु उछल-उछलकर चलने वाले अश्वों के खुरों से (अपने शत्रुओं के हृदयको) चिरवानेवाले (विदीर्ण करवाने वाले) वीरों के

लिए शत्रुता जो करती है (अर्थात् अपने पूर्वपतियों के प्रति शत्रु भाव जो रखती है)। साथ ही इस पृथ्वी के लिए संग्राम में सद्यः अपने अभीष्ट प्राणों को भी त्याग देने वालों, अस्त्र-शस्त्रों से छलनी हो चुके शरीरवालों (अपने रक्षकों, पालकों किं वा पतियों) के देह से तुरत्-तुरत् निकल रहे रुधिरों से यह अपने अन्तरात्मा को तृप्त जो कर रही है ॥ ८ ॥

देव. - हे राजन्! अनेक जन्मोपार्जित पुण्य के प्रताप से प्राप्त इस राज्यपद को भला कौन परित्याग करता है?

Nay, more,

May she have little joy for all her lore!
She hates the hero that doth seam her flesh
With hoofs of chargers galloping to war,
The while she revels in the gushing blood
From his rent body that is slain for her.

DEVATILAKA : Sire, who leaveth a throne won by righteousness and gained by many an incarnation?

राजा - (विहस्य)

किं राजेति रुजो भिया न सविधं सर्पन्ति दर्पोष्मणः
संन्तापेन शुचोऽपयान्ति विपदो नायान्ति वा शङ्किताः।
कीनाशोऽपि मनाङ्मनहेश्वर इति क्षोभादवाकर्षणे
शैथिल्यं समुपैति केन कुरुते भूभृत्पदं दुर्मदम्॥ ९ ॥

देवतिलकः - हा कष्टम्। कथमेते रुदन्तो बान्धवाः परित्यज्यन्ते?

किमिति। रुजो रोगाः 'रुजो भङ्गे' (तु० प०) क्विप्। 'अयं राजा' इतिभिया भयेन सविधं समीपं न सर्पन्ति न गच्छन्ति किम्। एवं विपदः विपत्तयः दर्पोष्मणः प्रतापाग्नेः सन्तापेन शङ्किताः जातशङ्काः सभयाः सत्यः अपयान्ति अपगच्छन्ति न आयान्ति वा किं? किन्तु आयान्त्येव। एवं कीनाशो यमोऽपि 'कीनाशकर्षकक्षुद्रोपांशुघातिषु वाच्यवत्। यमे ना' इति

मेदिनी । अयं महेश्वरो महाराज इति क्षोभाद्भयादवाकर्षणे स्वसमरसमीपानयने शैथिल्यं शिथिलतां समुपैति भवानिति शेषः । अत्र प्रकथने करोते 'गन्धनावक्षेपणे' त्यादिना (पा० १-३-३२) आत्मनेपदम् ॥ ९ ॥

राजा - (हँसकर) 'यह राजा है' - इस डरके मारे रोग उसके पास नहीं जाते हैं क्या ? राजा के प्रतापरूपी अग्नि के ताप से दुःख चले जाते हैं ? अथवा विपत्तियाँ सशंकित होकर नहीं आती हैं क्या ? (आती ही हैं) । ये 'महाराज हैं' (साक्षात् महेश्वर हैं) इस भय से क्या यमराज भी उन्हें खींचकर यमपुरी लाने में थोड़ी - सी भी शिथिलता दिखलाते हैं ? नहीं न ! (ऐसी स्थितिमें) किस आधार पर राजाके पदको हम 'भयानक' कह सकते हैं ? (जिसके भय से सब भागते -फिरते हों) ॥ ९ ॥

देव. - हा ! कष्ट है । इतने रोते - बिलखते बान्धवों को आप कैसे छोड़ रहे हैं ?

KING : (smiling)

Why "Sire"? The pain of fevered pride is past,
Asceticism drives all grief afar .
Nor do I dread misfortune's arrows now ;
Yea, beggar through I be, I am a lord---
All passion conquered, I have won my peace;
Now can' st thou say that all joy is not mine ?

DEVATILAKA : Heaven forbid ! How can'st thou desert thy weeping kinsfolk ?

राजा- साधवो हि बान्धवाः परलोकपरायणे[१] पणिणामतः प्रीयन्त एव । इतरे तु -

---

१. एतच्चोपेक्षणक्षणं यदैव विरागप्राप्तिः तदैव प्रव्रज्याविधानात् तथा च श्रुतिः 'यदहरेव विरजेहत्तदहरेव प्रव्रजदिति । अनेकजन्मार्जितसुकृतपरिणाम इति तु निष्कर्षः ।

नाशे रुदन्ति मनसा मुहुरुल्लसन्तो
गायन्ति वृद्धिषु भृशं विमनायमानाः ।
संपत्सुखेन विहरन्ति विगर्हयन्त-
स्ते बान्धवा यदि भवन्त्वथ के द्विषन्तः ॥ १० ॥

देवतिलकः - राजन् ! यद्येवं तदा तैरेव परैर्वा यदीयमाक्रम्येतावनी तदा कथं सोढव्यं स्यात् ?

परिणामतः । परिणामे तुरीयावस्थायां सार्वविभक्तिकस्तसिः (५-४-४४ वा०) परलोकपरायणे निःश्रेयससाधनाय समुद्यच्छमाने मुमुक्षौ प्रीयन्ते प्रीता भवन्ति 'प्रीङ् प्रीतौ' (दि० आ०) ।

नाश इति । नाशे मरणे सति मनसाऽन्तःकरणेन मुहुः पुनः पुनरुल्लसन्तः हसन्तोऽपि रुदन्ति । वृद्धिषु अभ्युदयेषु भृशमत्यर्थं विमनायमानाः विमनस इवाचरन्तः 'कर्त्तुः क्यङ्सलोपश्चेति' (पा० ३- १-११) क्यङ्सलोपौ । अपि गायन्ति । विगर्हयन्तो विनिन्दन्तोऽपि सम्पदः सम्पत्तेः (अर्थाद्यं विनिन्दति तस्यैव) सुखेन विहरन्ति । विनोदमनुभवन्ति । ते यदि बान्धना अथ तर्हि । द्विषन्तः सत्रवः के भवन्तु न केऽपीत्यर्थः । 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः । द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः ॥' इति 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथे' ति चामरः ॥ १० ॥

राजा - जो अच्छे बान्धव होतें है वे तो (अपने बान्धव को) परलोकतत्परतामें पाकर (अर्थात् परलोक सुधारने में तत्पर देखकर) आखिर प्रसन्न ही होते हैं। परन्तु इससे भिन्न जो बान्धव हैं, वे तो -

अपने बान्धवों के विनाश पर ऊपर से भले ही रोते हैं पर अन्दर ही अन्दर रह - रह कर हँसते हैं, बान्धवों की उन्नति पर ऊपर से भले ही गाते हैं पर भीतर से बहुत ही अधिक दुःखी होते हैं। अपने बान्धवों की सम्पत्ति के द्वारा सुख पूर्वक घूमते -

टहलते भी हैं और उनकी निन्दा-आलोचना भी करते हैं (कि आज मैंने उन्हें इतना ठग लिया, उन्हें इतना बेवकूफ बना दिया आदि-आदि।)। ऐसे ही यदि वे 'बान्धव' होते हैं, तो फिर शत्रु कौन होंगे।॥ १०॥

देव. - राजन्! यदि ऐसा है तो उन बान्धवों के द्वारा या फिर दूसरों से (शत्रुओं के द्वारा) इस पृथ्वी पर आक्रमण होने की स्थिति में क्या आपको सह्य होगा?

KING : "Kinsfolk that are truly good are pleased by the change in one whose thoughts are bent on the world beyond, while others

Weep with their eyes, but in their hearts rejoice,
Mocking the king in secret on his throne
And railing on him in his majesty;
If these be kinsmen, what would'st thou call foes?

DEVATILAKA : O Sire, if she that cometh after thee is such, how shall these or any others endure?

राजा-

ममामी चामीषामहमिति भृशं मूढमनसां
सुतो मित्रं ज्ञातिः पर इति परिभ्राम्यति मतिः।
अथायं व्यामोहो व्यगमदनुपेयां वसुमती-
मुपेयाद्यः कश्चिन्ननु किमिव न च्छिन्नमभवत्॥ ११॥

देवतिलकः - (सखेदम्) हा राजलक्ष्मि! हतासि।

ममेति। अमी मम बान्धवाः। अमीषाञ्च अहं बान्धव इति भृशमत्यर्थमविवेकि मनो येषान्तेषां प्राणिनाम्। अयं सुतः पुत्रोऽयं मित्रमयं ज्ञातिरयं परः शत्रुरन्यो वेत्येवं मति र्बुद्धिः परिभ्राम्यति सर्वतो व्यामोहमावहति। अथेदानीमयं व्यामोहो मे व्यगमद्विगतोऽभवत्। अनुपेयामुपेतुं प्राप्तुमनर्हां वसुमतीं पृथ्वीं यः कश्चिदुपेयादुपगच्छतु प्राप्नोतु। नोऽस्माकं किमिव छिन्नं विनष्टमभवन्न किमपीत्यर्थः॥ ११॥

राजा - 'ये हमारे अपने हैं' और 'मैं इनका अपना हूँ' - इस प्रकार की अत्यन्त मूर्ख जनों की बुद्धि (वस्तुतः) पुत्र-मित्र-सपिण्ड-अन्य (आदि) के बीच ही घूमती रहती है। परन्तु मेरा यह व्यामोह (अज्ञान) अब चला गया। अतएव किसी भी तरह न चाहने वाली (सदा अवाञ्छनीय) इस पृथिवी को जो कोई भी व्यक्ति प्राप्त करता है करे, मेरा क्या जाएगा ? (अर्थात् कुछ भी नहीं।) ॥ ११ ॥

देव. - (दुःख के साथ) हा राजलक्ष्मी ! तू मारी गयी।

KING : To say that "These be mine or I am theirs"
Are words of folly; madness 'tis to love
Son, friend, or kinsman more than all besides;
But now infatuation's fled from me.
And every chain that bound me falls away.

DEVATILAKA : (sadly) O Fortune of kings, thou art slain !

राजा - हतैवेयं दुरर्थानुबन्धिनी। पश्य -

ऊद्भूता किमु कालकूटकटुतामम्भः क्षरद्रूपता-
मौर्वस्योष्मलतां तरङ्गचलनामादाय वारान्निधेः।
नास्प्राक्षीदपि किं सुधामधुरतां न स्वस्तरोस्त्यागितां
नापीन्दोः परलोचनप्रणयितां पापीयसी श्रीरियम् ॥ १२ ॥

दुरर्थस्य दुःखप्रदस्यार्थस्य अनुवन्धिनी जननी इयं राजलक्ष्मीः।

उद्भूतेति। इयं श्रीर्लक्ष्मीः पापीयसी पापिष्ठा अतिपापीयसी यतः उत्पत्तिसमये वारांनिधेः समुद्रस्य तत्सम्बन्धिनीं कालकूटस्य पृथुमालिदैत्यरक्तोद्भवस्य महाविषस्य कटुतान्तीक्ष्णताम्। अम्भसो जलस्य क्षरद्रूपतामधोऽपगमस्वभावताम्। और्वस्य वाडवाग्नेरुष्मलतां परितापकारिताम्। तरङ्गस्य चलताम्। आदाय गृहीत्वा उद्भूता समुत्पन्ना किम्बिति वितर्कयामि। 'विकल्पे किं क्रिमूत चे' त्यमरः। एवं स्वपितुः सकाशादनर्थकरं सर्वमुपादित। सुधाया अमृतस्य मधुरतामपि किं कुतो

नास्प्राक्षीत् स्पृष्टवती ? एवं स्वतरो: कल्पवृक्षस्य त्यागितां सर्वार्थिमनीषितदानशक्तिं कुतः न अस्प्राक्षीत्। नापि इन्द्रोश्चन्द्रस्य परलोचनप्रणयितां परनेत्रप्रीतिमस्प्राक्षीत्। पापीयान् हि दोषनिचयमेव संगृह्णाति न गुणमपीति श्रीरपि स्वगर्भस्थितदुर्वस्तुसम्पर्कमेव कृतवती न सुवस्तुसम्पर्कमतोऽस्या: पापायुक्तत्वमुपपद्यत इति भाव: ॥ १२ ॥

राजा - यह दुःख प्रदायिनी (दुःखप्रद कर्मों की जननी) राजलक्ष्मी मरी हुई ही है। देखो -

यह राजलक्ष्मी परम पापिनी है। क्यों कि (इसने अपने जन्म के समय पिता सागर के पारिवारिक सदस्यों में से) कालकूट विष से कटुता को, जलसे अधोगामिनी प्रवृत्ति को, बडवानल से गर्मी को, लहरों से चंचलता को साथ लेकर जन्मी है। (समुद्र से निकलने वाली सभी बुराइयों को इसने ग्रहण कर लिया, पर अच्छाई किसी की ग्रहण न कर सकी)। न जाने, अमृत की मधुरता को, कल्पवृक्ष के त्याग किंवा दानशक्ति को, चन्द्रमा की शीतलता को (अर्थात् दूसरे की आखों के लिए प्रीति-उत्पादक स्वभावको) इसने स्पर्श तक क्यों नहीं किया ? ॥ १२ ॥

KING : She is slain indeed, who was associated with great agony ! Lo.

Of venom born, unstable as the sea,
The twining fire of hell that burns below;
Ne'er could she touch the gentle stars on high,
Or know the beauty of the moon's soft sheen.

अपि च -

स्वाराज्यान्नहुष: पपात चकमे चन्द्रोऽपि गुर्वङ्गना-
मिन्द्रो गोतमगेहिनीमपि गत: पातालमूलं बलि: ।
मग्ना एव चिरं महोर्मिषु परं संसारवारांनिधे-
रेनामङ्कचरीं विधाय कमलां के नाम पारं गता: ॥ १३ ॥

देवतिलकः-तदस्तु परलोकहितानां देवतानामाराधनपरतया सदर्थानुबन्धित्वं राजलक्ष्म्याः।

एवमस्या दुर्गुणमुक्त्वा दुरर्थानुबन्धित्वमुपपादयति-स्वाराज्यादिति। एनां कमलां लक्ष्मीमङ्के चरतीत्यङ्कचरीं अधिकरणे उपपदे "चरेष्ट" (३-२-१६) इति टप्रत्ययः। टित्वान्ङीप्। स्वाङ्कस्थितां प्रणयिनीं (पत्नीं) विधाय कृत्वा अस्माद्दुःखोदधेः के पारङ्गता नाम न कोऽपि। नामेति प्रसिद्धौ। परं केवलं (प्रत्युत) संसारवारांनिधेः महोर्म्मिषु महतरङ्गेषु चिरं बहुकालं व्याप्य मग्ना एव। प्रसिद्धिमेवोदाहरति स्वेत्यर्धेन। नहुषो राजा[1] (इन्द्रे विश्वरूपवधाद्ब्रह्महत्यया समभिद्रुत्य क्वचिद्देवैरप्यज्ञातप्रदेशे निलीय स्थिते देवैरिन्द्रपदे स्थापितः स्वर्लक्ष्मीमदाच्छचीङ्कामयमानो गुरूपदिष्टयुक्त्या तया वञ्चितोऽगस्त्यादिसप्तर्षीन् विष्टिवाहकान् विधाय ताँश्च त्वरमाणः सर्प सर्पेति ब्रुवंस्त्वमेव सर्पो भवेत्यगस्त्येन शप्तः) स्वाराज्यादिन्द्रपदात्पपात। चन्द्रोऽपि गुरो र्वृहस्पतेरङ्गनां पत्नीं तारां चकमे राजसूये समागतां तां कामयामास यत्र बुधः उद्भूत इन्द्रोऽपि गोतमस्यर्षे र्गेहिनीमहल्यां चकमे इति पुराणेषु प्रसिद्धम्। दिग्दर्शनमेतत्। एवमन्येऽपीत्येवं दुरर्थानुबन्धिनी श्रीरिति भावः ॥ १३ ॥

और भी -

इस कमला (लक्ष्मी) को अपनी गोद में बैठाकर (पत्नी स्वरूपा बनाकर, राजा अवनीश होते हैं, वे क्ष्मापति कहलाते हैं) इस सांसारिक जीवनरूपी सागर (भवसागर) को भला किसने पार किया है ? वल्कि इसके महातरंगों में बहुत दिनों के लिए (जीवन पर्यन्त) वे डूब ही जाते हैं। जैसे राजा नहुष का अपने राज्यसे पतन हुआ, चन्द्रमा भी अपने गुरुवृहस्पति की पत्नी तारा पर मोहित हो गये, देवराज इन्द्र भी महर्षि गौतमकी पत्नी

---

१. एतत्कथानकं श्रीमद्भागवते (देवीभागवते षष्ठे स्कन्धे ७-९ अध्यायेषु द्रष्टव्यम्।

अहल्या पर आसक्त हो गये (उनके पास गये) और राजा बलि भी पातालमूल तक चले गये ॥ १३ ॥

('नहुष' चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा का पौत्र और राजा ययाति का पिता था। पाँच महा - पातकियों में से एक चन्द्रमा भी हैं, इसलिए इन्हें 'गुरुतल्पग' कहा गया है। साथ ही चन्द्रमा में यही एक दाग कहा जाता है। बुध इन्हीं से उत्पन्न हैं। 'बलि' दैत्यराज विरोचन का पुत्र और प्रह्लाद का पौत्र था, जिसके लिए वामनावतार हुआ था। केरल की परम्परा में बलि वहाँका शासक था, जो वामन के द्वारा पाताल चला गया। प्रतिवर्ष वह केरल आता है, जिसके उपलक्ष में वहाँ बीशू पर्व मनाया जाता है। 'पाताल' नागलोक कहलाता है, जो कि नीचे के सात लोकों में अन्तिम लोक है। जैसे - अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल)।

देव. - वह तो ठीक है, लेकिन् पारलौकिक हित के लिए देवताओं की आराधना के समय यही राजलक्ष्मी सुखदायिनी भी तो है।

And again

E'en Nahusa fell from his kingly throne,
The moon brought shame upon his teacher's spouse,
Indra seduced the wife of Gotama,
While Bali sank unto the lowest hell;
And yet we fools would win to Fortune's port
Across the falsely rolling seas of life,
Though none may ever reach that fatefule shore.

DEVATILAKA : Then be there a series of successes for the fortune of the king in his absorption in the propitiation of the deities whose favor is shown in the world beyond !

राजा - सच्चिद्बोधमात्रेणार्चनीये भगवति नारायणे किमितरदेवतानामाराधनेन। किं बहुना ?

स्वाधीनस्वामिकायाः किमितरपुरुषैः किं महाग्नौ स्फुलिङ्गैः,
खद्योतैः किं सुधांशौ समुदयिनि कणैर्भक्षितैर्भूभुजः किम्।
किं कूपैर्नाकनद्याममृतरसभुजां भेषजैः किं विधेयं,
स्वात्मा नारायणोऽन्तः स्फुरति यदि रतिर्दैवतैः कैव तैर्नः ॥१४॥

देवतिलकः - राजन् ! अस्त्वेवम्। तथापि यौवन उपभुक्तविषयस्य चरमे वयसि वितृष्णस्य ते विज्ञानमीषत्करं भविष्यति।

उक्तेऽर्थे विशेषेण विशेषसमर्थनरूपं दृष्टान्तमाह-स्वाधीनेति। यथा स्वाधीनस्वामिकायाः पतिव्रताया इतरपुरुषैः किं विधेयं कर्त्तव्यमस्ति न किमपीत्यर्थः। महाग्नौ सति स्फुलिङ्गैरग्निकणैः किं ? 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्निकण' इत्यमरः। सुधांशौ चन्द्रे समुदयिनि भृशं समुदिते सति खद्योतैर्ज्योतिरिङ्गणैः किं ? 'खद्योतो ज्योतिरिङ्गण' इत्यमरः। भूभुजो राज्ञः कणैरतिसूक्ष्मैर्धान्यांशैः 'कणोऽतिसूक्ष्मे धान्यांशे' इत्यमरः। भक्षितैः किं ? नाकनद्यां गङ्गायां सत्यां कूपैः किं ? अमृतरसभुजां देवानां भेषजैरोषधैः किं ? 'भेषजौषधभैषज्यान्यगदोजायुरित्यपी' त्यमरः। एवम्-स्वात्मा नारायणः यदि अन्तर्हृदयाकाशे स्फुरति देदीप्यते तदा तैरन्यैरर्थार्चनीयैर्दैवतैर्दैवैर्नः अस्माकं रतिरेव का ? न कापीत्यर्थः ॥ १४ ॥

राजा - जब सत् चित् (जीवात्मा और ब्रह्म के प्रसंग यथार्थ सत्य और विवेक के) बोध मात्र से ही भगवान् श्रीनारायण की आराधना हो जाती है, तो फिर अन्य देवताओं की आराधना करने की क्या आवश्यकता ? अधिक क्या कहें -

पतिव्रता नारियों को परपुरुषों से क्या काम ? (अथवा जिस स्त्री का पति अनुकूल और वश में हो, उसे दूसरे पुरुषों से क्या काम ?), महाग्नि के रहते अंगारों से क्या करना ?, चन्द्रमा

के होने पर जुगनूँ से क्या लेना ?, जो स्वयं राजा है उसे चावल या अन्य अन्न के दाने खाने की क्या जरूरत ? गंगा नदी के रहते कूओं से क्या लेना ?, अमृत रस पीनेवालों को भला औषधों से क्या करना ? इसी प्रकार यदि अपने अन्तर्घट (हृदय) में भगवान् श्रीनारायण की भक्ति (रति) धधकती हो (अर्थात् हृदय में यदि नारायण की भक्ति के सिबा और कुछ भी न हो) तो अन्य देवताओं से ही हमें क्या लेना ? (अर्थात् श्रीनारायण को छोड़ अन्य देवी - देवताओं की आराधना से क्या प्रयोजन ?) ॥ १४ ॥

देव. - महाराज ! यह तो ठीक है । फिर भी यौवनावस्था में उपभुक्त विषय भोगवाले व्यक्ति के भोग रहित वार्द्धक्यावस्था में ही आपका यह वैराग्यपरक ज्ञान उपयोगी होगा। (अथवा - अभी जब युवावस्था में सभी सांसारिक विषय भोग को भोग लेंगे तब चरमवय में - वृद्धावस्था में निरभिलाषी आपको यह विशेष वैराग्यपरक ज्ञान कुछ करने वाला होगा । अभी इस अवस्था में यह विज्ञान उचित नहीं हैं ।) ।

KING : Since Narayana may be honored only by knowledge of the Supreme Spirit, why win the favor of other divinities ? Yet what need of many words ?

If I be mine own Lord, what ask I more ?
Or doth the blazing flame miss one poor spark,
The radiant moon the fire-fly's trembling light ?
When starved a monarch for a beggar's food ?
Doth Ganges' stream need springs terrestrial,
Or immortality earth's healing herbs ?
Narayana, thou Self-Existent Soul,
If thou art mine, I reck no gods besides.

DEVATILAKA : Aye, granted, Sire ! Yet even thus thy lore will bring thee little gain, who hast delighted in the pleas-

ure of this world in thy youth, and in thine age hast no more desire.

राजा- (विहस्य) उपभुक्तविषयस्य वैपरीत्येन वक्तव्यम्। पश्य -

भुज्यन्ते विषया मयेति भवति भ्रान्ता मतिर्देहिन -
स्तत्सिद्धौ कथमन्यथास्य विषयेष्विच्छा न विच्छिद्यते।
भुज्यन्ते पुरुषाः परं तु विषयैरेवेक्षुवन्मन्मते
यत्तृप्ता इव संत्यजन्ति विरसान्निष्पीड्य वृद्धानमी॥ १५॥

उपभुक्तविषयस्य। उपभुक्ता निर्विष्टा विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा येन तस्य। 'निर्वेश उपभोगः स्यात्' इति 'रूपंशब्दो गन्ध रस स्पर्शाश्च विषया अमी' इति चामरः। वैपरित्येन विषयोपभुक्तस्येत्येवम्। विषयैरुपभुक्तस्येत्येव हि तदर्थः।

भुज्यन्ते इति। मया विषयाः शब्दादयः श्रोत्रादिभिर्भुज्यन्ते साक्षात् क्रियन्ते इति देहिनः प्राणिनो बुद्धिर्भ्रान्ता भ्रमरूपा भवति। अन्यथा भ्रमाभावे तत्सिद्धौ विषयप्राप्तौ सत्यामस्य देहिनो विषयेषु शब्दादिविषयविषयिणी इच्छा कथं न विच्छिद्यते विनाशं कुतो नोपैति। इच्छां प्रति विषयसिद्धेः प्रतिबन्धकत्वादिति भावः। तुशब्दो भेदार्थ उक्तवैपरीत्ये वर्त्तते। मन्मते तु- विषयैरेव पुरुषाः परं केवलं भुज्यन्ते। यद्यस्मादमी विषया वृद्धान्विषयभोगवितृष्णानिक्षुवन्निष्पीड्य सञ्चोष्य तृप्ता इव विरसानिति कृत्वा सन्त्यजन्ति तस्माद्विषयैरेवं वृद्धा उपभुज्यन्ते न तु वृद्धैर्विषया इति स्थितम्॥ १५॥

राजा - (हँसकर) उपभुक्त विषय के विपरीत कहना चाहिए। (अर्थात् 'विषय भोग लेनेपर' नहीं, वल्कि 'विषयों के द्वारा उपभुक्त' बोलो। - इस वाक्य में चतुर्थश्लोकगत तृतीयचरण का अनुवर्त्तन हुआ है।) देखो -

'मैं सांसारिक विषयों का (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-श्रोत्रादिजन्य विषय-पदार्थोंका) उपभोग कर रहा हूँ' - इस प्रकारकी शरीर धारियों (मानवमात्र किं वा जीवमात्र) की बुद्धि भ्रमात्मक ही है। नहीं तो (अन्यथा, इन पदार्थों का उपभोग एकबार कर लेने पर भी पुनः - पुनः उसे प्राप्त करने की किंवा) इन विषयों के उपभोग करने की आकांक्षा क्यों नहीं जाती है ? (अर्थात् जिस प्रकार भोजन करलेने के बाद, पेट भरने की स्थिति में पुनः खाने की इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार विषयों का भोग कर लेने पर विषयों के प्रति अरुचि क्यों नहीं होती।) इसलिए मेरे विचार में तो (विषयों का भोग शरीरधारी नहीं करता, वल्कि) विषय ही शरीरधारियों का भोग करते हैं। और गन्ने की तरह इन्हें चूसकर, बाद में ये विषय, अघाये हुए की भाँति इन रसंहीन बृद्धों को सम्यक् छोड़ देते हैं ॥ १५ ॥

KING : (smiling). Let me tell thee of the contradictoriness of worldly bliss. Lo,

We boast that we be lords of earthly joys
That conquer us e'en in our victory;
'Tis they that are our tyrants, dooming us,
Outworn and useless, unto direst shame.

अपि च -

जनो मृषाकरोद्भेदं विषस्य विषयस्य च ।
अजामंजं च तन्नूनमाकारो भेदयत्ययम् ॥ १६ ॥

जन इति । यत्[१] अयमाकारो वर्णोऽवयवसंस्थानञ्च अजां छागीमजञ्छागञ्च भेदयति[२] तयोर्भेदबुद्धिं शब्दतोऽर्थतश्च करोति तत् नूनं

१. एतच्च सर्वत्र (वाक्येषु) योजनीयम् ।
२. अत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तच्छब्दबलेन यच्छब्दोऽध्याहृतो वेदितव्यः । अत्र यत्तच्छब्दौ करणं परामृशतः । एवमग्रेऽपि ।

निश्चितं 'नूनं तर्केऽर्थनिश्चय' इत्यमरः । (यत्र तु सोऽप्याकारभेदो नास्ति तस्य) विषस्य विषयस्य च[1] भेदं यज्जनः अकरोत् कृतावाँ स्तत्[2] मृषा मिथ्यैव । फलत उभयोरप्यैक्यादाकारभेदाभावाच्च । विशेषेण स्यति हन्तीति हि विषम् । 'षोऽन्तकर्मणि' (दि० प०)[3] 'आदेच' इति (६-१-४५) आत्वे 'आतश्चोपसर्ग' (३-१-१३६) इति कः विषयोऽपि हि उपभोक्तारं हन्तीत्यर्थतो (विषकार्यकारितया) विषं भवति । अत एव च विशेषेण सिनोति बध्नाति विषयिणमिति विषयः ''षिञ्बन्धने'' ''पचाद्यच्'' (३.१.१३४) 'परिनिविभ्य' इति (८-३-७०) षत्वम् । इत्येवं तदर्थ उपपद्यते । तथा च विषयिबन्धनकरत्वेन विनाशहेतुत्वाद्विषयस्य विषत्वम् विषस्य विषयत्वस्तु स्फुटमेव । 'विषयो द्वयणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृत' इति न्यायवैशेषिकसिद्धान्तात् । उपभोगसाधनं विषय इति शास्त्रसिद्धान्तः ॥ १६ ॥

और भी -

आदमी के द्वारा विष और विषय में जो भेद निर्द्धारित किया गया है, वह निश्चय ही मिथ्या और गलत है । क्योंकि अजा (छागी) और अज (छाग) में जो भेद दिखता है, वह सर्वथा भ्रामक है । आकार भेद के कारण ही दोनों में ऐसा पार्थक्य प्रतीत होता है । वस्तुतः दोनों एक ही है ॥ १६ ॥

(इसमें कवि न्याय - वैशेषिक के उस सिद्धान्त को दरसाया है, जिसके द्वारा विषका विषयत्व और विषयका विषत्व प्रतिपादित होता है । सांख्यदर्शनके उस सिद्धान्तको दिखाया है, जिसके द्वारा अजा-अज में - प्रकृति- पुरुष में भिन्नत्व सिद्ध

१. तयोर्विषयविषयोरित्येवं फलितोऽर्थः । चशब्देन द्वन्द्वस्यार्थतो निर्देशात् ।
२. भेदकरणम् ।
३. तत्र हि अशितीति विषयसप्तमी तेन के विवक्षित एवात्वमित्यादन्तत्वोपपत्तिः प्रत्ययविधानकाले द्रष्टव्या ।

होता है। वस्तुतः भर्तृहरि का यह कहना कि विष और विषय दोनों एक है, उचित ही है। क्यों कि दोनों अपने ही उपभोक्ता को नाश कर देते हैं। इन दोनों शब्दगत समान पद 'विष' जहर है तथा विषयगत 'य' यमराजका नामान्तर है, विषय अपने विषके प्रभाव से यम तक ले जाता है, अतः विषय एवं विष अभिन्न है। जाने वाले को भी 'यः' कहते हैं अर्थात् जिसने विषय भोग किया है, वह निश्चय ही विष-प्रभाव से जाने वाला ही है। यही भाव इसमें सन्निहित है।जब कि सांख्यदर्शनानुसार अजा-अजरूपी प्रकृति-पुरूष में पर्याप्त भेद है। प्रकृति या माया जहाँ अचेतन, जड़, विकारिणी, त्रिगुणात्मिका, प्रसवधर्मिणी और आत्मा है; वहीं पुरुष चेतन, अजड़, निर्विकार, निर्गुण, अप्रसवधर्मी और अनात्मा है। परन्तु इसीको भर्तृहरिने वेदान्तदृष्ट्या अभिन्न माना है, अद्वैत कहा है।)

Nay, more,

In vain is each distinction thou would'st make
'Twixt venom and the world corporeal;
True wisdom only is that which discerns
Between the finite and the Infinite.

किं च -

यदि यौवने न तृष्णा कृत्स्नापि विनिर्गता हताशेयम्।
निर्यास्यति सहचर्या जरसा श्लिष्टा न कष्टकृष्टापि ॥ १७ ॥

यदीति। यदि इयं हताशा दुर्भगा तृष्णा यौवने तारुण्ये कृत्स्ना समस्ताऽपि न विनिर्गता तदा सहचर्य्या सहचरी (सखी) भूतया जरसा वृद्धावस्थया श्लिष्टा संगता (तद्-गात्रदृढलग्ना) कष्टेन कृष्टा बलादाकृष्टापि न निर्यास्यति निक्रान्ता भविष्यति। वार्द्धकमासेदुषो हि तृष्णा[१] वरीवृध्यते इति हि सुप्रसिद्धम् ॥ १७ ॥

---

१. अतितरां वर्द्धते। 'शरणांस्त' इत्यपि पाठः।

क्यों कि -

यह दुष्टा तृष्णा (अभिलाशा) यौवन में भी यदि पूर्णतः नहीं जाती है, तो फिर बादमें (जब कहते हैं कि तृष्णा बढ़ती ही है, तब) अपनी सहचरी बृद्धावस्था से लिपटी हुई यह बलात् हटाने पर भी नहीं जाएगी ॥ १७ ॥

And again,

Ah, slay thy love of earth now in thy youth,
Or it will curse thee till thy dying day.

पश्य -

दन्तानां दृढतां कचस्य च तमोमालिन्यमक्ष्णोः पुन-
स्तत्तद्ग्राहकतां तनोस्तरुणतामप्यायुषो दीर्घताम् ।
एवं नाम जराज्वरादतिपराभूतस्य जन्तोरियं
तृणा निःशरणान्य[१] वर्गविभवानाच्छिद्य संमाद्यति ॥ १८ ॥

देवतिलकः - हा कष्टम् । महायोगिन् ! कः प्रकारः ?

गोरक्षः - राजन् ! एहि वैराग्यबीजभूतां ते प्रेयसीं योगबलेन जीवयित्वा रहसितया त्वां संगमय्य तवापनयामि निर्वेदम् । (इति राजानं हस्ते गृहीत्वा परिक्रामति)

देवतिलकः - (सानन्दम्) अहमपि रहः स्थानमिहैव संपादयामि ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महामहोपाध्याय-सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-हरिहरोपाध्याय विरचिते भर्तृहरिनिर्वेद नाटके चतुर्थोऽङ्कः ॥

दन्तानामिति । इयं तृष्णा जरा वार्द्धकमेव ज्वरो रोगस्तस्मात् अतिपराभूतस्य विवशस्या(त्मानमपि गोपायितुमसमर्थस्य किम्पुनः स्ववर्गात्) जन्तोः प्राणिनः दन्तानां दृढतां, कचस्य केशस्य च तमोमालिन्यमतिकृष्णताम्

---

१. समैः सजातीयैः प्राणिभिरप्राप्तिर्वा समूहो वर्गः । यथा मनुष्यवर्गः शैलवर्ग इत्येवम् ।

अक्ष्णोः पुनः पूर्ववत्तत्तद्ग्राहकतामनियतततत्तद्वस्तुग्रहणशक्तिं देवस्य तरुणतां तारुण्यमायुषो जीवितकालस्यापि दीर्घतां चिरस्थायितामेवममुना प्रकारेण निर्गतः शरणं रक्षिता येषां ते निःशरणाः अरक्षिताः (रक्षकरहिताः) 'शरणं गृहरक्षित्रो' रित्यमरः । ये अन्येषां वर्गाः समूहाः (वृन्दभेदाः समैर्वर्गाः) इत्यमरः । तेषां विभवानाच्छिद्य बलाद्गृहीत्वा संमाद्यति संहृष्यतीत्यहो साहसं जघन्यवृत्तिता चास्या हताशायास्तृष्णाया इति भावः ॥ १८ ॥

इति महामहोपाध्यायमुकुन्द झा वख्शी विरचितायां श्रीमद्भर्तृहरिनिर्वेदव्याख्यायां सुखबोधिनीसमाख्यायां चतुर्थोऽङ्कः ॥

देखो -

वार्द्धक्यरूपी पीड़ा से अत्यन्त पराजित (या पीड़ित) प्राणी (मनुष्य) की यह अभिलाषा उनके दाँतों की सबलता को, केशों की अत्यन्त कालिमा को, आँखों की पदार्थ-दर्शन क्षमता को, शरीर की तरुणाई को और उम्रकी लम्बाई को - इस प्रकार निराश्रय अन्यवर्गों की भी सम्पत्ति (अथवा उनके गुणों) को बलात् छीनकर प्रसन्न हो उठती है (अर्थात् हर्षित होती है।) ॥ १८ ॥

देव. - (स्वतः) हा ! कष्ट है । (योगीसे) हे महायोगिन् ! अब क्या तरीका (उपाय या रास्ता) है ?

गोरक्ष. - राजन् ! आओ, वैराग्यबीज स्वरूपिणी (जिसके कारण तुम्हें वैराग्य प्राप्त हुआ, उस) तुम्हारी प्रेयसीको योगबल से जिलाकर (पुनरुज्जीवितकर) एकान्त में तुम्हें उससे मिलाकर तुम्हारे वैराग्य को हटाता हूँ ।

(राजा का हाथ पकड़े गोरक्षनाथ चलने का उपक्रम कर घूमते हैं ।)

---

१. अत एव न यच्छब्दापेक्षात्र 'प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थकस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षत, इतिमम्मटः ।

देव. - (आनन्दपूर्वक) मैं भी यहीं पर एकान्त स्थान की व्यवस्था कर देता हूँ।

(सभी चले जाते हैं।)

॥ भर्तृहरिनिर्वेदनाटक के चतुर्थ अंक की 'जयन्ती' नामक हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥

Lo,

The firmness of thy teeth, thy raven locks,
The light within thine eyes, thy body soft,
And all thy days are doomed to die of age,
While hope alone shall live to mock at thee.

DEVATILAKA : Alas, what can be done?

GORAKSANATHA : Sire, by my ascetic's powers I will bring to life thy love that caused thy renunciation, and, leaving thee with her alone, will remove thy disgust of life. (Takes the KING' s hand and walks about)

DEVATILAKA : (joyfully) I will prepare them a place of meeting here.
(Exeunt omnes)

END OF ACT - IV

① Scine : ओम्राणां =>

②

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्येकान्ते मृतोज्जीविता भानुमती राजा च)

भानुमती- अज्जउत्त ! णीसहणित्थामाइं मे अङ्गाइं । ता अवलम्बसु मम् । [आर्यपुत्र ! निःसहनिस्थामानि मेऽङ्गानि । तदवलम्बस्व माम् ।]

(इत्यालिङ्गितुमीहते) (राजा वारयति)

भानुमती - (सवैलक्ष्यम्) अज्जउत्त ! किं सि परम्मुहो । [आर्यपुत्र ! किमसि ! पराङ्मुखः ?]

राजा- पराङ्मुखो वा न पराङ्मुखः ।

भानुमती- मह देहस्फंसं पि परिहरन्तो किं ण परम्मुहोसि ? [मम देहस्पर्शमपि परिहरन्किं न पराङ्मुखोऽसि ?]

राजा -

म्रियमाणे मयि भवती प्राणेन वियुज्यते नियतमेव ।
प्रतिकारमत्र योगादजरामरभावमहमीहे ।। १ ।।

भानुमती - (सत्रासमात्मगतम्) णूणं मं परिच्चइदुकामेण एदं भणिदम् । ता हन्त कथं एस णिवत्तीअदु । भोदु । एव्वं दाव । [नूनं मां परित्यक्तुकामेनैतद्भणितम् । तद्धन्त ! कथमेष निवर्त्यताम् । भवतु । एवं तावत् । (इति कोपोत्तरलभङ्गुरं राजानं विलोकयति]

म्रियमाण इति । भवती मयि म्रियमाणे मर्त्तुं समुद्यते नियतं निश्चितमेव प्राणेन वियुज्यते । वियुक्ता भवति । अत्र विषये योगादुपायकौशलात् 'योगः सन्नहनोपायध्यानसंगीतयुक्तिषु' इत्यमरः । प्रतिकारम् 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्येषु बहुलमि' ति (६-३-१२२) बाहुलकोऽत्र दीर्घाभावः । तद्दुःखप्रशमनोपायं अजरामरभावमजरामरत्वमहमीहे आकाङ्क्षामि

(अभिलषामि) इति लोकोक्तिः । परमार्थतस्तु निर्विकल्पकसमाधि-लक्षणयोगात्संजातप्रत्यगात्मानुभवस्य जीवन्मुक्तस्य 'न तस्य प्राणा व्युत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते'। अथ मर्त्यो पुनरावर्तन इत्यादि श्रुतेरजरामरत्वं सिद्धमेवेति भावः ॥ १ ॥

(मृत्यु से पुनरुज्जीवित भानुमती और राजा का एकान्त में प्रवेश)

भानुमती - हे आर्यपुत्र ! मेरा अंग आधार के बिना स्थिर नहीं रह पा रहा है, अतः आप सहारा दीजिए।

(रानी आलिंगन करना चाहती है, राजा हटा देते हैं।)

भानु. - (वैचित्र्य से) आर्यपुत्र ! आप मुझसे विमुख (उदासीन) क्यों हैं ? (अर्थात् मुँह फेरे हुए क्यों हो ?)

राजा- उदासीन होकर भी विरुद्ध नहीं हूँ।

भानु. - क्या हमारे शरीर का स्पर्श भी न करना विमुखता नहीं है ?

राजा - तुम मेरे मरने पर अपने प्राणों को त्याग देती हो - ऐसा मुझे विश्वास (अथवा निश्चय) हो गया है। अतएव उसीके प्रतीकार स्वरूप अब मैं अजरामरभाव (अविनाशी स्वरूप) को चाहता हूँ ॥ १ ॥

भानु. - (डरी हुई, अपने आप) निश्चित ही मुझे छोड़नेके लिए ही इस तरह से ये कह रहे हैं। तो हाय ! कैसे मैं इन्हें इससे विमुख करूँ ? (कैसे इन्हें मैं इससे रोक पाऊँगी ?) अच्छा, तो तब तक यही हों।

(प्रणयकोपित भ्रुकुटी को टेढ़ा करती हुई चंचल नेत्रों से राजा को देखती है।)

(Enter severally BHANUMATI, raised from the dead, and the King.

BHANUMATI : Sire, my limbs fail me; support me ! (Tries to embrace him. He repels her. In embarrassmant) Sire, why art thou averse to me ?

KING : Averse or yet perchance not averse.

BHANUMATI : How canst thou be aught but averse that wilt not touch me ?

KING : If I should die, then thy life too must pass,
But from that doom I fain would keep thee safe
By vows that win me immortality.

BHANUMATI : (in terror, aside), Surely he wisheth to desert me! Alas, how can I avert this ? Well, I'll try ! (Looks at the KING, feigning to tremble with anger)

राजा- (आत्मगतम्)

किं न्वेत एव तरलाम्बुरुहायताक्ष्या-
स्ते कालकूटकटवः कुटिलाः कटाक्षाः ।
येषु क्षणं निपतितेषु निमग्नमासी -
न्मोहान्धकारकुहरे मुहुरेव चेतः ॥ २ ॥

किंन्विति । ते अनेकशो दृष्टपूर्वाः कालकूटगरलवत्कटवस्तीक्ष्णाः कुटिला भावभङ्गुराः तरले चञ्चले अम्बुरुहे कमले इव आयते दीर्घे अक्षिणी नेत्रे यस्यास्तस्याः । 'बहुव्रीहौ शक्थ्यक्ष्णोरि' ति (५-४-११३) षच् । 'यस्येति चे' ति (६।४।१४८) इकारलोपः । षित्वान्ङीष् (पा० ४.१.४१) तरुण्याः कटाक्षा दृग्भङ्ग्य एत एव किन्नु ? अत्र किं शब्दः प्रश्ने । नु शब्दो वितर्के । येषु कटाक्षेषु निपतितेषु हृदये निविष्टेषु सत्सु क्षणं कञ्चित्कालं व्याप्य अत्यन्तसंयोगे द्वितीया (२.३.५) मोहोऽविवेकः मूर्च्छावस्था वा स एवान्धकारप्रधानं कुहरं विवरम् । 'अथ कुहरं सुषिरं विवरं विलम्' इत्यमरः । तस्मिन् एव चेतश्चित्तं भुहुर्भूय एव निमग्नमासीत् । ममेति शेषः ॥ २ ॥

राजा - (अपने आप) क्या इस चंचल कमलनयनी (कमल सदृश सुन्दर और बड़ी आँखोंवाली) के ये वे ही कालकूट विष के सदृश कटु कुटिल कटाक्ष हैं, जिन कटाक्षों के पलभर पड़ने पर ही मेरा यह हृदय अविवेकरूपी अन्धकार के विवर (गुफा) में बारम्बार डूब जाता था ? ॥ २ ॥

KING : (aside)

Why doth she cast that baleful glance on me,
More deadly than the venom of the fiends,
That o'er and o'er hath plunged my very soul
Deep in the blackness of the pit of sin.

किं च -

कष्ट एष तरलस्तरुणीनां भावभङ्गुरदृगन्तनिपातः ।
एष चेन्मनसि लब्धविपाकः किं करिष्यति विवेकवराकः ॥ ३ ॥

भानुमती- (सानन्दमात्मगतम्) अणुऊलो विअ अज्जउत्तो लक्खीअदि । [अनुकूल इवार्यपुत्रो लक्ष्यते ।] (इति भूयोऽपि स्मितभङ्गुरं निरीक्षते)

कष्ट इति । एष तरलश्चञ्चलस्तरुणीनां भावभङ्गुरो भावकुटिलश्चासौदृगन्तनिपातः कटाक्षविक्षेपश्चेति सः कष्टः दुःखम् 'कृच्छ्र गहनयोः कष' (पा० ७-२-२२) इति इडभावः । एष चेद्यदि मनसि चित्ते लब्धो विपाकः फलावस्था यस्य तथाभूतस्तदा वराकः शोचनीयः । 'वराकश्शोचनीये स्यादि' ति मेदिनी । स चासौ विवेक आत्मानात्मविचारश्चेति कर्मधारयः सः । राजदन्तादित्वात् (पा० २-२-३१)विवेकस्य पूर्वनिपातः । किं करिष्यति तस्य किमपि साध्यमस्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

क्यों कि -

अहा ! यही दुःख है कि तरुणियों का चंचल भावभरित कुटिल कटाक्ष यदि इस हृदय पर पूरा परिपक्व (फलावस्थाप्राप्त) हो जाए (अथवा वह कटाक्ष पूरी तरह से इस हृदय पर पड़ जाए) तो अभागा विवेक क्या कर पाएगा ? (अर्थात् कुछ भी तो नहीं ।) ॥ ३ ॥

भानु. - (आनन्दपूर्वक, अपने आप) अभी नाथ तो अनुकूल जैसे दिखाई पड़ते हैं। (स्मित हास सहित कटाक्षपूर्ण दृष्टि से राजा को देखती है।)

Nay, more,

Thrice evil is the lure of woman's eyes
That snare the hearts of all, e'en of the sage,---
How then can I, whom madness dooms, escape?

BHANUMATI : (aside, joyfullv) My lord seemeth almost inclined toward me ! (Again looks at him, feigning a smile)

राजा- (नयनं वारयन्) अलमतः परं दृग्भङ्ग्या
तामसी सा मसीवृष्टिर्यावदावरणं हृदः ।
दृग्भङ्गी तावदानङ्गी हारिणी हरिणीदृशः ॥ ४ ॥

भानुमती- (सास्रम्) हा देव्व ! केरिसो दे एस परिणामो । [हा दैव ! कीदृशस्त एष परिणामः ।]

तामसीति । तामसी तमोगुणमयी अन्धकारप्राया[१] साऽनुभूतपूर्वा अज्ञानरूपा मसीवृष्टिस्तत्तुल्या हृदश्चित्तस्यावरणं यावत् तावद्धरिणीदृशो मृगनेत्रायाः कामिन्या आनङ्गी मनोभव सम्बन्धिनी दृग्भङ्गी भावभङ्गुर दृगन्तनिपातः हारिणी मनसः प्रसह्य वशकारिणी भवति ॥ ४ ॥

राजा - (आँख बचाते हुए) इससे अधिक घुमाकर कहना बेकार है। अन्धकार-सी तमोगुण सदृशी काली रोशनाई की वर्षा की तरह ही इस मृगनयनी की वह कामदेव सम्बन्धिनी (कामपूर्णा) दृष्टि-भंगिमा तब तक ही मनोहारिणी (चित्ताकर्षिणी) है, जबतक कि इस हृदय पर अज्ञानरूप आवरण (परदा) पड़ा है ॥ ४ ॥

भानु. - (सजलनयन) हा दैव ! यह कैसा तुह्मारा फल है ?

KING : (averting his eyes) Enough of this side-long leer !

While o'er my heart the mist of folly lay,
Her fawn-soft glances ravished my sick soul.

BHANUMATI : (tearfully) O Sire ! How changed thou art !

---

१. 'किंनु' इति पाठे नुशब्दो विकल्पे 'नु पृच्छायां विकल्पे चे' त्यमरः ।

राजा -

स्मितैश्चित्रे नेत्रे किमिति कुरुषे किं नु परुषे
कृतं स्निग्धालापैः कृतमथ विलापैरपि कृतैः।
मयि त्यक्तास्वादे सभयमवसादेन गुरुणा
व्यतिक्रान्ते कामे विफलमिह वामे व्यवसितम् ॥ ५ ॥

स्मितैरिति। हे वामे! वनिते! इत्यसम्बन्धोक्तिः। प्रतिकूलदर्शिनि ललने! इति स्वभावोक्तिश्च ध्वनिः 'प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथे' त्यमरः। नेत्रे स्मितै र्नेत्रविकाशीषद्विकसितैश्चित्रैः अतिभावभङ्गुरतया आश्चर्यभूते नानावर्णे वा 'चित्रं खे तिलकेऽद्भुतं। आलेख्ये कर्बुर' इति हैमः। किमिति कुरुषे ? परुषे निष्ठुरे किंनु[१] कुतो न कुरुषे ! उभयं मयि समदृशि फलतः सममेवेति भावः। 'निष्ठुरं परुषमि' त्यमरः। स्निग्धै श्चिक्कणै[२](रव्यक्तमधुरैः स्नेहवद्भि) रालापैराभाषणैः कृतम् अलम् अथ विलापैरोदनपूर्वकभाषणैरपि कृतमलम्। उभयमपि मयि व्यर्थमेव। 'चिक्कणम्मसृणं स्निग्धम्' 'स्यादाभाषणमालापः विलापः परिदेवनम्' 'युगपर्याप्तयोः कृतमि' ति चामरः। मयि गुरुणा महता अवसादेन मनोभङ्गेन सभयं भयसहितं यथा स्यात्तथा विषयदोषदर्शनादिति भावः। त्यक्त आस्वादो येन तथाभूते सति अतएव कामेऽभिलाषे व्यतिक्रान्तेऽपगते सति व्यवसितं व्यवसायः (समुद्योगः सर्वोऽपि) विफलरहितमेव। तस्मान्न दैवमाक्रुश्य मोहमुपजनय। किन्तु शान्तिमुपैहीति भावः ॥ ५ ॥

राजा - हे वामे! (रमणी! अथवा विपरीते!) तुम आँखों को स्मितपूर्ण विचित्र हाव - भावों से युक्त क्यों कर रही हो ? निष्ठुर क्यों नहीं बनाती ? चिकनी-चिकनी (चिकनी-चुनमुनी) बातों से लुभाना व्यर्थ है (ऐसी बातें करना बेकार है)। साथ ही रुदनयुक्त बातों से भी लुभाना बेकार है। क्यों कि सांसारिक

---

२. चिगित्यव्यक्तमधुरेऽर्थेऽव्ययं, कण् शब्दे (भ्वा० प०) चिक्कणतीति चिक्कणं पचाद्यजन्तः।

विषय भोगों को छोड़ चुके मुझमें से महती हानि के डरके मारे कामदेव के चले जाने से तुह्मारा ये सब व्यवसाय (उद्योग अथवा मुझे लुभाने का प्रयास) अब बेकार है। (अर्थात् मुझे लुभाने या निर्वेद पराङ्मुख करने का तुह्मारा सब प्रयास बेकार है, चाहे वह मृदुल हो अथवा कठोर।) ॥ ५ ॥

KING : Naught can'st thou win with smiles or gain with tears;
Enough of words of love, lament no more !
Lo, I renounce the vain gauds of this world,
And all earth's sorrows fall from me at last---
0 wife so fair, vain are thy blandishments !

अपि च -

सारम्भा यदि बुद्धिरात्मदमने रम्भापि किं भावभू-
स्त्यक्तं चेन्मन एव कुण्ठधनुषा कामेन का मेनका ।
हेयत्वेन तनोर्वशीकृतहृदः किं न्यक्कृता नोर्वशी
चेन्मायैव जिता मनस्यभिमता किं भाविनी भाविनी ॥ ६ ॥

भानुमती- अज्जउत्त ! जइ एव्वं ता जणअस्स व्व दे घरे वि ठिदस्स सुलहं विण्णाणम् । [आर्यपुत्र, यद्येवं तज्जनकस्येव ते गृहेऽपि स्थितस्य सुलभं विज्ञानम् ।]

सा रम्भेति । यदि बुद्धिः आत्मनो मनसः 'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि । चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्त्तनेऽपि चे' ति धरणिः । दमने निग्रहे (शमोपयोगिनि दमे) सारम्भा सोद्योगा तर्हि रम्भा तन्नाम्न्योऽप्सरसोपि भावस्य रतेर्भूराश्रयः किं ? भवति न भवतीत्यर्थः । 'रतिर्देवादिविषया'

---

१. रतिरिति सकलस्थायिभावोपलक्षणम् । देवादिविषयेत्यपि अप्राप्तरसावस्थोपलक्षणम् तथा शब्दश्चार्थे । तेन देवादिविषया सर्वप्रकारा, कान्तादिविषयाऽपि अपुष्टा रतिः हास्यादयश्चाप्राप्तरवासस्थाः, विभावादिभिः प्राधान्येनाञ्जितो व्यञ्जितो व्यभिचारी च भावः प्रोक्तो भावपदाभिधेयः कथितः । इति हि तदर्थः । यदुक्तं -
'रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद्देवादिविषयोऽपि वा ।
अन्याङ्गभावभाग्वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक्' ॥ इति प्रदीपे द्रष्टव्यम् ।

व्यभिचारी तथाऽञ्जितः भावः प्रोक्त' इति मम्मटः । चेद्यदि मन एव (कर्म्म) कुण्ठं स्वव्यापारेऽवरुद्धं 'कुण्ठोमन्दः क्रियासुय[1]:' इत्यमरः । धनुर्यस्य तथाभूतेन कामेन त्यक्तं तदा मेनका तन्नाम्नी देवगणिकाऽपि का ? न कापीत्यर्थः नैव तत्रापि मनसोभिकाङ्क्षोदेतीति भावः । तनोर्देहस्य हेयत्वेनानर्थ हेतुतया त्याज्यत्वेन हेतुना वशीकृतं हृन्मनो येन तथाभूतेन मादृशेन पुंसा (वशीकृतहृदः इति पाठे वशीकृतञ्च तद्धृच्चेति कर्मधारयः सः । ततः शकासादित्यर्थः) उर्वशी देवाङ्गना न्यक्कृता[2]ऽनादृता न किं ? न्यक्कृतैव । एवं माया एव चेद्यदिजिता अभिभूता 'जि ञि अभिभवे' (भ्वा० प०) तदा मनसि अभिमता पूर्वमिष्टा भावो रतिर्विद्यतेऽस्यामिति भाविनी 'अत इनि ठनौ' (५-२-१११) इति मत्वर्थ इति । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा. ४-१-५) इति ङीप् किमाकारा भाविनी भविष्यति 'भविष्यति गम्यादयश्चे' ति (पा० ३-३-३) भवतेर्भविष्यतिणिनिः । पूर्ववन्ङीप् यद्वात्र किंशब्दो जुगुप्सायाम्[3] 'किं पृच्छायां जुगुप्सने' इत्यमरः । निन्दितैव भाविनीति तदर्थः ॥ ६ ॥

और भी -

यदि बुद्धि आत्म संयम में तत्पर हो, तो रम्भा भी क्या रतिभाव की जननी (अथवा आश्रयस्थली) बन सकती है ? (नहीं न !) । अपने व्यापार में अवरुद्ध या मन्द धनुषधारी (धनुषवाण चलाने में सुस्त पड़ चुके) कामदेव यदि अपने मन को छोड़ दिये हों, तो मेनका भी क्या है ? (कुछ भी नहीं) । शरीर को नश्वर मानकर (उसकी हेयता से) जिसने अपने मन

---

१. क्रियासु कर्त्तव्येषु यो मन्दोऽलसः स कुण्ठ इत्युच्यते । विशेष्य निघ्नादस्य त्रिलिङ्गता ।

२. न्यक् नीचार्थः 'न्यङ्नीचखर्वह्रस्वाः स्युरि' त्यमरः । नीचीकृतेत्यक्षरार्थः । निन्दा निरादरश्च फलितार्थः ।

३. गुपेर्निन्दायां 'गुप्तिजकिद्भ्यःसन्नि' ति (३-१-५) सनो विधानाज्जुगुप्सा निन्देत्यर्थान्तरम् ।

को वशीभूत कर लिया है, उसके लिए क्या उर्वशी अपमानिता (अनाद्रिता) नहीं हुई ? (अर्थात् हुई ही)। साथ ही यदि किसीने माया को ही जीत लिया है, तो उनके लिए मनकी सारी अभिलाषाएँ (रत्यादिभावपूर्ण, भाविनी) भी क्या होंगी ? (कुछ भी नहीं) ॥ ६ ॥

(रम्भा=स्वर्गकी अप्सरा, जो नलकूबर की पत्नी है। मेनका = यह भी प्रसिद्ध अप्सरा है, जो शकुन्तला की माता है। उर्वशी = इन्द्र की प्रसिद्ध अप्सरा, जो पुरूरवा की पत्नी बनी।)।

भानु. - आर्यपुत्र ! यदि ये बात है, तब तो आपको महाराज जनक के समान घर में रहकर भी यह विशिष्ट ज्ञान पाना सम्भव है।

Nay, more,

If wisdom be my staff, and Self-control,
E'en Rambha hath no power over me;
And if my soul be pure, nor Menaka
Nor Love with blunted dart can wound me then;
Each passion conquered, lovely Urvashi
Herself could never lead from virtue's way;
And if Delusion, that I once held dear,
Be shaken off, I fear not woman's wiles.

BHANUMATI : Yet even so, Sire, thou, who art like Janaka, may'st easily gain knowledge in thy very home.

राजा- ते ह्यनेकजन्मसंसिद्धा जीवन्मुक्तावस्थया स्थिता जनकादयः। अपक्वकषायाणां तु मादृशां नायं प्रकारः। तेन हि -

चित्तं गृहादद्य महान्ध'धकूपरूपाद्गुरूपासनयोद्धृतं नः ।
भूयो नु भूयो भववर्त्मनीदं तत्रैव तत्रैव निपातयिष्ये ॥ ७ ॥

चित्तमिति । भववर्त्मनि संसारमार्गे "अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थनि" इत्यमरः । महान्योऽन्धकूपस्तद्रूपाद्गृहात् अद्य । (तत्रैव चिरनिपतितं) नोऽस्माकं चित्तं मनो गुरोर्गोरक्षनाथपूज्यपादस्योपासनयोपसत्या (परिचर्य्यया च). तल्लब्धज्ञान रज्ज्वा (कर्त्तृभूतया) उद्धृतमुन्नीतमत्र गुरूपासना लब्धज्ञान रज्जुकरणकोद्धरणे सौकर्यातिशयद्योतनायास्माभिरिति कर्त्तुर्व्यापारो न विवक्षित इत्युपासनाया एव कर्त्तृत्वमुक्तमत उद्धरणक्रियागतैकवचनोपपत्तिर्द्रष्टव्या । तदिदं चित्तं भूयोभूयो नु तत्रैव नैव निपातयिष्ये । न हि कश्चिच्चिरगन्धकूपनिपतितं वस्तु कथं चित् (कृच्छ्रेण) लब्धया रज्ज्वा समुद्धृत्य पुनस्तत्र स्वयं पातयतीति व्यक्तं लोके । अत्र नु शब्दो वितर्के 'नु प्रश्नेऽनुनयेतीताऽर्थे विकल्पवितर्कयोरि' ति हैमः ॥ ७ ॥

राजा - वे जनकादि महाराज तो अनेक जन्म - जन्मान्तर की तपस्या से सिद्ध जीवन्मुक्त अवस्था में स्थित थे । हमारे जैसे सांसारिक पदार्थों में अनुरक्त और अपरिपक्व बुद्धि वालों के लिए यह विधि उचित नहीं है । अतः-

भयंकर अन्धकार मय (काले घने अन्धेरे से व्याप्त) गुफारूपी इस घर (संसार) से गुरु गोरखनाथ की कृपा से (अथवा उनकी सेवा के द्वारा) मेरा यह चित्त (मन) आज उद्धार पा लिया है । पुनः अब इस संसाररूपी मार्ग पर चलकर अपने इस मन को कभी उस गुफा में नहीं डालूँगा ॥ ७ ॥

KING : Nay, Janaka and the rest won while yet alive the release they had merited through many births, but that may not be my lot, with my crude attachments to the joys of earth. And thus,

I shall abide no more within that home
Which stays me from my holy teacher's lore,
Mine only guide from earth to realms above.

गृहे सत्ता तु जानतापि मया न सम्यगाचरितुं पारितम्। तथा हि -

नष्टं नष्टं पश्यदेवेष्टमिष्टं शेषे शेषे नद्धमाशाभिरन्तः ।

तत्तच्चक्रे कर्म यन्मर्मसंधीन्दारंदारं दुःखभारं बभार ॥ ८ ॥

नष्टमिति। अन्तर्म्मनः कर्त्तृ "अन्तर्मनो निर्गुणश्चे" ति त्रिकाण्डशेषः। इष्टमिष्टम् वस्तु नष्टं नष्टं पश्यदालोचयदेव शेषे शेषे अभीक्ष्णमवशिष्टे वस्तुनि (विषये) आशाभिः सुदीर्घतृष्णाभिः (आशातृष्णापि चायते)त्यमरः। नद्धं वद्धं सत् 'णह बन्धने' (दि० उ०) क्तः तत्तत् अभीक्ष्णन्तत् कर्म चक्रे कृतवत्। यत् यतः मर्मसन्धीन् हृदयादिजीवस्थानानि दारं दारमभीक्ष्णं विदार्य 'अभीक्ष्ण्ये णमुल् चे' ति (३-४-२२) णमुंल् 'नित्यवीप्सयोरि' ति (पा० ८-१-४) सर्वत्र द्विर्भावः। (यत्तद्यतस्ततो हेताविे) त्यमरः। दुःख भारं बभार धृतवत्। 'भृञ् भरणे' (भ्वा० उ०) कर्त्तरि लिट् ॥ ८ ॥

घर में रहते हुए और उससे भली - भाँति जानते हुए भी मुझसे वैसा आचरण सम्भव न हो सका। जैसे कि -

अपने इष्ट पदार्थों को नष्ट होते देखकर अक्सर अवशिष्ट पदार्थों के प्रति अन्दर से आशारूपी धागे से बन्धा हुआ (मैंने) वे सब कार्य किये, जो कि हृदयादि शारीरिक मर्मस्थलों को छेद-छेद कर परम पीड़ा (दुःख) रूपी भार (बोझ) को वहन करता है ॥ ८ ॥

Even though I gain truth, I cannot practise it perfectly in my palace, for,

Lo, one by one our wishes fade and die,
The while with greater love our fond hopes cling
To that which still remaineth unto us;
Thus Karma bringeth man his bitterest pain,
And woundeth evermore his bleeding heart.

हा ! धिक्कष्टम् ।

तप्तं नैव तपो मया हतधिया मत्तः प्रतप्ताः परे
कोषा एव धनैर्भृता न च दरीकोषाः पुनः संश्रिताः ।
दोषा एव बतार्जिताः शमवता नीता न दोषा सुखं
व्यामोहोऽभवदच्युतः परमसावाराधितो नाच्युतः ॥ ९ ॥

भानुमती- किदव ! कहिं परिच्चइअ गमिस्ससि । (कितव ! कुत्र परित्यज्य गमिष्यसि ?) (इत्युत्तरीयाञ्चले धारयति)

तप्तमिति । हतधिया नष्टबुद्धिना मया तपो नैव तप्तं, मत्तः मच्छकाशाद्येऽन्ये पुनः प्रतप्ताः क्लेशभागिनो जाताः । यो हि तपति ततस्तापोऽन्येषामपि दृष्टः पाकभाण्डतापेन तद्गतजलान्नादि पाकादेर्ययेतिविरोधः । स चाभास एवेत्युक्तमुपरिष्टात्तथाचायं विरोधाभासरूपोऽलङ्कारः[1] । धनैरर्थराशिभिः कोषा भाण्डागारा एव भृताः पूरिताः । पुनः दर्याः कन्दरायाः 'दरी तु कन्दरो वास्त्री' इत्यमरः । कुष्यन्ते एभ्य इति कोषाः 'अकर्त्तरि च कारके' इति (पा० ३-३-१९) अपादाने घञ् । 'कुष निष्कोषे' (दि० प०) निष्कोषो निष्कोषणन्तच्चान्तर्गतस्य बहिर्निस्सारणमिति दीक्षितचरणाः । मध्यभागा न च संश्रिताः । नैवाधिष्ठिताः । पुनरत्र पक्षान्तरे । तथाच मेदिनी (पुनरप्रथमे मतम् । अधिकारे च भेदे च तथा पक्षान्तरेऽपि च) । दोषा एव अर्जिताः वतेति खेदे । परं शमवता शान्तिमता सता दोषा रात्रिः 'अथ दोषा च नक्तं च रजनाविती' त्यमरः । सुखमक्लेशेन न नीता । व्यामोहो नितान्त मूढता सोऽच्युतो निरन्तरमनुवर्त्तमानोऽभवत्परमसावच्युतो विष्णुनाराधितः) ॥ ९ ॥

---

१. वस्तुतोऽयं विरोधालङ्कार एव । परं सोऽवास्तविक एवोपनिद्धो विच्छित्तिविशेषं जनयतीति विरोधाभास इत्युच्यते । तथाचास्य लक्षणम्-विरोधः सोऽविरोधेपि विरुद्धत्वेन यद्वचः । इति मम्मटः । अविरोधेऽपि (वस्तुगत्या) विरोधाभावेऽपि द्वयोर्वस्तुनोर्विरुद्धत्वेन विरोधप्रतिभाप्रयोजकरूपेण यद्वचः वचनम् (अभिधानं) स विरोध इत्यर्थः । विरुद्धार्थप्रतिपादकस्य पदादेरर्थान्तरपरत्वादिना वस्तुतो विरोधाभावेऽपि आपाततो विरोधप्रतीति र्विरोधनामालङ्कार इति भावः ।

हा ! धिक्कारं है (मुझे), कष्ट है !

मुझ अभागे (मूर्ख) से कभी तपस्या नहीं की गयी, अपितु मुझ से ही सारे जन तपाये गये (पीड़ित हुए)। मैं कोषों (धनागारों) को धन-सम्पत्तियों से भरता रहा, पर कभी भी गुफा रूपी खजाने में स्वयं को नहीं डाला (अर्थात् उसका आश्रय नहीं लिया)। हा ! सांसारिक दोषों को ही मैंने अर्जित किया, कभी भी शान्ति और सुखके साथ रात्रिको (दोषा) नहीं बिताया। (संक्षेप में यदि कहें, तो) मेरा अज्ञान कभी भी अ-च्युत (नष्ट) नहीं हुआ (स्थिर ही रहा) और मैंने इस अच्युत (भगवान् नारायण) की आराधना भी कभी नहीं की ॥ ९ ॥

(राजा विमुख होकर जाने लगता है।)

भानु. - हे लबार (कपटी) ! मुझे छोड़कर कहाँ जाओगे ?

(राजा के उत्तरीय वस्त्र को पकड़ती है, राजा उसे छुड़ाकर घुमने लगता है। रानी दौड़कर हाथ पकड़ लेती है।)

Alas, the evil of it !

Asceticism's fervor I sought not,
And lo, my soul must burn forevermore.
I have acquired rich treasure of this world,
But not the peace that dwells in hermit's caves;
The evil of the night I know too well,
But not the joy that comes at holy eve;
All folly I have moved to sate my lusts,
But Him that moveth not, I may not move.

(Walks away, averting his face) -

BHANUMATI : Deceiver, why dost thou leave me ? (Catches him by the hem of his cloak, which the KING abandons as he goes. BHANUMATI runs and falls at his feet)

(राजा उत्तरीयं परित्यज्य परिक्रामति। भानुमती धावित्वा पाणौ गृह्णाति।)

राजा- (स्थित्वा सक्रोधम्) अयि दुरर्थबहुले!

स्नाय्वावनद्धघनवालकरालचर्म -
कन्थान्तरस्थितमलान्तरसास्थिमज्ज्ञाम् ।
स्तोमस्त्वमस्यथ दुरन्तशतानि यानि
त्वय्यापतन्ति कथयामि कियन्ति तानि ।। १० ।।

स्नाय्वेति । त्वं स्नाय्वा अङ्गप्रत्यङ्गसन्धिबन्धनरूपया शिराख्यया वस्नसया आसमन्तात् अवनद्धाऽनुस्यूता या घनवालकरालचर्मकन्था घना निविडा ये वालाः केशाः तैः करालं भीषणं 'करालो दन्तुरे तुङ्गे भीषणे चाभिधेयवत्' इति मेदिनी । यच्चर्म्म तस्य या कन्था प्रावरणान्तरं (स्यूतकर्पटः) 'कन्थामृन्मयभित्तौ च तथा प्रावरणान्तर' इति मेदिनी । तस्या अन्तरे अवकाशे स्थितो यो मलान्तो रसः (विकृतिः) स च अस्थि चर्म मज्जा[1] चेति द्वन्द्वस्तेषां स्तोमः सञ्चयः 'स्तोमौघनिकरव्रातवारसंघातसञ्चया' इत्यमरः । असि । अथ यानि दुरन्तशतानि अनन्तानि दुःखावसानानि वस्तूनि त्वयि आपतन्ति तानि कियन्ति कथयामि । कथयितुमनर्हानीत्यर्थः ।। १० ।।

राजा - (खड़े होकर, क्रोध सहित) अरी, अनर्थों की खान !
तुम नसों (शिराओं) से बुनी हुई (गुँथी हुई) गहन बालों से खौफनाक (भयानक) चमरीरूपी कथरी के भीतर-स्थित हड्डी, मांस और चर्बी की विकृतियों की खान (आश्रयस्थली) हो । साथ ही तेरे भीतर जो सैकड़ों दुःखदायी वस्तु व्याप्त हैं, उनमें से कितने को बताऊँ (गिनाऊँ) ? (अर्थात् सभी को बता पाना सम्भव नहीं है ।) ।। १० ।।

KING : (stopping angrily) Ha, thou woman full of evil !
Thou art a mass of marrow and filth,
All foulness lurks beneath thy hairy skin
That clothes like rags the bones thy sinews bind–
No tongue could tell what vileness dwells in thee !

---

१. 'मज्ज्ञाम्' इत्यपि पाठः ।

किं च -

गण्डाख्यां न रुजं जिघृक्षति करः किं स्थूलमांसं कुचं
गर्ते चेन्न कफास्थिचर्मनिचिते वक्त्रे कुतश्चुम्बनम् ।
भस्त्रा न श्वसनोद्गमागमवती कायः किमालिङ्ग्यते
कुत्सा चेन्मलमूत्रभाजि नरके नार्या न कार्या कुतः ॥ ११ ॥

(इति हस्तमाच्छिनत्ति)

गण्डाख्यामिति । करो हस्तः गण्डाख्यां पिटंकापरपर्यायां 'गण्डः स्यात्पुंसि खङ्गिनि । ग्रहयोगप्रभेदे च वीथ्यङ्गेपिटकेऽपि चे' ति मेदिनी । रुजं न जिघृक्षति ग्रहीतुमिच्छति । स्थूलं मांसं यत्र तत्कुचं स्तनं किं कुतो जिघृक्षति ग्रहीतुमिच्छति । उभयोः स्थूलमांसत्वाविशेषात् 'गण्डः स्यात्पुंसि खङ्गिनि । ग्रह योगप्रभेदे च वीथ्यङ्गे पिटकेऽपि च । चिह्नवीरकपोलेषु ग्रहभूषण बुद्बुदे' इति मेदिनी । पिटको विस्फोटः । 'पिटकस्त्रिषु विस्फोटे मञ्जूषायां पुनः पुमान्' इति मेदिनी 'विस्फोटः पिटकोऽस्त्रियामि' त्यमरश्च । कफास्थिचर्मभिर्न्निचिते व्याप्ते गर्ते भूरन्ध्रे चेद्यदि न (चुम्बनं) तदा वक्त्रे मुखे कुतश्चुम्बनम् ? उभयोः कफास्थिचर्मनिचितत्वाविशेषात् । 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लयनं मुखमि' त्यमरः । श्वसनस्य वायोः 'श्वसनः स्पर्शनो वायुरि' त्यमरः । उद्गमश्चागमश्च तौ विद्येते यस्यां सा भस्त्रा अग्निप्रज्वलनार्था चर्मप्रसेविका न आलिङ्ग्यते। तर्हि कायो देहः किमालिङ्ग्यते तस्यापि श्वसनोद्गमागमवत्वात् । चेद्यदि मलमूत्रभाजि मलमूत्रादिमति नरके कुत्सा घृणा तर्हि नार्यां स्त्रियां कुतो न कार्या सा (घृणा) उभयोरपि मलमूत्रभाक्त्वाविशेषादिति भावः ॥ ११ ॥

क्यों कि -

जब हाथ, गला - रोग 'गिल्टी' या 'घेघा' को भी छूना नहीं चाहता, तो फिर पुष्टमांसों से भरे स्तनों को कैसे पकड़ेगा ? कफ-हड्डी-चर्म आदि से भरे हुए पोल (छेद) में भी यदि कोई चुम्बन नहीं लेना चाहता, तब फिर मुख में ही

क्यों लेगा ? श्वासों को लेने व छोड़ने वाली धौंकनी (भस्त्रिका, चर्मप्रसेविका) का यदि कोई आलिंगन नहीं करता, तो फिर उसका आधार इस शरीर का ही आलिंगन क्यों करे ? यदि मल-मूत्रों का पात्र (या भंडार) नरक (अथवा यम, कामदेवरूपी नर) के प्रति तिरष्कार किं वा घृणाभाव किया जाता है, तो फिर उसीके सदृश (या उस नर की सहायिका) नारी के प्रति वही घृणा या तिरष्कार क्यों नहीं ? ॥ ११ ॥

(राजा हाथकों खींच लेता है।)

Nay, more,

I will not touch thy rounded cheek, wherein
Death doth abide, as in thy swelling breast;
Nor will I kiss thy mouth, saliva-filled;
What are thy bones, thy flesh ? Should I embrace
A bellows filled with some plague-laden air ?
If what we cast in the foul draught we loathe,
Why not hate woman, viler and more vile ?

(भानुमती रुदती राज्ञः पादयोः पतति)

राजा- (सखेदमात्मगतम्) अहो दुरतिक्रमणीयता
इन्द्रियाण्युपलग्रन्थीन्वज्रसारमयं मनः ।
अकृत्वा विषयाञ्झेतुमेतु को नाम पौरुषम् ॥ १२ ॥

देवतिलकः- (प्रविश्य) अस्ति किंचिन्मन्थर इव राजा। तदयमवसरः। (इत्युपसृत्य) अतः परमस्तु देव्यै प्रसादः । हन्त ! कथमिदमस्याः प्रणयसुखं परिह्रियते ?

इन्द्रियाणीति। इन्द्रियाणि इन्द्रस्यात्मनो लिङ्ग (ज्ञापक) भूतानि गन्धादिविषयज्ञानसाधनानि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि उपलस्य पाषाणस्य 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिलादृषत्' इत्यमरः। ग्रन्थीन् पर्वाणि तद्वत् दुर्भेद्यानि विषयैरनभिभाव्यानीति यावत्। अकृत्वा 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी'

इत्यमरः । मनश्च (तप्रवर्त्तकं) वज्रस्य हीरकस्यापि यः सारः स्थिरांशस्तन्मयं तद्वत्कठिनम् अकृत्वा विषयान्गन्धादीनिन्द्रियार्थान् जेतुं वशीकर्त्तुं कः पुमान् पौरुषं सामर्थ्यमेतु प्राप्नोतु नाम, न कोऽपि सम्भाव्यते । अत्र नामशब्दः सम्भावनायां तथा च मेदिनी 'नाम कोपेऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च । सम्भाव्यकुत्साप्राकाश्यविकल्पेष्वपि दृश्यते' इति । अत एव लोडपि सम्भावनायामेव । तथाच सम्भेदे नान्यतरवैयर्थ्यमिति न्यायादुभयोरैकार्थ्येऽपि नोक्तार्थानामप्रयोग इति न्यायप्रकोपावसरः । द्वौ ब्राह्मणावित्यत्र यथा ॥ १२ ॥

(भानुमती रोती हुई राजा के पाँवों पर गिरती है ।)

राजा - (दुःखी होकर, अपने आप) अहो ! छुटकारा पाना बड़ा ही कठिन है ।

अपनी इन्द्रियों को पाषाण-ग्रन्थि की तरह किये बिना (अपने अवयवों को पत्थर की गाँठ की तरह कठोर बनाये बिना), इस मन को हीरे के सदृश कड़ा (भीषण कठोर) किये बिना सांसारिक विषयों को जीतने के लिए भला कौन पुरुषार्थ दिखला सकता है ? (अथवा विषयों को जीतने के लिए भला कौन पौरुष प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।) ॥ १२ ॥

(देवतिलक का प्रवेश)

देव. - (स्वतः) राजा कुछ सुस्त-से दिखते हैं, अतः यही अवसर है । (पास जाकर) अब रानी पर कृपा करनी चाहिए महाराज ! हाय ! इनका यह प्रणय - सुख क्यों छोड़ा (त्यागा) जा रहा है ?

(Draws his hand away, Bhanumati falls weeping at his feet. Aside, sadly) How hard to subdue the passions !

Except my will be made of adamant,
How can I conquer every earthly lust ?

(Enter DEVATILAKA)

DEVATILAKA : The king seemeth to waver. Now's my chance ! (Approaches) Please the queen henceforth ! Alas, why dost thou renounce the delights of her affection ?

राजा- (चरणौ मोचयित्वा)

मनागेवाज्ञानापहृतहृदयाह्लादनकरी
परीपाके मोहं वहति बहुवैरस्यविधुरा ।
भयं बाला हालाहलबहलमाध्वीकमधुरा
चिराद्दत्ते यादृक्सुखमथ न तादृक्कथमपि ॥ १३ ॥

मनागिति । मनाक् अल्पमेव (अनुभवाद्यक्षणे) अज्ञानेनापहृतं स्वायत्तीकृतमज्ञानावृतमिति यावत् तथाभूतं यद्धृदयं मनस्तस्याऽऽह्लादनं करोति तच्छीला 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येष्वि' ति (पा० ३-२-२०) करोतेस्ताच्छील्ये द्योत्ये टः । टित्वान्ङीप् । परीपाके परिणामे "उपसर्गस्य घञी" ति (पा० ६-३-१२२ वा) दीर्घः । बहुवैरस्येनातिविरसतया विधुरा विश्लिष्टा त्यक्ताऽपि "वैकल्येऽपि च विश्लेषे विधुरं विकले त्रिषु" इति मेदिनी । सती मोहं[1] मूर्च्छा शोकं वा वहति प्रापयति "वह प्रापणे" (भ्वा० प०) 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः' इत्यमरः । एवं हालाहलेन (तालपत्राकृतिस्थावर) विषभेदेन वहलं प्रचुरं (पूर्णं) 'बहलं प्रचुरे त्रिष्वि' ति हेमचन्द्रः । यन्माध्वीकं मधु क्षौद्रं तद्वन्मधुरा यथा दुर्विषपूर्णमात्रं मुखे मधुनाविहितं पूर्वम् (आश्वादाद्यक्षणे) मधुरं लगति । पश्चाच्च विरसतया त्यक्तमपि मूर्च्छामेव दिशति[2] । तथा वाला यादृक् भयं चिराद्बहुकालं[3] व्याप्य दत्ते अथ तादृक् सुखं कथमपि कृच्छ्रेणापि न दत्ते । तस्मात् सर्वथा परिहार्यैवेयमिति भावः ॥ १३ ॥

---

१. अत्र मज्जाशब्दो नान्तः पुंसि । 'अल्लोपोऽन' इत्य (६-४-१३४) ल्लोपे श्चुत्वे (जञोर्ज्ञः) । 'सारो मज्जानरि त्वक्स्त्री' त्यमरः । नरि पुंसि ।

२. मुह वैचित्ये (दि० प०) घञ् । वैचित्यमविवेकः ।

३. ददाति । दिश अतिसर्जने (भ्वा० प०) अतिसर्जनं दानम् ।

राजा - (पाँव छुड़ाकर) थोड़ी - सी जान- पहचान से ही (पुरुष के) अज्ञान द्वारा अपहृत (अज्ञानके वशीभूत) मन को आनन्द देनेवाली यह बालिका, बाद में अत्यन्त पीड़ा-दायिनी शत्रु की भाँति शोक देती है (अर्थात् शोकाकुल कर देती है)। साथ ही, हालाहल नामक भयंकर विष से पूर्ण अंगूर (द्राक्षा) की भाँति मधुर (मीठी) यह बाला जिस प्रकार देर तक डर देती है (डराती है), उस तरह यह कभी भी सुख नहीं देती ॥ १३ ॥

(हालाहल विष समुद्र मन्थन के समय निकला था। इसकी झरप से जब समस्त संसार भस्म होने लगा तो देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् रुद्रने इसे अपने कण्ठ में रख लिया, जिसके बाद वे नीलकण्ठ कहलाये।)

KING : (releasing his feet)
Woman gives joy to fools a little time,
But at the last doth bring them endless woe;
Sweeter than win her ripe lips seem to men;
Yet are more deadly than the venomed cup,
And thus they seek her whom they most should
shun.

अपि च -

धैर्यं ध्वंसयति श्रियं कवलयत्युन्मादयत्यान्तरं
पादे पातयति प्रयच्छति रतस्यान्ते च कुत्सामलम् ।
औन्निद्र्यं कुरुते विभाजयति च प्राणोपमैर्बन्धुभिः
सन्धत्ते जरसा युवानमपि तन्नारी क्व नारीयति ॥ १४ ॥

भानुमती - हा ! कहिं गताइं ताइं ताइं परप्परपरवसदाए विलसिदाइं। [हा ! कुत्र ! गतानि तानि तानि परस्पर परवशताया विलसितानि ।]

धैर्यमिति। नारी स्त्री क्व कस्मिन् विषये न अरीयति अरौ इवाचरति 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्' (पा० ३-१-१० वा०) इति क्यच् 'अकृत्सार्व

ति (पा० ७-४-२५) दीर्घः । सर्वत्रैवाखिवद्व्यवहरतीत्यर्थः । तथा हि धैर्य्यं धीरताम् (अविचलितस्वभावं) ध्वंसयति पातयति । श्रियं लक्ष्मीं (धनं) कवलयति शश्वन्नाशयति अन्तरेवान्तरं मनः उन्मादयति' उन्मत्तं करोति रतस्य सम्भोगस्यान्ते कुत्सां घृणाम् ''अलमत्यर्थं (बहु) प्रयच्छति ददाति । औन्निद्र्यं उद्गतनिद्रतां (सुचिरजागरां) कुरुते प्राणोपमैः प्राणतुल्यैर्बन्धुभिः पितृभ्रातृप्रभृतिभि र्विभाजयति विभक्तं करोति । किं बहुना युवानं तरुणमपि जरया वृद्धावस्थया सन्धत्ते संयोजयति । इत्येवमन्यदपि द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

और भी -

यह नारी धैर्य को नष्ट कर देती है, धन-सम्पदा को कवलीकृत कर (निगल) जाती है। मन को पागल बना देती है (अर्थात् चित्त में विकार उत्पन्न कर देती है), पैरों पर गिरा लेती है, रति के बाद खूब तिरस्कार करती है (रति के अन्त में पुनः रति की कामना समाप्त कर देती है अथवा घृणा उत्पन्न करती है अथवा निन्दनीय मल विशेष को देती है), निद्रा को समाप्त कर देती है (अथवा निन्द न आने देती है), प्राणसदृश (भाई-बाप आदि जैसे आत्मीय) बन्धुओं से दुश्मनी कराती है (अथवा उनमें विभेद उत्पन्न कराती है) । इतना ही नहीं, युवाओं को भी यह नारी बूढ़ा बना देती है। इसलिए नारी शत्रु की तरह कहाँ नहीं है ? (अथवा नारी शत्रु की तरह कहाँ काम नहीं करती है ? अर्थात् सर्वत्र करती है।) ॥ १४ ॥

भानु. - हा ! क़हाँ चली गईं वे सब परस्पर प्रेमालिंगन की क्रीड़ायें ? (प्रेमपूर्ण आमोद-प्रमोद की वे सब चेष्टायें कहाँ चली गयीं ?)

---

१. अत्यन्तसंयोगे द्वितीयार्थपञ्चम्यन्तमव्ययं चिरादिति - तथा चामरः 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इति ।

And again,

Thy valor she destroys, thy wealth she wastes,
Maddens thy heart, and makes thy foot to slip,
Then mocketh thee when thou hast done her will.
Thy kinsfolk, dear as life, she doth estrange,
And bringeth lusty youth to doddering age---
All this doth woman do, man's deadliest bane !

BHANUMATI :Alas, where have our caresses vanished ?

राजा -

प्रेयानेष ममागतः प्रियतमेयं मे पुरो वर्तते
दृष्टिः पङ्कजवृष्टिरस्य विसरत्यस्याः स्मितं चामृतम्।
प्रेमैतद्दृढमावयोरिह दवप्रायो वियोगो मना-
गेते नाशविपाकिनस्तरुणिमव्याधेर्महोपद्रवाः ॥ १५ ॥

देवतिलकः - राजन्! कथं यौवनं व्याधिरिति युज्यते ?

प्रेयानिति। एष मम प्रेयान् अतिशयेन प्रियः प्राणवल्लभः प्रियशब्दादतिशायने ईयसुनि 'प्रियस्थिरे' त्यादिना (पा. ६.४.१५७) प्रियस्य प्रादेशः। उगित्त्वान्नुमादिः। आगतः अस्तीति[1] शेषः। इति स्त्रियः प्रलापः[2]। इयं मे प्रियतमा प्राणेश्वरी पुरः अग्रे वर्त्तते। इति पुंसः प्रलापः। अस्य मत्प्राणवल्लभस्य दृष्टिर्दर्शनं पङ्कजस्य कमलस्य वृष्टिस्तद्वदानन्दप्रदेति भावः। अस्याः मत्प्रेयस्याः स्मितं नेत्रवक्त्रविकासि ईषद्धसितम्। यथाहुः -

'ईषद्विकसितैर्दन्तैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितम्।
अवेक्षितद्विजद्वारमुत्तमानां स्मितं भवेदि' ति।

अमृतं विसरति[3] अभितः स्रवति। इति पुंस आकूतिः। एवं परस्परम् आवयोस्तव मम चैतत्प्रेम स्नेहः 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः।

---

१. मदी हर्षग्लेपनयोरेव मित् तत्र 'मितां ह्रस्व' इति। (६-४-९२) ह्रस्वे मदयतीत्येव। इह तु चित्तविकारमुत्पादयतीत्यर्थे णिच्युपधावृद्धिः।

१. अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते इति कात्यायनवचनात्। अस्तिरसधातुः। भवन्तीति लटःप्राचां संज्ञा भुवोझिच् कृदिकारादिति ङीष्।

२. व्याधौ हि प्रलापोऽपि युज्यत एवेति भावः।

दृढं बलवत्[1] 'दृढः स्थूलवलयोरि' ति (पा. ७-२-२०) निपात। इहास्मिन्नवसरे (तारुण्ये) मनागल्पोऽपि वियोगोः दवप्रायो वनाग्निवत्सर्वतो दुःखप्रदः। इत्युभयोः। एते पूर्वोक्ता भावा [2]नाशविपाकिनो विनाशपरिणामिनस्तरुणिमव्याधेः तारुण्यरोगस्य महोपद्रवा भवन्तीत्यर्थः॥ १५॥

राजा - यह मेरा अतिशय प्रिय (व्यक्ति या प्रियतम) आया है, यह मेरी प्रिया सामने खड़ी है, कमल की वर्षा की तरह इसकी यह दृष्टि हमारे चारों ओर घूम रही हैं (मुझे आनन्द दे रही हैं), इसका हँसना या मुस्कुराना अमृत के समान है। हम दोनों का प्रेम अचल (मजबूत) है और थोड़ा-सा भी एक-दूसरे का बिछुड़ना दावानल की तरह लगता है। ये सब के सब अन्ततः समाप्त होनेवाली तरुणाईरूपी व्याधि के महान् लक्षण हैं (अथवा उस रोग के महान् उत्पात् हैं।) ॥ १५ ॥

(इसमें युवावस्था को व्याधिरूपा कहा गया है। साथ ही क्रमशः एक-एक करके नायिका और नायक के प्रलाप वर्णित हुए हैं। और अन्त में दोनों की स्थिति (मनोभाव) का वर्णन हुआ है।)

देव. - राजन्! युवावस्था को व्याधि से क्यों तुलना करते हैं?

KING : "One yet more dear than thou hath come to me;
As dew upon the lotus in his glance,
E'en though the smile doth seem ambrosia;
Strong was our love, but now a little while,
Fierce as the flames that through the forest rage,
Must be our pain of parting"---
Such the signs of youth's disease that endeth but in death.

---

१. बलशब्दोऽत्रार्श आद्यजन्तो बलवदित्यर्थकः। 'स्थूले बलवति चार्थे दृढ इतिनिपात्यत' इति।

२. कर्मधारयादपि मत्वर्थीयो लाघवानादरेण कृष्णसर्पवान्वल्मीक इतिवत्। तेन 'न कर्म्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकर' इतिवचनव्याकोपोऽत्र नोद्भावनीयः नाशश्चासौ बिपाकश्चसोऽस्यास्तीति विग्रहः।

DEVATILAKA : Sire, how is youth a disease ?

राजा- श्रूयताम्।

कामं दुर्विषहज्वरं जनयति व्याघूर्णयत्यक्षिणी
गात्राण्यूरुनितम्बगण्डहृदयान्युच्छूनयत्युल्बणम्।
तां तां दुर्विकृतिं करोति सुहृदो गाढं व्यथन्ते यया
व्याधिर्यौवनमात्मनाशनियतः के ते ग्रहण्यादयः ।। १६ ।।

भानुमती - (संवरणमभिनीय नेपथ्याभिमुखम्) हञ्जे वासन्तिए! उआणेहि कुमारं तं अग्गदो कदुअ अज्जउत्तस्स मोहं अवणइस्सम्। [हञ्जे वासन्तिके ! उपानय कुमारं तमग्रतः कृत्वार्यपुत्रस्य मोहमपनेष्यामि।]

राजा - (आत्मगतम्) इदमपि दुस्तरमापतिष्यति।
(प्रविश्य कुमारो मातुः समीपे तिष्ठति)

भानुमती - (बालं राज्ञः पुरो धारयित्वा सवाष्पोपरोधम्) अज्जउत्त! केण उण एस बालो रक्खणिज्जो ? [आर्यपुत्र ! केन पुनरेष बालो रक्षणीयः ?]

व्याधिरूपतां दर्शयति - काममिति। यौवनं तारुण्यम् आत्मनो देहस्य 'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि । चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि चे' ति धरणिः । नाशे नियतस्तत्परो[1] व्याधिः 'अस्ति, अस्याग्रे' इति शेषः। ते प्रसिद्धाः ग्रहणी[2] प्रवाहिकारोगः 'ग्रहणी रुक् प्रवाहिके' त्यमरः। तदादयो व्याधयः के नाम ? न केऽपि तेषामात्मनाशनियतत्वाभावात् कुत एतद् यतः [3]कामं यथेप्सितं (ईप्सितमनतिक्रम्य) यथा स्यात्तथा 'कामं

१. नियमतस्तत्करः ।
२. संग्रहणीतिनाम्ना प्रसिद्धः। प्रकर्षेण वहति बहुस्रवति गुदमस्यां सा प्रवाहिका। 'मलप्रवहणं प्रवाहिके'ति क्षीरस्वामी । 'रोगाख्यायां ण्वुल्बहुलमि'ति (३-३-१०८) ण्वुल् स्त्रियाम्।
३. क्रियाविशेषणमेतद्रोगपक्षे। अत एव द्वितीयान्तं क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वञ्चेत्यभियुक्तोक्तेः। फलविशेषणतया फलस्याऽपि व्यपदेशिवद्भावेन फलाश्रयत्वात्कर्मत्वमिति व्याकृतिविदः प्राहुः।

प्रकामं प्रर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितमि' त्यमरः। दुःखेन विशेषेण सह्यतेऽसौ दुर्विषहः स चासौ ज्वरश्चेति कर्मधारयः सः। तम् अथ च काममन्मथमेव दुर्विषहज्वरं तद्वत्सन्तापकरं जनयति उत्पादयति। 'जनीप्रादुर्भावे' (दि.आ.) णिच् 'जनिवध्योश्चे' ति (पा. ७-३-३५) उपधावृद्धिप्रतिषेधः। अक्षिणी नेत्रे व्याघूर्णयति। विशेषेणासमन्ताद्भ्रमयति 'घुणघूर्णभ्रमणे' (तु.प.) ऊरुर्जानूपरिभागः नितम्बः स्त्रियाः कटिपश्चाद्भागः गण्डः कपोलः हृदयं सामीप्यलक्षणयावक्षः स्थलमेतेषां [1]द्वन्द्वगर्भो द्वन्द्वः 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोरि' ति (पा. २-४-२६) नपुंसकत्वम् एतान्यूर्वादीनि गात्राणि उल्वणं प्रव्यक्तं 'स्पष्टं स्फुटं प्रव्यक्तमुल्वणमि' त्यमरः। यया स्यात्तथा उच्छूनयति। उच्छूनमुन्नतं करोति (किं बहुना) तां तां वीप्सायां द्विर्भावः दुर्विकृतिं दुष्टविकारं करोति यथा दुर्विकृत्या सुहृदः स्निग्धाः पित्रादयः गाढं नितान्तं 'तीव्रैकान्तनितान्तानि गाढवाढदृढानि चे' त्यमरः व्यथन्ते व्यथां प्राप्नुवन्ति॥ १६॥

राजा - सुनो -

अत्यन्त असहनीय कामज्वर को उत्पन्न करता है, आँखों को घुमाता है, जंघा-चूतड़-गाल-हृदयादि शरीर के अवयवों को प्रत्यक्ष (या पर्याप्त) उछालता है - इस प्रकार यह यौवन (विशेषकर नारी का यौवन) ऐसी-ऐसी शारीरिक विकृतियों (असामान्य कार्य) को उत्पन्न करता है; जिन विकृतियों से मित्रगण अत्यन्त दुःखी होते हैं, आत्मा को समाप्त करने में सदैव तत्पर यह व्याधि ही तो है। भला इसके आगे संग्रहणीय (दस्तों का रोग विशेष) आदि बीमारियाँ क्या हैं? (अर्थात् कुछ भी नहीं)॥ १६॥

---

१. गुरुश्च नितम्वश्चेत्येकः गण्डश्च हृदयं चेत्यपरः। द्वन्द्वः। तयोश्च पुनर्द्वन्द्वे बहुवचनोपपत्ति र्द्रष्टव्या अन्यथा प्राण्यङ्गद्वन्द्वत्वात् 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानामि' ति (२-४-२) नित्यमेकवद्भावप्रसङ्गः स्यात् स्वाङ्गसमुदायस्य स्वाङ्गत्वाभाववत्प्राण्यङ्गसमुदायस्य प्राण्यङ्गत्वाभावादिति भावः।

भानु. - (अपने को सम्हालते हुए, नेपथ्य की ओर देखकर-) अरी ! वासन्तिके ! कुमार को यहाँ ले आओ । उन्हें आर्यपुत्र के आगे करके इनके मोहको दूर करती हूँ।

राजा - (अपने आप) यह भी दुस्तर (कठिनाई से पार किये जानेवाला मार्ग) आ पड़ेगा !

(कुमार आकर अपनी माँ के पास खड़ा हो जाता है ।)

भानु. - (कुमार को राजा के सामने करती हुई, गद्गद् कण्ठसे) हे नाथ ! इस बालक की रक्षा कैसे होगी ? (कौन करेगा इस बालक की सुरक्षा ?)

KING : Hearken,

It causeth love, a fever hard to bear,
Maketh thine eyes to waver, swells thy frame
With passion, worketh every evil change
Whereat thy friends lament, because of her
Who bringeth this destruction on thy youth.

BHANUMATI : (Pretending secresy, toward the wings). Vasantika, bring our child here; put him before us and I will dispel my lord's madness.

KING : (aside) This will indeed be hard to bear !

(Enter the CHILD who stands near his mother)

BHANUMATI : (choking with sobs as she holds the CHILD before the KING). Sire, who now will rear this child ?

राजा - (वैराग्यशोकशबलमात्मगतम्)

भावाः सन्त्येवापरे जागरूका यैर्जीयन्ते वावदूका विवेकाः ।
पुत्रादेवत्राणमेषां कृतं चेत्किं कोऽप्यङ्क्षेदान्तराङ्क्षेतुमेतान् ।।१७।।

देवतिलकः - (विलोक्य सानन्दमिव) देव ! दीयतामत्र प्रतिवचनम् ।

वैराग्यशोकशबलम् । वैराग्यं च शोकश्च ताभ्यां शबलं चित्रम्[1]

---

१. चित्रशब्दोत्र नानारूपे कर्वुरे कोशे प्रसिद्धोऽप्यर्थवशात्पूर्वपूर्वोपमर्दन परपरोदये वर्त्तते तदुक्तं प्रदीपे शबलता तु कालभेदेन निरन्तरतया पूर्वपूर्वोपमर्दिनामिति ।

'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः [1]पुत्रशब्दार्थं विवेचयन्पर्यवसितमाह - भावा इति। अपरे अन्ये भावाः कामक्रोधादयो जागरूकाः स्वकर्त्तव्यपालेऽप्रमत्ताः सन्त्येव। यैर्भावै र्वावदूकाः प्रोद्धताः विवेकाः परस्परव्यावृत्त्या वस्तुस्वरूपनिश्चयरूपाः प्रकृतिपुरुषान्यतरख्यातिरूपा वा जीयन्ते अभिभूयन्ते 'जि ज्रि अभिभवे' (भ्वा.प.) कर्मणि लट् यक्। 'अकृत्सार्वे' ति (पा. ७-४-२५) दीर्घः। एषां मनुष्याणां पुत्रादेव।

'पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्त'।

इति भारतरामायणनिर्वचनादात्मजादेव त्राणमुद्धारः कृतश्चेत्तदा कोऽपि पुत्री आन्तरानन्तष्करणसमुद्भवानेतान्कामादीन् जेतुमभिभवितु - (व्वँशीकर्त्तुं) मश्चेदुद्युञ्जीत किं न कोऽप्युद्युञ्जीत। कामादयोऽहि विवेकमभिभूयप्राणिनं निरये पातयन्ति। निरयाच्च पुत्रादेव त्राणे निश्चिते कामादिजयाय महान्समुद्यमः पुत्रिणां विफल एवेति भावः॥ १७॥

राजा - (वैराग्य और शोक - सबल भाव से, अपने आप-)

(वैराग्यभिन्न काम क्रोध लोभादि) अन्यभाव जागृत (सतर्क) ही हैं, जिनके द्वारा बातूनी विचार (बकवादी सद्-असद्ज्ञान) पराजित होते हैं। इन मनुष्यों को यदि अपने पुत्र से ही त्राण (बचाव) हो जाता (मिल जाता) तो फिर कोई आन्तरिक भावों को जीतने के लिए प्रयास ही क्यों करता? ॥ १७॥

देव. - (देखकर, सानन्द की तरह) देव! उत्तर दीजिए।

KING : (filled with the pain of renunciation, aside)

---

१. पुत्शब्दो नरके नरकविशेषे वा वर्त्तते तस्मात्त्रायते त्राणं करोतीति पुत्रः। 'त्रैङ् पालने (भ्वा० आ०) कः। आतो लोपः। 'आदेच्' इति (६।१।४५) कृतात्वात् 'सुपी'तियोगविभागात् इत्येव पुत्रशब्दो व्याक्रियते व्याकृतिविद्भिः।

Sages there are indeed who are so great
That they may win Discrimination's bliss;
Yet if e'en they must guard 'gainst children's smiles,
How can I e'er suppress a father's love ?

DEVATILAKA : (almost joyfully). Sire, now answer !

राजा - पारक्यस्य रक्षणे को भारः ?

जन्तोः प्रत्यय एष यन्मम सुतः संपद्यते तत्कुतः
साक्षिण्यात्मनि तत्परेण जनितं देहेन देहान्तरम् ।
प्राक्कालेऽपि सतो भ्वेदपि कुतो जन्यत्वमप्यात्मनः
कस्मान्नित्यनिवृत्त एष जनको जायेत कायेतरः ॥ १८ ॥

जन्तोरिति । जन्तोः प्राणिनः 'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः' इत्यमरः । एष प्रत्ययो विश्वासः । यत् मम (मत्सम्बन्धी अयं) सुतः पुत्र इति । तत् तादृशप्रतीतिलक्षणं वस्तु कुतः कस्माद्धेतोः सम्पद्यते, न कुतश्चिदपि । यतः आत्मनि जीवे साक्षिणि [1]प्रेक्षकवदवेक्षमाणे (प्रकृतौ च सृष्ट्यर्थं समुद्यतायां सत्यां) ततश्चेतनात्परेण भिन्नेन जडेन देहान्तरमन्यद्देहं मयूरव्यंसकादि (२-१-७२) त्वात्समासः । जनितमुत्पन्नम् 'कायो देहः क्लीबपुंसोरि' त्यमरः । न त्वात्मा जायते । तथाच 'आत्मा वै जायते पुत्र' इति श्रुतावात्मशब्दो देहवचनः । 'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभाव' इंत्यादिधरणि (कोश) कारोक्तेः । अविद्यमानो हि कार्यरूपतया, जंायते अस्यात्मनः प्राक्कालेऽपि देहोत्पत्तिपूर्वक्षणेऽपि सतः[२] स्वेन रूपेण विद्यमानस्य जन्यत्वं प्रागभावप्रतियोगित्वरूपं भवेदपि कुतः ? नास्त्यत्र युक्तिलेशोऽपि। कस्माच्च नित्यनिवृत्तो नियमेन व्यापारपराङ्मुखः (प्रकृतौ सृष्ट्यर्थं समुद्यतायामुदासीनस्तटस्थ इव) (एष) कायेतरो देहभिन्न आत्मा जनकः

---

१. तथा च सांख्यम्
'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवेक्षकः स्वस्थः' इति ।

१. प्रत्यक्चैतन्येन ।

पिता 'तातस्तुजनकः पिते' त्यमरः। जायेत भवेत्। यो हि जननलक्षणं व्यापारं सम्पादयति स एव जनयतीति जनक इत्युच्यते। यद्वा जायते इत्यसौ जनकःप्रोच्यते। जनयतेर्जायतेर्वा ण्वुल् कर्त्तरि। 'जनिबध्योश्चे' ति (४-३-३५) वृद्धिप्रतिषेधः। न ह्यसौ जायते जनयति वेति कथं जनकः स्यात्तस्मादात्मा जन्यजनकभावातीतः पुष्करपलाशवन्निर्लेपोऽपरिणामी. चेतनश्च। प्रकृतिश्चाचेतना परिणामिनी चेत्येवं [1]सांख्यसिद्धान्तोऽत्र दर्शितः॥ १८॥

राजा - दूसरे की सुरक्षा में भार ही क्या है?

प्राणियों को यह भरोसा रहता है कि यह मेरा पुत्र है, परन्तु यह कैसे सम्भव है? क्यों कि ('मम' वाची) आत्मा तो साक्षी मात्र है, जबकि इस चेतना से भिन्न (किसी अन्य) देहसे ही देहान्तर (पुत्र) का जन्म होता है। (अर्थात् जो साक्षी है वह जनक नहीं, जो जनक है वह साक्षी नहीं; 'अहं' भाव आत्मवाची है और देह उससे भिन्न है। ऐसी स्थिति में पुत्र भी दूसरे के द्वारा ही उत्पन्न होता है, वह भी पराया ही है। जो वस्तु विद्यमान नहीं है, जन्म भी उसीका होता है, जो साक्षात् विद्यमान वस्तु है, अजर और अमर है, उसका जन्म क्या होगा? अतः) पहले-से ही विद्यमान आत्माका जन्म सम्भव नहीं है। आत्मा तो अविनाशी और नित्य है-इसका जन्म कैसे सम्भव है? साथ ही, शरीर-भिन्न यह आत्मा नित्य विरक्त (निवृत्त) है, फिर ऐसे विरक्त पदार्थ के द्वारा किसी दूसरे शरीर का जन्म कैसे होगा? (तात्पर्य है कि जन्म जनन - व्यापारजन्य होता है और आत्मा उस व्यापार से रहित है, फिर उस आत्मा के द्वारा जन्म कहाँ ?

---

१. तथाच सांख्यम् -

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्म्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्। इत्यादि।

अतः यह सब प्रलाप मात्र है कि 'यह मेरा पुत्र है' 'यह मेरी पुत्री है', आदि) ॥ १८ ॥

KING : Why be anxious for the protection of a foe?
Whence comes this knowledge of life's mystery
That now I see a second self in him ?
Oh, wherefore, since renunciation's won,
Should birth and death endure in weary round,
And I again beget myself to die ?

अस्तु वात्मनिष्ठ एवायं जन्यजनकभावः, तथापि -

विश्वं शश्वद्दैवरक्ष्यं न रक्ष्यं दैवारक्ष्यं वस्तु केनापि किंचित्।
विष्णुं हित्वा सर्वसत्वावितारं येनानीता विप्रपुत्राः प्रमीताः ॥ १९ ॥

आत्मनिष्ठः। जीवनिष्ठ एव न देहनिष्ठः। आत्मा चेतन एव हि जायतां नाम। यथाच प्रतियन्ति पामरा अविवेकिनः।

विश्वमिति। विश्वं भुवनं शश्वदभीक्ष्णम् 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः। दैवेन भागधेयेन (प्रारब्धेन कर्मफलेन) 'दैवन्दिष्टम्भागधेयं भाग्यमि' त्यमरः। रक्ष्यं रक्षणीयं भवति। सर्वेषां सत्वानां प्राणिनां (सत्वं द्रव्ये गुणे चित्रे व्यवसायस्वभावयोः। पिशाचादावात्मभावे बले प्राणेषु जन्तुषु) इति हेमचन्द्रः। अवितारं रक्षितारं विष्णुं श्रीमन्नारायणं देवं हित्वा वर्जयित्वा 'ओहाक् त्यागे' (जु.प.) कृत्वा 'जहातेश्च क्त्वि'-इति (७.४-४३) कृत्वादेशः। दैवेनारक्ष्यं वस्तु किञ्चिदपि केनापि वा न रक्ष्यं रक्षणार्हम्भवति। अपिरत्र देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते। स हि दैवमप्यन्यथा कर्त्तुं शक्नोति नान्यः। अत्र दृष्टान्ततयोपन्यस्यति - येनेति। ये न विष्णुना प्रमीताः मृताः 'मृतप्रमीतौ त्रिष्वेते' इत्यमरः। विप्रस्य सान्दीपनिनाम्नो ब्राह्मणस्यान्यस्य वा कस्यचन पुत्राः आनीता आनीयदत्ताः। एतत्कथानकं श्रीमद्भावते दशमस्कन्धे एकोननवतितमाध्याये द्रष्टव्यम्॥ १९ ॥

अथवा आत्मा में ही यदि इस जन्य-जनकभाव (पिता-पुत्र के बीच के सम्वन्ध) को मान लें, तो भी -

यह संसार बारंबार भाग्य से ही रक्षित होता है (रक्षा पाता है अर्थात् इसकी रक्षा दैव ही करते हैं), जिसे दैव रक्षा नहीं कर सकते ऐसे असुरक्षित पदार्थों की रक्षा, सभी प्राणियों के (जीवमात्र के) रक्षक भगवान् विष्णु को छोड़ कोई भी व्यक्ति (या देवता) थोड़ी-सी भी नहीं कर सकता, जो कि (भगवान् विष्णु) मरे हुए ब्राह्मण पुत्रों को ला दिये थे ॥ १९ ॥

(श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में ४५, ८५ एवं ८९ वें अध्यायों में क्रमशः सान्दीपनि, देवकी व ब्राह्मण के मृतपुत्रों को भगवान् के द्वारा जिलाकर लाने की कथा वर्णित है ।)

Grant I would produce new life, even so,
'Tis Fate alone that ruleth over all,
Nor lives the man who may avert its will,
If he leaves Vishnu, Lord of Truth above,
Or slayeth Brahmans bidden as his guests.

देवतिलकः - (बालं निर्दिश्य) हा ! कष्टमेतस्य-

आहूयान्तर्विसृमरसुखस्नेहसंदोहलोलं
चञ्चच्चोलं द्रुतमुपगतस्याङ्कमारोपितस्य ।
केलीलम्बामलकपटलीं पाणिनोन्नीय धूली-
लिप्तं हृष्यन्वसनदशया वक्त्रमुन्मार्जयेत्कः ॥ २० ॥

आहूयेति । अन्तर्हृदि विसृमरयोः प्रसरणशीलयोः 'सृघस्यदः क्मरच्' (३-२-१६०) इति संर्त्तेर्गत्यर्थात्क्मरच् । 'विसृत्वरो विसृमरः प्रसादी च विसारिणी' त्यमरः । सुखस्नेहयोः सन्दोहेन समूहेन लोलं सतृष्णं यथा स्यात्तथा । 'लोलश्चञ्चलतृष्णयोः (समूहो निवहव्यूहसन्दोहविसरव्रजा) इति चामरः । आहूय आह्वानं कृत्वा (अस्योन्मार्जयेदिति श्लोकान्तेन सम्बन्धोऽत

एव 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति (३-४-२१) क्त्वोपपद्यते चञ्चन्समन्तादुद्गच्छन् चोलः पट्टाख्यः केशः काकपक्ष इति वा यस्मिन्नुपगमनकर्मणि तद्यथा स्यात्तथा द्रुतं शीघ्रमुपगतस्य सम्प्राप्तस्य ततश्चाङ्कमुत्सङ्गम् 'उत्सङ्गचिन्हयोरङ्क' इत्यमरः। आरोपितस्य क्रोडे स्थापितस्येति यावत्। एतच्च एतस्य बालस्येति पूर्वगद्येनाभिसम्बध्यते। केलीलम्बां क्रीडानम्रां 'द्रवकेलिपरीहासाः क्रीडा लीला च नर्मचे' त्यमरः। 'कृदिकारादि' ति (४-१-४५ वा) ङीष्। अलकपटलीं भाललम्बिकुटिलकेशसमूहम् 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' 'समूहं पटलं न ने' इति चामरः। 'गौरादित्वात् (पा. ४-१-४१) ङीषि पटलीत्यपि। पाणिना हस्तेनोन्नीयोपरि नीत्वा हृष्यन्सन् धूलीलिप्तं वक्त्रं मुखं वसनदशया[1] वस्त्रान्तेन क उन्मार्जयेत्सादरं प्रोञ्छयेत् न कोऽपीत्यर्थः। यस्य राज्ञोऽस्यैतत्कर्त्तव्यमासीत्स चेदेवमुदास्ते तदान्यस्मान्न का प्रत्याशेति भावः ॥ २० ॥

देव. - (बालक को दिखाकर) हाय ! इस बालकको कष्ट है (अथवा इस अबोध बालक पर कैसा कष्ट आ पड़ा ?)

इस रेंगनेवाले, सुख और स्नेह की राशिं (समूह), दोदूल्यमान परिधान (अँगिया) बाले बालकको (अपने पास) बुलाकर, फिर शीघ्र समागत (दौड़कर आये) इस बच्चे को गोदी में लेकर, खेलते समय इसके लटकते - झूलते घुंघराले बालों को हाथ से पुचलाकर (सहलाकर) इसके धूलभरे मुखको अपने वस्त्रों की झालर से (या वस्त्रांशुक से) प्रसन्न होता हुआ कौन पोंछेगा ? ॥ २० ॥

---

१. यद्यपि 'दशावस्था दीपवर्त्योर्वस्त्रान्ते भूम्नि योषिती' ति मेदिन्यादिषु दशाशब्द एव वस्त्रान्तवाचकः तथापि 'विशिष्टवाचकपदानां सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यमात्रपरत्वमि' ति न्यायेन 'वस्त्रमाच्छादनं वासश्चैलं वस्त्रांशुकमि' त्यमराद्वस्त्रार्थकवसनपदसन्निधाने तस्यान्तमात्रवाचित्वमवसीयते। 'स कीचकैर्म्मारुतपूर्णरन्ध्रैरि' त्यत्र यथा।

(अबोधबालक, जो अपना हित- अनहित नहीं जानता, उस के लिए यहाँ 'रेंगनेवाले' पदका व्यवहार हुआ है। अर्थात् जिसे अभी खेलने-कूदने का, उछलकूद करने का समय है।)।

DEVATILAKA :(indicating the CHILD). Ah, pity him!
Yea, call him nigh, athrob with tender love,
His tiny garments fluttering in the breeze!
Oh, husband, King, who in the years to come
Will take this little child upon his knee,
And with his hand sweet with myrobalan
Wipe with his mantle's hem the dust-stained cheek
Of thy one babe who smiles on thee today?

राजा - (आत्मगतम्) कस्य नामैतादृशानि ललितान्यङ्कुशी भवन्ति हृदयस्य। (प्रकाशम्) मन्त्रिन्!

क्षणिकादाविलीभावाद्भावादेवंविधादपि।
निर्मलस्यात्मनः किं स्याद्दर्पणस्येव फूत्कृतात्॥ २१॥

कस्य नामेति। नामेति प्रसिद्धौ ललितानि हावाः स्त्रीणां क्रियाशृङ्गारभावजाश्चेष्टा हावभावा इत्युच्यन्ते। तथा चामरः -

स्त्रीणां विलासविव्वोकविभ्रमाललितं तथा।
हेलालीलेत्यमी हावाः क्रियाशृङ्गारभावजाः॥ इति॥

क्षणिकादिति। एवंविधात् विषयिभिर्दुर्निवार्यात्पुत्राद्य[१]ति स्निग्धविश्लेषरूपादपि भावात् जन्यत्वं पञ्चम्यर्थः। 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु। क्रियालीलापदार्थेषु विभूतिबुधजन्तुषु। रत्यादौ' चेति मेदिनी। क्षणिकात् क्षणमात्रस्थायिन आविलीभावात्कलुषीभावात्[२] (मालिन्यसंक्रान्दुःखसम्बन्धाच्च) 'कलुषं त्वाविले पापे'

१. तथा च नीतिः 'नचायत्यसमः स्नेह' इति।
२. यद्यपि कलुषशब्दः समक-पाप-वचनस्तथापीह पापमूल दुःखमप्युपलक्षयति। आत्मा हि क्षणिकेऽपि पुत्रादिस्निग्धविश्लेषे दुःखं मनुतेऽविवेकिन इत्याविलीभवति। फूत्कृत्या दर्पणन्तु मलिनं भवति।

इति मेदिनी । आविलोऽस्वच्छः । कुलुषोऽनच्छ अविल' इत्यमरात् । फूत्कृतात् फूत्करात् । निर्म्मलस्य रजोलेशमलापेतस्य दर्पणस्येव निर्म्मलस्य रागादिमलरहितस्यात्मनः किं स्यात् ? न किमपि । न तत्रैवं विधः क्षणिको भावो भवतोपनामितः किमपि चिरं विकर्त्तुं प्रभवेदिति भावः ॥ २१ ॥

राजा - (अपने आप) इस प्रकार के ललितभाव किसके हृदय के अंकुश हो रहे हैं ? (प्रकट में) मंत्रिवर !

जिस प्रकार फूँक मारने से दर्पण क्षणभर के लिए कलुष भावको प्राप्त हो जाता है (अथवा मलिन हो जाता है), उसी प्रकार इस पुत्रादि शोकरूपी भाव विशेष से इस निर्मल आत्मा के भी क्षणिक मलिन होने से क्या होगा ? (कुछ भी नहीं) ॥ २१ ॥

KING : (aside) Whose heart would such tricks move ?
Yon fleeting soul, defiled with sin and shame,
Would dull the lustre of my purity.

अपि च -

स्त्रीव्रंणान्नश्वरे रक्तरेतःक्लेदोद्गते च्युते ।
क्रिमावनाहितश्रद्धाः पुत्रे वद्धादराः कुतः ॥ २२ ॥

देवतिलकः - राजन् ! प्राधान्यतः स्वर्गसुखहेतवः पुत्रा इति तानाद्रियन्ते महान्तः ।

स्त्रीति । रक्तरेतसोः शुक्रशोणितयोः[१] क्लेदोन्मिश्रीभावादुद्गते उत्पन्ने स्त्रीव्रणात् वराङ्गरूपाच्च्युते निर्गते नश्वरेऽचिरस्थायिनि विनाशशीले क्रिमौ क्षुद्रकीटे 'क्रिमिर्न्नाकृमिवत्कीटे लाक्षायां कृमिले खरे' इति मेदिनी । 'द्रुमामये भवेत्पुंसि कीटे च कृमिवत्क्रिमिरि' ति रभसश्च । न आहिता स्थापिता अर्पिता वा श्रद्धाऽऽदरो यैस्ते 'श्रद्धादरे च काङ्क्षायामि' ति मेदिनी । पुत्रे विषये बद्ध आदरो यैस्तथाभूताः जनितोत्कण्ठाः कुतः स्युर्न्न कुतश्चिदित्यर्थः ॥ २२ ॥

---

१. अल्पान्तरत्वाच्छुक्रस्य पूर्वनिपातः । शोणितञ्च शुक्रञ्चेति समासः ।

और भी -

रक्त और वीर्य (रुधिर और शुक्र) के मिलने से नमी के द्वारा उत्पन्न और स्त्री-व्रण (स्त्री के घाव) से निर्गत (गिरे हुए) क्षणभंगुर (पलक झपकते ही नष्ट हो जाने वाले) कीड़े (क्षुद्र कीट विशेष) के प्रति यदि श्रद्धा नहीं दिखाई जाती है, तो फिर पुत्र में ही यह आदरभाव क्यों ? (जब कि दोनों की उत्पत्ति प्रक्रिया में समानता ही है। अतः पुत्र में भी अश्रद्धा किंवा अनादरभाव रखना चाहिए।) ॥ २२ ॥

देव.- राजन्! मुख्यतः पुत्र ही स्वर्ग-सुख के कारण होते हैं, इसीलिए महान् लोग भी उनका आदर करते हैं।

Nay, more,

What reek I of a son, a loathsome worm
Drawn from an ulcer folk call womankind ?

DEVATILAKA : Sire, the wise men say that sons are the highways to heaven's bliss.

राजा-

चिराचीर्णैर्दुःखैः समुदयति यन्नाशनियतं
तदाशङ्कादुःखैः स्थितमपि चिरं यद्व्यथयति।
विनाशे दुःखानां विधिरहह यत्तत्र विदुषा
सुखे स्वर्गादौ चेन्द्रतिरतितरां नापदि कुतः ॥ २३ ॥

चिराचीर्णैरिति। यत् स्वर्गादिसुखं चिरं बहुकालं (व्याप्य) आचीर्णैराचरितैरनुष्ठितै दुःखैर्दुःखबहुलतया तद्रूपै र्यागादिकर्मभि र्नाशेन नियतं नियमेन नाशविशिष्टं सत्समुदयति समुत्पद्यते। उत्पन्नं सत् स्थितमपि तस्य (तत्सम्बन्धिनो) नाशस्य आशङ्कया सम्भावनया 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवममुत्र कर्मचि (जि) तो लोकः क्षीयते' इत्यादिश्रुतेः। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ती' ति स्मृतेश्च। कुतो न। उभयोर्दुःखहेतुत्वाविशेषेऽपि

स्वर्गादिसुखस्यादावन्ते मध्ये च दुःखमेव। आपदस्तु मध्य एव दुःखं नाद्यन्तयोः तथाच स्वर्गादिसुखादापदेव श्रेयसीति भावः ॥ २३ ॥

राजा - बहुत दिनों तक दुःखों को सहने से उत्पन्न स्वर्ग आदि का सुख, प्राप्त (स्थित) होने पर भी उसके निश्चित नाश होने की आशंका और तज्जन्य प्राप्त दुःखों से भी बहुत दिनों तक मन व्यथित होता रहता है। स्वर्गादि सुख के अन्त (विनाश) होने पर तो वह मानो दुःखों का निर्माता (विधि-विधाता) ही हो जाता है। अहा! हा!! ऐसे त्रिकाल (प्राप्ति से पहले, प्राप्ति के बाद और जब तक प्राप्त रहता है तब तक) दुःखदायी स्वर्गादि सुख से अत्यन्त प्रीति रखने वाले विद्वज्जन विपत्ति में रति (अथवा विपत्ति से प्रेम) क्यों नहीं करते? (क्यों कि यह विपत्ति तो मात्र आने पर ही दुःख देती है, न तो आने से पहले, न जाने के बाद।) ॥ २३ ॥

KING : E'en pain's reward to pain's destruction tends,
Luring us on by false hopes to our doom;
But Fate is mighty to avert this woe,
And sages live but for the peace divine---
Thus seeming sorrow makes for greater joy.

अतएव एव कियन्ति दुःखंदुर्दिनानि कियती सुखखद्योतिकेत्युदाहरन्ति महान्तः। अपि च -

ब्रह्मानन्दघनाम्भोधेः कणाः स्वःप्रमुखं सुखम्।
क्षुद्रायास्मै न किं तस्मै हा स्पृहामावहाम्यहम् ॥ २४ ॥

देवतिलकः - हा! कष्टम्। राजाश्रितानां संपदादीनां कः प्रकारः?

ब्रह्मेति। स्वः प्रमुखं स्वर्गादिकं सुखं ब्रह्मानन्दघनाम्भोधेः ब्रह्मानंदौघसमुद्रस्य 'घनं स्यात्कांस्यंतालादिवाद्यमध्यमनृत्ययोः। ना मुस्ताब्ध्योघदार्ढ्येषु विस्तरे लोहमुद्गरे' इति मेदिनी। कणाः लेशाः

(जलविन्दव: सन्ति) अत्र विधेयप्राधान्यादसमानलिङ्गवचनता। क्षुद्राय निकृष्टाय 'क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे निकृ ष्टेऽल्पनृशंसयोरि' ति हैम:। अस्मै स्वर्गादिसुखाय स्पृहां लिप्सां (मनोरथं) 'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहातृड्वाञ्छा लिप्सा मनोरथ' इत्यमर: आवहामि करोमि। तस्मै ब्रह्मानन्दघनाम्भोधये किं न (आवहामि), हा इति खेदातिशये। 'हा विषाद्शुगर्तिषु' इत्यमर: ॥ २४ ॥

इसीलिए महानूव्यक्ति यह उदाहरण देते हैं कि संसार में दु:ख-दर्दरूपी कितने ही दुर्दिन आते हैं जब कि सुख के दिन जुगनूँ की भाँति होते हैं। (अथवा इस संसार में दु:ख-दर्दरूपी कितने ही दुर्दिन और जुगनूँ की भाँति कितने सुख को महान् लोग उदाहरण देते हैं।)

और भी -

स्वर्ग आदि का सुख तो ब्रह्मानन्द (ब्रह्म के स्वरूप के अनुभव का आनन्द अथवा ब्रह्मज्ञान से उत्पन्न आत्मसन्तोष)रूपी गहरे समुद्रका जलविन्दु मात्र है (अर्थात् उस समुद्रका मात्र एक जलकण है)। अतएव मैं इस क्षुद्र (अत्यन्त लघु) स्वर्गादि सुख के लिए हा! उस ब्रह्मानन्दरूपी सुख - सागर की कामना क्यों न करूँ ? (अर्थात् अवश्य करूँगा।) ॥ २४ ॥

देव. - हा! कष्ट है। राजा के पासकी इतनी बड़ी विपुल-सम्पदा का क्या होगा ?

So philosophers say : "How many the bitter days of sorrow, how great the blessed light of bliss !" And again,

Each drop in the vast ocean of Brahm's peace
Is joy whereby my soul doth pass to heaven;
Earth's poor delights my spirit craves no more.

Devatilaka : Alas, what will become of thy fortune and all besides that depends on the king ?

राजा-

अन्यं कंचिदुपाश्रयन्तु पुरुषं भोगोन्मुखं संपदः

कामक्रोधमदापदानि भवतां भूयांसि मामुज्झतः ।

(अञ्जलिं बद्ध्वा)

क्षन्तव्यं गुरुदैवतद्विजगणैः श्रौतान्निदेशादहं

विज्ञानेन विकृष्य निष्ठुरतरं नीये परब्रह्मणि ॥ २५ ॥

देवतिलकः - राजन्! एवमकिंचनस्य ते शरीरभरणमपि दुर्घटम् ।

अन्यमिति । सम्पदः सम्पत्तयः भोगोन्मुखं भोगाय प्रयतमानमन्यं कञ्चित्पुरुषम् उपाश्रयन्तु अवलम्ब्य तिष्ठन्तु । भोः कामक्रोधमदाः! भवतां भूयांसि पदानि स्थानानि 'पदं व्य सितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्वि' त्यमरः । (सन्ति यूयं) माम् उज्झत त्यजत 'उज्झ उत्सर्गे' प्रार्थनायां लोट् । गुरुश्च दैयतं च द्विजगणाश्च तैः क्षन्तव्यम् भवतां क्षमासमयोयं मदपराधस्य प्राप्तः 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्चे' ति (पा० ३-३-१६३) प्राप्तकाले कृत्य तव्यत्) प्रत्ययः । अहं विज्ञानेन 'अहं ब्रह्मास्मी' त्युपनिषद्वाक्यजन्यानाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितानुभवेन (कर्त्रा) श्रौतात् श्रुत्युक्तान्निदेशात् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादिविधि (आज्ञा) वाक्यात् विकृष्य आकृष्य निष्ठुरतरं निर्दयं यथा स्यात्तथा परब्रह्मणि चैतन्यघने परमात्मनि नीचे परवश इव नीतो भवामि । न ह्यहम् 'अक्षय्यं हि चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' अपाम सोमममृता अभूमे' त्यादिकां त्रैगुण्यविषयां पुष्पितां वाचमुपश्रुत्य तत्र न प्रसजामि, अपि तु जितचित्तस्सन् निस्त्रैगुण्यो भवामि । तत्र भव [1]दाज्ञाऽकरणलक्षणोऽपराधो ममसोढुं प्राप्तकाल इति भावः ॥ २५ ॥

राजा - यह सम्पत्ति भोगोन्मुख (सम्पत्तिके उपभोग करने के लिए उत्कण्ठित अथवा लालायित) किसी अन्य पुरुषका आश्रय

---

१. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुने'तिभगवदापरवशस्य मे भवदाशालङ्घनदोषो न प्रसजति ।

ग्रहण करें (अथवा उनके पास चली जाएँ, मुझे उससे क्या मतलब ?)। हे काम ! क्रोध ! मद ! आप सबोंके वहुत सारे घर (आवासस्थान अथवा अवस्थान) हैं (कृपया) मुझे त्याग दें (छोड़दें)।

(करबद्ध होकर)

गुरु-देवता और ब्राह्मणों के द्वारा मैं क्षम्य हूँ (अर्थात् वे मुझे क्षमा कर दें)। क्यों कि मैं (वेद और उपनिषद् के) विशिष्टज्ञान (अथवा उस विज्ञानवाद के द्वारा, जिसमें ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य प्रतिपादित किया गया हो) के द्वारा बलात् खींच कर कठिनतर- परब्रह्म में लिये जा रहा हूँ ॥ २५ ॥

देव. - राजन् ! इस प्रकार से अकिंचन (दरिद्र) बनकर तो आपको शरीर रक्षा करना भी कठिन हो जाएगा।

KING : Let Fortune dwell with him who longs for her;
From me both love and hate are passed away.

(Bows reverently)

Oh, pardon me, ye righteous Brahman host,
For that dark folly where I dwelt so long;
But now your wisdom slays mine ignorance
And guides my soul unto the Godhead's rest.

DEVATILAKA : Sire, this bearing is hard for any to sustain, even for thee !

राजा -

स्वच्छन्दाटनमात्रत: परगृहान्नानारसान्नादनं
कन्थाकोमलसंस्तरस्तरुघनच्छायासु वासक्रिया।
अश्रान्तिः सुखसंचरेण रुचितः शीतातपोपासनं
देहे यत्सुखमस्ति शान्तिसुलभं गेहे सतस्तत्कुतः ॥ २६ ॥

स्वच्छन्देति। स्वच्छन्देन स्वेच्छया 'छन्दोऽभिप्राय आशय' इत्यमरः। यदटनं तदेव तन्मात्रं तस्मात् 'पञ्चम्यास्तसिल्' (पा० ४-३-७) परगृहात्

नानाऽनेकविधाः रसा यत्र तथाभूतं यदन्नं तस्यादनं भक्षणम् । अथ च कन्था स्यूतकर्पटः कोमलः संस्तरः शय्या । तरोर्वृक्षस्य घनच्छायासु निविडानातपदेशेषु 'घनं सान्द्रे दृढे चे'ति मेदिनी । सान्द्रं निविडम् 'छाया सूर्यप्रियाकान्तिः प्रतिबिम्बमनातप' इत्यमरः । वासक्रिया निवासः । सुखेन संचरणं संचरो गमनन्तेन 'गोचरसंचरे'त्यादिना (३-३-११९) निपातः । अश्रान्तिः श्रमाभावः । रुचितः[१] रुच्यनुसारेण शीतातपयोरुपासनं सेवा । एवं शान्त्या सुलभं जनायासलभ्यं यत्सुखं देहे अस्ति । तत् गेहं सतो निवसतः (गृहिणः) कुतः ? न कुतश्चिदपीत्यर्थः । गृहिणो हि स्वाच्छन्द्यमेव दुर्लभं कुतस्तरान्तम्मूलकमनुपदोक्तमन्यदिति भावः ॥ २६ ॥

राजा - स्वेच्छा से घूमने मात्र से ही दूसरे - दूसरे घरसे मिले अनेक प्रकार के रसयुक्त अन्नोंका खाना, कथड़ियों से बने कोमल बिछौने पर सोना, वृक्ष की सघन छाया में रहना, सुखपूर्वक चलने से (गमनागमन करने से) थकान का अभाव, यथेच्छ (यथारुचि) अथवा इच्छानुसार सर्दी और गर्मी (ठंढ़ा और धूप) का सेवन (अर्थात् जब तक मन होगा शीत सेकेंगे, जब तक मन करेगा धूप सेकेंगे) - इस प्रकार के शान्तिदायक (अथवा शान्ति से ही मिलनेवाला) जो सुख देहमें प्राप्त है (अथवा शान्ति और सुख जो इस देहमें सुलभ है, प्राप्त है) वह भला घर में रहते हुए कहाँ ? ॥ २६ ॥

KING : Henceforth I'll wander where my fancy leads;
My food shall be bestowed by pious hands,
My hermit's cloak shall be mine only couch,
My dwelling 'neath the shadow of the trees.
The darkness of life's sorrow fades away
Before the brightness of the way of peace--
Through cold and heat my worship shall be His,
And even in this world I'll win to an joy;
How could such bliss come to on earthly home ?

---

१. तथाच तृतीयान्तात्तसिरत्र 'आद्यादिभ्य' इति (५-४-४४ वा०) बोध्यम् । स्वरेण स्वरत इतिवत् ।

अपि च अलमस्य भरणायासेन। पश्य -

आयुः कोऽपि कणो महारयवहानेहोमयस्रोतस-
स्तत्संबन्धमिदं वपुर्बत गतप्रायं मया लक्ष्यते।
एतत्तिष्ठति नाम तिष्ठतु पलं गच्छत्यलं गच्छतु
स्वात्मा केवलमेष निर्भरसुखाश्लेषः स्फुरन्नस्तु नः ॥ २७ ॥

आयुरिति। महान् यो रयो जबः (वेगः) 'रंहस्तरसीतु रवः स्यदः। जबः' इत्यमरः तस्य वहतीति बहः 'पचाद्यच् (पा० ३-१-१३४) तत्पूर्वकत्वं षष्ठ्यर्थः। तथा भूतोयोऽनेहा कालः 'कालो दिष्टोऽप्यनेहाऽपी'त्यमरः। तन्मयस्य तद्रूपस्य स्रोतसो महानदस्य 'स्रोतः स्रोतं महानद' इत्यमरटीकायां भरतः। कोऽपि कणो बिन्दुः। तेन सम्बद्धमिदं वपुः शरीरं 'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः। गतप्रायं गतमिव मया लक्ष्यतेऽवलोक्यते। विचारविषयी क्रियत इति यावत्। बतेत्यामन्त्रणे 'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे वते' त्यमरः। एतदायुः फलं निमेषमात्रं - तिष्ठति चेत्तिष्ठतु नाम 'अकर्मकधातुभिर्योग देशः काल' इत्यादिना (पा. १-४-५१ वा.) कर्मत्वात्तत्र द्वितीया (पा. २-३-२) गच्छतिचेदलं यथेच्छं गच्छतु। प्राकाम्ये (पर्याप्तौ) अत्रालं शब्दः। 'अलम्भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकमि'ति 'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सित' मिति चामरः। केवल एष निर्भरं नितान्त (मत्यन्त) य्यॅत्सुखं ब्रह्मानन्दरूपं तदाश्लिष्यत्यनुभवतीति निर्भरसुखाश्लेषः 'निर्भरं। तीव्रै कान्तनितान्तानी' त्यमरः। स्वः स्वीयोऽयमात्मा स्फुरन् रागाद्यनुपहतस्वभावो नितान्तं परिदीप्यमानो नोऽस्माकं विवेकिनामस्तु। नान्यत्किञ्चनाशास्यमस्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

और भी, इस शरीरके भरणार्थ प्रयास करना भी तो व्यर्थ है। देखो तो -

यह आयु अत्यन्त गति (रफ्तार या वेग) वाले (गतिशील) काल (समय) रूपी प्रवाह (धारा) का कोई कण

मात्र है (अथवा किसी जलविन्दु के समान है) और उस आयु से सम्बन्धित यह शरीर तो अहो ! मुझे नष्टप्राय (समाप्त की तरह) ही लग रहा है। यदि कदाचित् यह (शरीर) रहना ही चाहता है, तो कुछ क्षण के लिए रह ले। जाता है तो चला जाए, जो उसे उचित लगे (अलम्) करे। परन्तु हम विवेकी जनों की एकमात्र सुखानुभव करनेवाली किंवा ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने वाली यह अपनी आत्मा चमकती रहे। (यही अभिलाषा है।) ॥ २७ ॥

Moreover, enough of this burden's restraint ! Lo,
Life's but a drop in the vast stream of Time
That sweeps with mightly current on to death;
A little while it will abide with thee,
But when if fain would pass, ah, stay it not !

तथापि -

यामीमाज्ञां हा वयं भावयन्तो
भोगैस्त्याज्या एव राज्यादिभिश्चेत्।
न त्यज्यन्ते वञ्चयन्तः स्वयं ते
कस्मादेवं तावदस्माभिरेव ॥ २८ ॥

यामीमिति। हा इति खेदे वयं यामी यमसम्बन्धिनीमाज्ञां भावयन्तः भावनया स्मरन्तः सन्तो भुज्यन्ते विषया एभिरिति भोगाः (करणे घञ्) तै र्भोगसाधनैराज्यादिभिः त्याज्यास्त्यक्तुं योग्या एव चेद्भवाम स्तर्हि एवमुक्तप्रकारेण वञ्चयन्तः प्रलम्भयन्तः 'वञ्चु प्रलम्भने' (चु.आ.) स्वार्थे णिच्। अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यमिति कविप्रयोगात्परस्मैपदम्। ते राज्यादिभोगा अस्माभिरेव तावदादौ कस्मान्न त्यज्यन्ते ॥ २८ ॥

फिर भी -

यमराज की (निश्चित) आज्ञा को स्मरण करते हुए (ध्यान में रखते हुए) हम लोग यदि राज्यादि भोगपदार्थों के

द्वारा त्याज्य हैं (एक न एक दिन छोड़ ही दिये जाएँगे), तो फिर हा ! हमलोगों के द्वारा ही वे धोखा देने वाले (वंचक) भोग पदार्थ पहले क्यों न त्याज्य हो ? (अर्थात् एक न एक दिन जब यमराज की आज्ञा से ये भोगपदार्थ हमें छोड़कर जाने ही वाले हैं, तो फिर उससे पहले हम लोग ही इस धोखेबाज को क्यों न छोड़ दें ?) ॥ २८ ॥

Nay, more,

To him who hath attained to Wisdom's bliss,
The wealth and power of the world are naught,
Nor can their vanity deceive his soul
Who knoweth that their reign o'er him is done.

साभिनिवेशं चाकलय।

चित्रं चित्रमरङ्गवर्त्तिकमिदं निर्भित्तिकं शिल्पिनः
संकल्पस्य विकल्पनैर्विरचितं चिद्व्योमपट्टे जगत्।
दीर्घस्वप्नमिदं वदन्ति सुधियः केऽपीन्द्रजालं पुनः
प्राचुः केचिदथान्तरिक्षनगरीमेवापरे मेनिरे ॥ २९ ॥

गोरक्षः - साधु वत्स ! साधु। सर्वानपि निर्वाणशालिनो जीवानतिशय्य वर्तसे । मन्त्रिन् ! अलमनेनानिवर्तनीयनिवर्तनेन । अभिषिच्यतामयं राज्ये राजपुत्रः मयापि राज्ञा सह एतद्रक्षापक्षपातिनैव स्थेयम्।

देवतिलकः - (निःश्वस्य) यदादिशति भगवान् !

(भानुमती शोकविकलं परिदेवते)

गोरक्षः - देवि ! अस्ति ते भूयः स्वामिनोऽमृतीकरणसमये समागमः । (राजानं प्रति) राजन् ! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।

राजा - भगवन् ! अतः परमपि प्रियमस्ति ?

साभिनिवेशं साग्रहम् आकलय पश्य।

चित्रमिति । इदं जगद्रूपं चित्रम् । सङ्कल्पस्य मनोव्यापाररूपस्य 'सङ्कल्पः कर्ममानसमि' त्यमरः । शिल्पिनः क्रियाकौशलं

शिल्पन्तदस्यास्तीतिशिल्पी 'अत इनिठनावि' तीन् (पा. ५-२-११५) प्रत्ययः। 'यस्येतिचे' (६-४-१४८) त्यल्लोपः। तस्य शिल्पवतः[1] कारुभेदस्य 'कारिकर' इति प्रसिद्धस्य विकल्पनैर्विविधैः कल्पनैः (नानाभिः कल्पनाभिः) [2]अरङ्गवर्त्तिकं रङ्गेन वर्तिकया च विनैव निर्भित्तिकं भित्तिमन्तरैव[3] चिद्व्योमपट्टे चैतन्यरूपाम्बरफलके विरचितमस्तीति चित्रम् आश्चर्यम्। विस्मयोद्भुतमाश्चर्यं चित्रमपी' त्यमरः। तदिदं जगत् (कर्म) कोपि सुधियः दीर्घस्वप्नं वदन्ति। केचित्पुनरिन्द्रजालं प्रोचुः प्रोक्तवन्तः। अथ अपरे अन्तरीक्षनगरीं मायिकं गन्धर्वनगरमेव मेनिरे मन्यन्ते स्म॥ २९॥

ध्यानदेकर देखो -

यह ज़ो संसार है, वह संकल्प किये हुए किसी शिल्पी (चितेरा, चिंत्रकार) का ऐसा विचित्र चित्र है, जो बिना रंग और तूलिका (चितेरे की कूँची) का, बिना दीवार के इस आसमान की पट्टिका पर विविध कल्पनाओं से बनाया गया है। इस विचित्र चित्र को विद्वान्‌लोग दीर्घस्वप्न कहते हैं, पुनः कुछ लोग इन्द्रजाल समझते हैं और कुछ लोग इसे अन्तरिक्षनगरी ही मानते हैं॥ २९॥

गोरक्ष. - (राजा से) वाह! वत्स वाह! निर्वाणपद (मोक्ष) पाये हुए सभी जीवों से तुम बढ़कर हो गये हो।

(मंत्री से) मंत्रिवर! वैराग्य से कभी न लौटनेवाले व्यक्ति को पुनः वापस लाना व्यर्थ है। अब राजकुमार का इस राज्यसिंहासन पर अभिषेक करो। राजा के साथ मैं भी इसकी रक्षा का दायित्व लेता हूँ।

---

१. तथा चोक्तम् -
'तक्षा च तन्तुवायश्च नापितो रजकस्तथा।
चित्रकृच्चर्मकारश्च कारवः शिल्पिनो मता।' इति।

२. निर्गता भित्तिर्यस्मादिति विग्रहः।

३. रङ्गश्च वर्तिका च रङ्गवर्तिके अविद्यमाने रङ्गवर्तिके यत् तत्।

देव. - (निःश्वास लेकर) जैसी आपकी आज्ञा !

(शोकविह्वला भानुमती दिखाई देती है।)

गोरक्ष. - (रानी से) देवि ! निकट (भविष्य) में ही तुम्हारे स्वामी के अमृतीकरण (अमरत्व प्रदायक विधि विशेष) के अवसर पर पुनः तुम्हारा मिलन होगा। (राजा से) राजन् ! क्या अब भी तुम्हारा कुछ अभीष्ट बाँकी है, जिसे मैं पूरा कर दूँ ?

राजा - भगवन् ! क्या इससे भी बढ़कर कोई प्रिय हो सकता है ?

Consider yet again,

Strange is this motley world wherein we dwell,
A blot upon the tablet of the sky,
Born of the doubts of God the Artisan;
To some 'tis one long dream of agony,
While others call it by Delusion's name
Or e'en a phantom city of the clouds.

GORAKSANATHA : Good, my son, good ! Thou hast surpassed all souls that share in Nirvana ! Excellency, enough of this restraint of the irrestrainable ! Let this prince be consecrated to his kingdom. I shall uphold the king who favoreth its protection .

DEVATILAKA : (sighing). Then let your majesty give the commandment !

(BHANUMATI weeps, overcome with grief)

GORAKSANATHA : Lady, thou shalt be united with thy lord again in the instant of his immortality . (To the KING) Sire, can I do thee service more ?

KING : Sir henceforth all is well.

गोरक्षः - तथापीदमस्तु।

साधोः सिध्यंतु कार्यमृध्यतु चिरं राजा प्रजारञ्जना-

ल्लक्ष्मीरक्षतपक्षपातमधुरा भूयादुदारात्मनाम्।

त्वद्बोधापगमागतादथ सुहृत्सार्थात्सदर्थार्पणै-
रस्मिन्हारिहरी परीक्षितगुणा क्रीणातु गीर्गौरवम् ।। ३० ।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे) ।

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

इति महामहोपाध्याय - मैथिलवंशोद्भव-
श्रीमद्धरिहरोपाध्यायनिर्मितं भर्तृहरिनिर्वेदनाटकं सम्पूर्णम् ।।

साधोरिति । साध्नोति परकार्यमिति साधुस्तस्य साधोः 'कृवापाजिमिसाध्यशूभ्य उणि' ति (१-१३-४) उण् प्रत्ययः सभ्यजनस्य 'सभ्य सज्जन साधव' इत्यमरः । कार्यङ्कर्त्तव्यं (पुरुषार्थः)[१] सिध्यतु सिद्धि प्राप्नोतु । राजा[२] प्रजानां रञ्जनादनुरक्तकरणाच्चिरं बहुकालं व्याप्य ऋध्यतु वृद्धिम्प्राप्नोतु 'ऋधुवृद्धौ (दि.प.) सर्वत्रात्राशिषि लोट् । लक्ष्मीः उदारात्मनां महामनसाम् 'उदारोदातृमहतोरि' त्यमरः । अक्षतपक्षपातेन निरन्तराऽऽसक्त्या मधुरा मनोहारिणी भूयात् । अथास्मिन्नाटके परीक्षितः सञ्जातपरीक्षः । 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतजि' ति (पा. ५-२-३६) इतच्प्रत्ययः । गुणो यस्या स्सा हारिहरी हरिश्च हरश्चेति हरिहरौ विष्णुमहेश्वरौ तयोरियमित्यर्थे 'तस्येदं' (पा. ४-३-२०) इत्यण् प्रकृते हरिहरोपाध्यायसम्बन्धिनी गीर्वाणी नामकीर्त्तनरूपा । प्रकृतनाटकरूपा वा 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' त्यमरः । त्वद्बोधोपगमे त्वदीयशिवप्राप्तौ (तत्क्षणे) आगतात्सुहृत्सार्थात् मित्रसङ्घात्स काशात् 'सङ्घसार्थौ तु जन्तुभिरि' त्यमरः । सदर्थार्पणैः सतः सद्भूतस्यार्थस्य ब्रह्माद्वैतसुखबोधरूपस्य सदर्थस्य सद्धनस्येति ध्वनिः अर्थात् प्रदानैः । गौरवमहम्भावादि क्रीणातु क्रीत्वेवापहरतु ।। ३० ।।

इति मैथिलवंशोद्भव-(वख्शी) झोपाह्व-श्रीमुकुन्दशर्म्मकृतायां
भर्तृहरिनिर्वेदव्याख्यायां सुखबोधिनीसमाख्यायां पञ्चमोऽङ्कः ।।

---

१. धर्मोऽर्थश्चैवकामश्च मोक्षश्चेति चतुष्टयम् । पुरुषार्थं इति प्राहुस्तत्त्वज्ञान परायणाः ।। इति ।

२. राजते रञ्जयति वा प्रकृतीरिति राजा रञ्जयत्यर्थकाद्राजतेः कनिन् ।

मिथिलाभिजनस्य सत्कवेः करमाहाकुलकीर्त्तिकारिणः ।
प्रमुदे सुखबोधिनी सतां दरभङ्गानगरेऽथ वैक्रमे ॥ १ ॥
वसुतर्कनवेन्दु (१९६८) हायने गणनाथेन युते महीसुते ।
तपसि प्रगुणे दलेऽमले परिपूर्णा समभूदियं कृतिः ॥ २ ॥

गोरक्ष. - फिर भी यह (भरतवाक्य) सफल हों ।

धर्मात्माओं के कार्य (धार्मिक अनुष्ठान अथवा धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय के प्राप्त्यर्थ किये जानेवाले कार्यों) की सिद्धि हो, प्रजाकी प्रसन्नताओं से (अथवा प्रजाओं को प्रसन्न करते हुए) राजा दीर्घकाल तक उन्नति (बृद्धि) प्राप्त करें (अथवा अलौकिक शक्ति से सम्पन्न हो पूर्णत्व प्राप्त करें) तथा उदारचेताओं (उदारलोगों) के लिए (जो कि अपनी सम्पत्ति को दूसरों के उपकार में लगाते हैं, उनके लिए) लक्ष्मी अखण्ड आसक्त (निरन्तर अनुरक्त) होकर मनोरञ्जिनी (मनोहारिणी) होवें। साथ ही परीक्षित गुणोंवाली (परीक्षण के द्वारा सिद्ध गुणों वाली) इस हरिहर-सम्बन्धी (इसमें विष्णु और शिव से सम्बन्धित वाणियाँ हैं, अतः हारिहरी; दूसरे अर्थ में हरिहरकवि की वाणी अर्थात् हरि-हर-नाम कीर्त्तनरूपा वाणी अथवा हरिहर-कृत-प्रस्तुत नाटकरूपा वाणी) वाणीरूप सद्द्रव्य के प्रदान से (जो कि ब्रह्मात्मरूपी विज्ञान की प्राप्ति से मिला है), विज्ञान प्राप्ति के समय आये हुए कुटुम्ब सम्बन्धी (मित्रोपयोगी, तेरा-मेराभाव) विचार से सम्प्राप्त (जब सुहृत्-कुटुम्ब आदिका विचार होगा, तो मेरा -तेरा भाव भी निश्चित उत्पन्न होगा, अतः उससे प्राप्त) गौरव (अहंकार आदि) को खरीद लें । (अर्थात् अक्षय सज्ज्ञानरूपी धन प्रदान कर अहंभावरूपी वस्तु खरीदकर उसे नष्ट कर दें) ॥ ३० ॥

(सभी चले जाते हैं)

(परदा गिरता है।)

।। भर्तृहरिनिर्वेदनाटक की डॉ० उदयनाथ झा 'अशोक' कृत - 'जयन्ती' हिन्दी टीका गत पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ।।

GORAKSANATHA : So be it then !

May righteous deeds be blessed forevermore,
Long live our monarch in his subject's love,
Sweet fortune smile on every noble soul;
And while a host of friends, by wisdom won,
Applaud the virtues he hath writ herein
May this song of the bard Harihara
Find grace and favor with his audience !

(Exeunt omnes)

(END OF ACT V.)

Here endeth the play written by the noble Mm. Harihara Upadhyaya and entitled. The Renunciation of Bhartrihari.

• • • • •

उपसंहार

भर्तृहरि निर्वेद नाटक

(पं. वचनेशमिश्रकृत अनुवाद)

प्रथम अङ्क

(प्रस्तावना)

सवैया

नान्दी - शिर शीतलता हित चन्द्रकला
पुनि आतुर देव नदीहु धरै।
सोऊ अंग उतापहिं देखि डरै
पद हू न जटान ते नीच टरै ।।
पुनि प्रान तजे को पियो विषहू
डारि दाह ते ना हिय में उतरै।
शिव को सो सती को वियोग समै
सोई शान्ति सबै सुख मोद भरै ।।

सूत्रधार - बस बहुत बढ़ाने से क्या ?

ए हो ! त्रिभुवन वृक्ष के बीजभूत भगवान भूतनाथ भैरवेश्वर की यात्रा के सुलभ समाजिकों ! मै श्री हरिहर प्रणीत 'भर्तृहरि निर्वेद' नामक शान्तरस प्रधान नाटक को, जिसका पं.वचनेश मिश्र ने संस्कृत से हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है, खेलना चाहता हूँ। इसलिए आप लोग सावधान हों, जो कि -

आलम्बन तिय आदि उदीपन सखन सवाँरे
सिंगारादि रस छनिक विरसता लौं ठहरैया।
ब्रह्म द्वैत सुखात्म शान्त विश्रान्त दिवैया ।।

इसलिए अपनी घरवाली को बुलाकर इस खेल का आरम्भ करता हूँ। (नेपथ्य की ओर देखकर) प्यारी ! यहाँ आओ।

(नटीका प्रवेश)

नटी - आर्य ! मैं आयी।

सूत्रधार - प्यारी ! तुम उदास ऐसी क्यों जान पड़ती हो ?

नटी - बहुत समय तक तुम मुझसे बिलग रहे, इसीसे उदास हूँ।

सूत्रधार - क्या करूँ प्यारी ! ज्योतिषियों ने मेरे कुछ ग्रह अनिष्ट बतलाये थे, उन्हीं की शान्ति कराने के लिए जप करनेवालों को ठीक करने गया, वहाँ मुझे कुछ देर लग गयी।

नटी - अब तो ठीक है ?

सूत्रधार - अब क्या -

कर्मन की करि शान्ति अब मिल्यो तोहि मैं आय।
जैसे राजा भरथरी भानुमती सों जाय ॥

(दोनों जाते हैं)

इति प्रस्तावना

(अङ्कारम्भ)

स्थान - राज भवन

(उद्वेग के साथ रानी भानुमती बैठी है। परिचारिकाएँ इधर-उधर खड़ी हैं।)

(तुरन्त ही बाहिर से आये हुए राजा भर्तृहरिका प्रवेश)

राजा - (विचारते हुए) निश्चय यह मेरे विषय में यही सोचती होगी कि जब इस राजा का मन न तो जूए में लगता है, न शिकार का समय ही देख पड़ता है, और मित्रों की गोष्ठी का आनन्द भी कुछ नहीं है तो इसको आने में इतनी देर क्यों हो गयी ?

अवश्य ही किसी तीक्ष्ण चितवनवाली कोमलांगिनी की सुन्दरता के चमत्कार ने इसके चित्त को चुराया है। (अपवाद

के साथ) इसकी बहुत कालकी भूली सी मधुर मुस्कान और ऊँची भौंहें यह बतला रही हैं कि इसका चित्त निरवधि चिता चिन्ता से सन्तापित हैं। (प्रगट) प्यारी ! तुम उदास ऐसी क्यों जान पड़ती हो ?

(दोहा)

मोल लियो सो नित्य को, तोरे गुनन सुभाय।
हौं अनुचर तो तोहि का, चिन्ता रही तपाय ।।

(गान)

गुलाम मेरी प्यारी ! मैं तो हूँ तेरा गुलाम।

(आलिङ्गन करना चाहता है)

भानुमती - नहीं, स्वामी ! आपका यह कहना उचित नहीं, मैं ही आपके चरणों की दासी हूँ।

राजा - यह क्या कहती हो ? देखो -

मेरे घर की है निधी, कुल की है कल्यानसरी।
नैनों के सींचने की कल है सुधासार भरी ।।
तन को चन्दन मिलै कर्पूर के झरने की झरी।
सेज को शिल्प सुरत कल्पलता तू है अरी ।।
तेरे क्या गिनाऊँ नाम।
मैं नाम मेरी प्यारी ! मैं तो हूँ......

और देखो -

तेरे मुखचन्द्र की आँखों में चाँदनी छाई।
अंग में चन्द्रमणी है पायेब सरसाई ।।
पीयूँ कानों से तेरे बैन सुधा सुखदाई।
सैकड़ों पुन्य से मैंने यह निधी यहीं पाई ।।
इससे ज्यादा क्या श्रीपति के धाम।
के धाम, मेरी प्यारी ! मैं तो हूँ.....

भानुमती - नाथ ! यह तो झूठ ही है। नहीं तो तुम निर्मोह होकर इतने समय के लिए अनत क्यों चले जाते ? क्यों तुम नहीं जानते तुह्मारे वियोग का एक छन भी मेरे जीवन के लिए असहनीय है। (रोती है)

राजा - प्यारी ! चित्त सावधान करो । मुझे ज्योतिषियों ने कुछ ग्रह अनिष्ट बतलाये थे, उनकी शान्ति कराने भागीरथी के तट पर गया था। वहीं ब्राह्मणों की परतंत्रता से इतने काल तक बना रहा, कुछ निर्मोह होकर नहीं। देखो -

कैरबिन को जो सदा चन्द्रमाहिं भाता है।
चन्द्र भी उससे तो कब अपना कर हटाता है ।।
तो भी अन्तर जो उनमें कभी कुछ हो जाता है।
दोष इसका न अरी ! चन्द्रमा पै आता है ।।
प्यारी ! यह तो विधाता का काम।
है काम, मेरी प्यारी ! मैं तो हूँ......

भानुमती - तो भी वह कुमोदिनी का प्रेम कुछ और ही तरह का है। जिससे अपने प्यारे चन्द्रमा के बिना मुँह मूँद कर दिन बिताती है, या कि मेरी तरह ही फिर भी प्यारे के दर्शन की आशा से जीती है।

राजा - यह ठीक ही है -

प्रायः प्रीतम के बिरह से दुःखी प्रेमी जन की।
जान जाने से बचा लेती है आशा मन की ।।
वरना कमलिन या कभी भानुप्रभा बिन रहती।
या कि हिमकर बिना दिन एक कुमोदिन रहती ।।
प्यारी ! सच्चा है तेरा कलाम।
कलाम मेरी प्यारी ! मैं तो हूँ...........

(नेपथ्य में बाजे का शब्द। दोनों जलमार्ग से देखते हैं।)

राजा - (विस्मय के साथ) प्यारी ! आप जीतीं कि जो प्रियतम के वियोग में विरहानल सहने में समर्थ न होकर आग में प्रवेश कर जीती हैं और प्रेम की महिमा को बढ़ाती है।

आहा !

महिमा सतियों के कहा प्रेम की प्रकास करैं।
सेज फूलों की समझ जो चिता पै वास करैं।।
आग की ज्वाल मलै सी परस हुलास करैं।
काल से भी जो कुसुमतर सरिम विलास करैं।।

भानुमती - प्रीतम ! तो भी यह व्यवसाय प्रेम के तुल्य नहीं ही है, जो कि वह दहकती हुई विरह की आग को छोड़ चिता की आग में जलने जाती है।

राजा - (स्वगत) अहो ! इसके विचार बहुत चढ़े-बढ़े अथवा यों कहना चाहिये कि वाह री ! स्त्रियों की लच्छेदार बातें।

(दोहा)

बातन को बागुर सदृश, नारी जन फैलाय।
जुवकन हरिन समान ये, सहजहिं लैंह फसाय।।

(प्रगट) प्यारी ! इस विषय में तुह्मारा कैसा निश्चय है ?

भानुमती - निश्चय यही है कि तुह्मारे वियोग को मेरा हृदय नहीं सह सकता।

राजा - (स्वगत) अच्छा, तो इसकी परीक्षा लेनी चाहिए। अस्तु, अब शिकार का समय भी आ गया। (प्रगट) बहुत देर से सैनिक लोग शिकार के लिए मेरी राह देख रहे हैं। कहो तो जाऊँ, उससे निपट कर शीघ्र ही तुमसे आ मिलूँगा।

भानुमती - (आँसू भरकर) तो इसमें हमारा बस है ?

(राजा जाता है)

भानुमती - (आँसू बहाती हुई पीछे - पीछे चलकर) तो तब तक मैं द्वारे के खम्भे के सहारे खड़ी - खड़ी आपकी राह देखूँगी।

(दोनों जाते हैं)

द्वितीय अङ्क

(प्रवेशक)

स्थान-राजमार्ग

(विलाप करती हुई दासी का प्रवेश)

दासी - (छाती पीटती हुई) हाय ! हाय ! मैं अभागिन मरी। हाय ! गजब हो गया।

(दूसरी दासी का प्रवेश)

दुसरी - सखी ! महलों में यह क्या हल्ला हो रहा है ?

दासी - (विलाप करती हुई) बहिन ! हम सबको सुख देनेवाली, दुःख - सुख में सुध लेने वाली, कामनाओं की कामधेनु महरानीजी महाराज के बाघ से मारे जाने की झूँठी खबर सुनके चल बसीं।

दुसरी - (काँपती हुई, आँसू भरकर) हाय ! हाय !! यह झूँठी खबर किस अभागे ने उड़ाई ?

दासी - राजा की सलाह से उन्हीं के पास से आयके एक आदमी ने कही। पीछे से उसने इस खबर को झूँठ भी बतलाया, पर रानी ने न माना।

दोनों - (बहुत करुणा के साथ) हाय !

प्यारे को झूँठो मरिबो सुनि तैं ने प्राण गँवायो हो।
प्रेम निबहिबो कठिन कहत सब झूँठों तिनही बनायो हो॥

(नेपथ्य में कलकल)

दोनों - (कान देकर) क्या अब महारानी नगरी से बाहर लाई जाती है और वह आदमी शिकार से लौटे राजा के पास जाता है ? तो अब हमें भी पहिले ही रानी के साथ चलकर अपने को निरदोषी बनाना चाहिए।

(दोनों जाती हैं)

इति प्रवेशक।

स्थान–नगर का बाह्यप्रान्त

(परिजन के साथ राजा का प्रवेश)

राजा - आज मेरी बाईं आँख न जाने क्यों फड़कती है ?

नर अपने जिस हित–अनहित को जान नाहि पावै।
अचरज है जन–अंग उसी को पहिले से बतलावै ।।

(चिन्ता और उद्वेग के साथ) निश्चय, हमने जो रानी को कहला भेजा है, उसके बुरे परिणाम ही को यह सूचित करता है।

पिय बिहीन निज प्राण तजन को प्रनयाकुल हिय माहीं।
कोमलांगिनि के निहचय ध्रुव यामै संशय नाहीं ।।
या गुन मैं जो भ्रमवश मैंने दोषारोपण कीनो।
तौं अब या को फलहु जथोचित पाऊँ मैं मति हीनो ।।

(दुराख्यायी पुरुष का काँपते हुए प्रवेश)

पुरुष - पृथ्वीनाथ ! महारानी की.......(कण्ठ रुक जाता है)

राजा - (उद्वेग के साथ) महारानी की, क्या ?

पुरुष - महाराज ! आपकी आज्ञा से मैं ने जाकर कहा कि महाराज को बाघ ने मार डाला, इस सम्बाद को सुनते ही......

राजा - (खेद और वितर्क के साथ) क्या महारानी की चित्तवृत्ति मूर्च्छा के अन्धकार में डूब गयी ?

पुरुष - आपकी राह देखती द्वार के खम्भे के सहारे खड़ी हुई ही....

राजा - (गदगद स्वर से, आँसू भरकर) अरे ! तू क्या कहना चाहता है ? क्या मुझ अभागे के लिए तीनों लोक अन्धकारमय हो गये ?

पुरुष - हाय ! क्या कहूँ महाराज ! महारानी की निश्वास सदैव के लिए निसर गयी।

(राजा मूर्च्छित होकर भूमिपर गिड़ता है)

पुरुष - (राजा को उठाकर) महाराज ! सावधान हों।

राजा - (कुछ होश में आकर)

मृगनैनी की साँस, निसरि गई नहि देह ते।
जीवन लोक हुलास, गयो भरथरी गेह ते ।।

(पृथ्वी पर मूर्च्छित हो गिड़ता है, परिजन लोग सम्हालते हैं)

राजा - (देर से होश में आकर) हाय ! क्या अब वे ललित विलास नष्ट ही हो गये ? क्या वह चितवन उन नेत्रों को छोड़कर चली गयी ? क्या वह मन्द मुस्कानवाली मधुरवाणी भी बदन से विदा हो गयी ? हाय ! क्या अब मैं उन्हें कभी देखने को न पाऊँगा ? (उत्कण्ठा से) कहो ! महारानी कहाँ हैं ?

पुरुष - राजन् ! मैं ने लोगों को नगर से बाहिर लाते हुए देखा था।

राजा - (खेद के साथ) क्या बन्धुजन रानी को चिता में जलाने का विचार रखते हैं ? (उन्माद के साथ घुमकर सक्रोध) हाय ! हाय !! ऐसा न किया जाय -

मंजु सिरिष की केसर की सिखा से
तन पे चित लाइबो चाहिए।
ताहि न धुम मै ज्वालन अंचिता
काठ चिता पे पराइबो चाहिए ।।
मेरे ही अंकन लाय इसे
मम बाहुन ही सों दवाइबो चाहिये।
देह या मेरे सनेह सनी
मम काम की आग जराइबो चाहिये ।।

(घुमकर और देखकर) क्या ! इसी श्मशान में मेरी प्राणेश्वरी है ? हा धिक् ! हा कष्ट ! जहाँ सियार चिता से अधजली लाशों को खींचकर होआ-होआ की भयानक ध्वनि मचा रहे

हैं, उससे भयभीत गृद्ध चारों ओर से घेरे बैठे हैं और नाक को फाड़नेवाली दुर्गन्धि, आँखों को फोड़नेवाला धुआँ और अन्धकार छाया है। हाय! उसी भस्मधान श्मशान में मेरे घर की लक्ष्मी का शरीर रक्खा गया है?

(मूर्च्छित होकर गिरता है)

(नेपथ्य में कलकल)

परिजन - (राजा को सम्हालकर) स्वामी! सावधान उठिये। देखिये, आपको शोक से विहाल देखकर आपके यह सब बान्धव लोग रो रहे हैं।

राजा - क्या बान्धव लोग जानते हैं भर्तृहरि अभी जीता है? सुनो, जिस प्राणेश्वरी ने मेरा झूठा मरना सुनकर प्राणों को तृण समान परित्याग कर दिया, उसीका सच्चा मरना भी सुनकर जो अभागा भर्तृहरि जीता है, तो उसे जीता मत जानो। (नेपथ्य की ओर देखकर, करुणा के साथ) प्यारी! यह क्या है?

कुंकुम की चोटहुँ ते होति जो मलिन कान्ति
हारहुँ के भार-श्रम पाय सिथिलात री।
सिसिर के सूर हू को आतप लगेते अहो
तेरी जो ये देह सुकुमारि मुरझात री॥
हाय! हाय! सोई चिता भसिता चिता पे जौन
दारुन महान दुर दारु भरि खात री।
गहन दहन जोर ज्वालन के जाल बीच
रोकत न कोई यह काहे धरि जात री॥

परिजन - (नेपथ्य की ओर देखकर) यह क्या! मंत्रिवर देवतिलक आ रहे हैं?

(मंत्री देवतिलक का प्रवेश)

देवतिलक - महराज! सावधान हों।

राजा - हाय ! कैसे सावधान होऊँ ?
मेरी सावधानी और सुख तो मुझ अभागे को यहीं छोड़कर उसी प्राणेश्वरी के साथ चला गया। हाँ, उसके अनुरात इन प्राणों को धिक्कार है, जो अब तक नहीं गये। हाय ! न जाने दुर्दैव इनको किसलिए रोके हैं। देखो, मंत्रिवर ! मैं ने आप ही अपनी प्रियंतमा के प्राण लेकर अपने को विपत में डाला -

(विहाग)

हाय ! मैं ने लीन्हीं विपत बुलाय ।।
आपुहिं खोदि कूप मैं मुख आप गिरयो भहराय।
अहिपति कोगहि चुम्बन कीन्हों निज हाथन मूँह बबाय ।।
अपनी ही तलवार हनी हा ! अपनेहिं दया विहाय।
आपु जाय घर भीतर सोयो द्वारे आग लगाय ।।

देवतिलक - राजन् ! बहुत अधिक दुःख का कारण मन है, महात्मा लोग उसको रोक ही कर स्वस्थ होते हैं।

राजा - हाय ! उस कमलनैनी में अणुमात्र भी अवगुण होता, तो भी यह मन उसकी ओर से हटाया जा सकता अथवा उसके से गुण तृण भर भी कहीं पाये जाते तो भी चित्त सावधान हो सकता।

देवतिलक - राजन् ! तो भी आपत्ति में धैर्य ही का अवलम्बन करना चाहिए।

राजा - हाँ ! मुझ धिक्कृत को इस प्रकार के वियोग में ऐसे धैर्य ही से क्या... (शवदोला देखने का नाट्य करके उन्माद के साथ) प्यारी ! प्यारी !! तू धन्य है, जो इस स्नेह के अगाध समुद्र के पार हो गयी। शोचनीय मैं हूँ, जो अपने ही हृदय से उत्पन्न इस घोर मोह में डूब रहा हूँ। हाय प्राणवल्लभा !

तकदीर हाय ! क्या से यह क्या दिखा रही है
तेरे वियोग में भी मुझको जिला रही है।

अब ही मेरे मदन की मंगल कला मही थी
अब हाय प्यारी ! तू ही मुझ को जला रही है ।।
सुख भोग में अभी मैं उन्मत्त हो रहा था
अब हाय ! जिन्दगी भी मुझको न भा रही है ।
मेरे बिना तुझे तो कल थी न एक पल की
अब तू ही छोड़ि मुझको परलोक जा रही है ।।

नेपथ्यसे - महाराज ! महारानी की दग्धक्रिया की आज्ञा दीजिये ।

राजा - (कान देकर) नहीं, नहीं । ऐसा न किया जाय । (क्रोध के साथ) बान्धव लोग क्यों मेरी इच्छा के विरुद्ध काम करने को उद्यत हो रहे हैं ?

देवतिलक- राजन् ! इस प्रकार का हठ न करना चाहिये ।

राजा - बस यही हठ है । मुझ अभागें को छोड़कर जो तुम लोग प्रिया के शरीर को अग्नि में रखते हो तो मैं भी अपने हृदय को रोकने में असमर्थ होकर उसी में प्रवेश करता हूँ । (उन्माद के साथ चिता की ओर दौड़ता है ।)

देवतिलक- अरे दौड़ो, सब लोग चलकर राजाको पकड़ें ।

(सब जाते हैं । परदा गिरता है ।)

तृतीय अङ्क

(विष्कम्भक)

स्थान-मार्ग

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कंचुकी - (गिरकर कम्पित वाणी से) हाय ! एक तो बुढ़ाई दूसरे शोक से ऐसा काँप रहा हूँ कि लठिया से भी सहारा नहीं मिलता है। क्योंकि -

एकतो सहज बुढ़ाई तापै।
स्वामी सोचन से तन काँपै ॥
तेंहि मेटन हित सोच करारो।
कैसे पाऊँ हाय ! सहारो ॥

(कष्ट से उठकर) जोगी ने जो राजा का शोक दूर करने का वचन दिया है उसे मंत्री जी को जाकर बताऊँ (घुमकर और देखकर) क्या, यह मंत्रीजी ही आ रहे हैं ?

(मन्त्री देवतिलक का प्रवेश)

देवतिलकः -(चिन्ता के साथ स्वगत) आहा ! इन राजा - रानी का परस्पर प्रेम - गुण से बँधा कैसा अमुख्य शोक है कि जो इनके मरने के सिबाय और किसी तरह दूर होते नहीं दिखाई देता।

कंचुकी- (पास जाकर) मंत्रीवर ! योगीश्वर ने राजा का शोक दूर करने की प्रतीज्ञा की है।

देवतिलक- (आनन्द से) बहुत अच्छा, तो अब चलकर राजा और योगी का दर्शन करूँ।

(दोनों जाते हैं)

(विष्कम्भक समाप्त)

(उन्माद के साथ राजा का प्रवेश)

राजा - ए प्यारी ! काशीराजनन्दिनी !

प्रीतम का मरना सुनते ही, अपना प्राण गँवाया री।
तीनों लोकों पर तैं ने यह, नारी यश पहुँचाया री ।।
शोचनीय यह देह है जो, मैंने ना अब दई बिसार।
युवकों के अपयश का डङ्का, यह मैं कैसे सकूँ निवार ।।

इसीसे मैं यह चाहता हूँ कि प्यारी के शरीर को गोद में लेकर उसी के ध्यान में अपने प्राण परित्याग करूँ। जिससे दूसरे जन्म में फिर उसीका पति होऊँ।

नेपथ्य में - (रोते हुए दादरा)

हाय ! हाय !! कहना गई मेरी तोम्बी ?
हाय दई ! तेरी काह बिगारो,
जो तूने फोरि दई मेरी तोम्बी
हाय ! हाय !! कहना गई मेरी तोम्बी ?

राजा - (नेपथ्य की ओर देखकर) निश्चय यह भी कोई बेचारा मेरी ही तरह दारुण दुःख का मारा रो रहा है। चलकर देखूँ तो... ।

(चलता है, पीछे-पीछे परिजन घुमते हैं।)

राजा - (देखकर) क्या यही योगी अपनी तोंबी फूटने के शोक से गिरता-पड़ता आ रहा है ? अच्छा तो इसे समझाना चाहिए।

(योगी का प्रवेश)

योगी - हाय ! हाय !! कहना गई मेरी तोंबी.....

(इत्यादि फिर रोता हुआ गाता है)

राजा - योगी जी ! धैर्य धारण करो।

योगी - हाय ! कैसे धीरज धरूँ ?

दूर देश यात्रा की साथिन, बहुगुन प्रेममयी।
कैसे धीर धरौं रे भाई ! छिन में नाश भयी ।।

राजा - (करुणा के साथ स्वगत) हा !

नसे अल्पहूँ प्रिय विषय सोच करत को नाहिं।
कहा होय मेरी तरह ऐसी आपति माँहिं ।।

तो भी योगी को समझाना चाहिए। (प्रगट) योगी जी ! इस नष्ट वस्तु के लिए ही इतना शोक क्यों करते हो ?

योगी - तुम कैसे निष्ठुर हो जो ऐसो बचन बोलो हो ? क्या तुम या के गुणों को नहीं जानो हो ?

राजा - भला, इसके गुण क्या - क्या हैं ?

योगी - हा ! कोन - कोन से गुन गिनाऊँ, कुछेक कहूँ हूँ -

कण्डिया बीनने को आग के ले आने को
भीख लेने को उसे पकाने को।
खाने-पीने को सिरहने कभी लगाने को
और भी काम अनेकों सदा कराने को ।।
चिन्तामनी थी भई ! मेरी तोंबी
कहना गई री ! तोंबी ।।

राजा - ठीक है -

प्यारी वस्तु के गुणों को योगी !
कोई कहाँ तक सके गिनाय।
सकल सुखों के कारण उसमें
प्रेम देव रखता है लाय ।।

तो भी किसी वस्तु के नष्ट हो जाने पर जब उसको किसी उपाय से फिर नहीं पा सकते तो सन्ताप करने से ही क्या प्रयोजन ?

योगी - हाय ! बड़े सन्ताप की बात तो या है कि मैंने ही याकी पुढ़ाई देखबे को याहि पटक दिया, जाते या फूट गयी।

राजा - (सखेद) ठीक है, जो अपनी प्यारी वस्तु को आप ही नाश करे तो सचमुच ही बड़ा सन्ताप होता है।

किसी तरह हो नष्ट अनोखी
वस्तु तो होवे मोह हिये।
आपी करै जो नाश तो क्षण भी
वह हताश किस भाँति जिये॥

(आँसू विमोचन कर धैर्य से) तो भी प्रिय - अप्रिय वस्तु का संयोग-वियोग कराने में भगवती भवितव्यता ही समर्थ है, इसमें मनुष्य का क्या दोष है ?

(योगी राजा की बात पर ध्यान न दे तोंबी के खपटों को छाती से लगाकर रोता है।)

राजा - योगी ! अधिक रोने से क्या लाभ ? मैं आपको इससे भी बढ़कर मिट्टी की वा चान्दी-सोने की तोंबी दूँगा।

योगी - (कानों पर हाथ रखकर) अरे बाबा ! सोने - चान्दी की तोंबी ले के क्या करूँगा ? जब मिट्टी की तोंबी ही नाश होने पै इतना अनर्थ करै है, तो फिर चान्दी-सोने की न जाने क्या करे। देखो-

मद ग्राह घूमत-फिरत जहँ
भय मकर गण कलवल करैं।
तरलिम तरंग उतङ्ग उठती
द्वेष भँवरहुँ बहु परैं॥
अस भयो मोहि अनर्थ जलनिधि
तनिक सो यह अर्थ ही।
एती बड़ी आपत्ति होय तो
डूब ही मरिहौं सही॥

राजा - (निर्वेद के साथ)

एक से एक बढ़कर गुण में
मिल सकें और वस्तुएँ अनेक।
पै जिसमें मन लगा करैं
परिताप प्रेमवश वह हीं एक ।।

योगिन् ! मनुष्य जो यह समझता है कि अमुक वस्तु मेरी सबसे अधिक प्यारी है, इसका कारण उसकी सुन्दरता नहीं, वल्कि किसी गुण की अपेक्षा न करनेवाला स्नेह ही इसका मोह धन है।

योगी - अरे अजान ! केवल स्नेह ही नहीं, वरन् इस तोंबी के बने रहने से शरीर की रच्छाहू होती।

राजा - अच्छा तो कितने काल तक यह तोंबी बिना नाश हुए बनी रहती ? यदि कोटि कल्प, सौ कल्प, कल्प भर अथवा आधे कल्पभर भी इसकी स्थिरता होती तो इसके लिए शोक करना क्या है। और फिर शरीर की रक्षा करने वाली समझकर सन्ताप करना भी निष्प्रयोजन है। क्यों कि -

इस शरीर की यह हितकारी वस्तु विलग हो जाये जो।
होती है सन्ताप हेतु हा ! यह सब मन ही का भ्रम तो ।।
तन से ही इस सब विपदा का सम्बन्ध तो दुर्जन्मी तन से।
दो-तीन ही पल पानि औ जल का जोग भी तो है भ्रम से ।।

योगी - तो लोग अप्रिय वस्तु को छोड़ प्रियवस्तु को प्राप्त करने का क्यों जतन करे हैं ?

राजा - भ्रम से। देखिये -

जहाँ में दुःख सुख सब में बराबर ही दिखाता है।
य प्यारा औ य बेप्यारा फकत भ्रम से कहता है ।।
विषय प्यारा सुखी करता है जितना अपने रहने पर

चले जाने पै उतना ही बिरह उसका सताता है।
विषय बेप्यारा वैसे हीं दुःखी करता है रहने पर
चले जाने पै वह उतना ही खुशी को बहुत बढ़ाता है।।
उजली औ अँधेरी है बराबर पाख दोनों में।
मगर इक तो अँधेरा एक उजियाला कहाता है।।

योगी - यह मैं भी अच्छी तरह जानू हूँ, पै उपाय बिना किये मेरे हृदय को दुःख हीं होय है।

राजा - यदि यह वस्तु विचार इसका अलम् नहीं है तो और कौन उपाय हो सकता है ?

योगी - इसका उपाय मरनो ही है। जो इस तोंबी को छाती से लगाकर इसीके ध्यान में मरुँगो तो दूसरे जन्म में फिर इसको पाऊँगो।

राजा - (हँसकर) यही महामोह संसार का मूल है जिसके द्वारा इस तरह के दुःखमय दुर्भाव मन में उत्पन्न होते हैं।

योगी - (उच्चस्वर से हँसकर)

औरों को उपदेश देन में मूढ़ को ज्ञान घनेरा।
दिया और को करे उजेरा अपने तरे अँधेरा।।

(राजा विलक्षणता से नीचा शिर करके सोचने लगताहै)

योगी - राजन्! क्या सोच रहे हो ?

राजा - भगवन्! सोचता क्या हूँ। आपने मेरे ही वाक्यों से मुझे उपदेश देकर मेरे शोक को दूर कर दिया।

योगी - ऐसा ही हुआ, मैं भगवती विन्ध्यवासिनी के दर्शन करके लौट रहा था, इतने में तुम्हारा यह वृतान्त सुनकर तुम्हारे प्रबोध को सत्वसुलभ करुणाभाव से जगाया।

राजा - तो मैं समझता हूँ कि आप गोरखनाथ जी महराज हैं।

योगी - ठीक ही है।

राजा - भगवन् ! धन्य हैं, आपने मुझको इस अन्धकूप से निकाल लिया।

(पावों पर गिरताहै। गोरखनाथ उठाता है)

राजा - (हाथ जोड़कर) गुरुवर ! अब आप ऐसा उपदेश करें जिससे फिर कभी ऐसे अनर्थों में न पड़ूँ।

गोरखनाथ- राजन् ! तेरी चित्तभूमि इस दारुण दुःख प्राप्ति के हल से जुत चुकी और वस्तुविवेक के जल से सिंच भी चुकी है, इसीलिए अब विज्ञान बीज बोनेके योग्य ही है। सुन-

हुई है यह संकल्प से सारी सृष्टि देख ले नैन उघार।
जो इससे चाहे छुटकारा तो इसकी मूल उखार ॥
दिशा काल से अवच्छिन्न नहिं जो है ब्रह्म सच्चिदानन्द।
उसी तत्व का कर विचार तो पावेगा पद परमानन्द ॥

राजा - भगवन् ! मैंने अब आशा की परम्परा वाले संकल्प त्याग किये। वाह ! वाह !

खिलने तलक अमोद जिनका मोह दिशि दिशि में करै।
जिनके फलों का स्वाद नित ही प्राण लोगों के हरै ॥
वे जंगली विष बेलि ऐसी सकल आशा वेग ही।
जीती निरास से वाह वा अब मोक्ष ही आगे रही ॥

अब तत्व का चिन्तन किस तरह किया जाय ?

गोरखनाथ- विषयों से मन हटाके अपना शून्य में जु अटकाओगे।
तो उस स्वयमानन्द आतमा स्व-प्रकाश को पाओगे ॥

राजा - बहुत अच्छा। निर्जन उपवन को किसी एकान्त स्थान में जाकर एकाग्र चित्त से इसी का अभ्यास करता हूँ।

(सब जाते हैं)

इति तृतीयोऽङ्कः

चतुर्थ अङ्क

स्थान - उपवन

(देवतिलक का प्रवेश)

देवतिलक - (आनन्द के साथ) योगीराज अब राजा को जो श्मशान से उपवन में ले आए यह उन्होंने बड़ा उपकार किया, तो अब मैं भी वहीं चलूँ (घुमकर और देखकर) आहा ! राजा योगी के साथ बैठे किस तरह ध्यान लगा रहे हैं। निश्चय राजा महाशोक में डूबे हुए हैं इसी से इनकी बाहरी इन्द्रियाँ बन्द हैं। अथवा-

को नाशक है शोक दवारि जगावन हार विभावनि को।
जो विनु रोके इन्द्रिन नीके सुखी शान्त होवे तनिको॥

राजा - (ध्यान छोड़कर सात्विकी विकार का नाट्य करता हुआ आनन्द के साथ) भगवन् ! विज्ञान सुख का कुछ - कुछ आस्वाद तो मालूम हो रहा है।

गोरखनाथ- अभ्यास से पूर्णानन्द भी प्राप्त होगा। समयानुसार मैं तुझे अष्टाङ्ग हठयोग का उपदेश भी करूँगा।

राजा - भगवन् ! अब यह बर मुझे प्राप्त हुआ। (पाँव पर गिरता है)

देवतिलक- (आनन्द के साथ) राजा योगी के उपदेश से शोक रहित होकर आनन्दित से देख पड़ते हैं। तो अब यह अच्छा अवसर है (पास जाकर) महराज ! महरानी के अग्नि संस्कार की आज्ञा होनी चाहिए।

(राजा मौन रहता है)

देवतिलक- राजन् ! उत्तर दीजिए।

राजा - (विहँस कर) अब अवसर जाता रहा। क्योंकि -

मोह की निद्रा में जितना सोना था वह सो चुका।
मत वृथा छेड़ो मुझे अब होना था वह हो चुका॥

मै हूँ राजा तू है मंत्री यह मेरी रैयत सभी।
इस मृषा ममता में जीवन खोना था वह खो चुका।।
प्रेम करके इस क्षणिक धन - धाम ओ जन वाम पै।
व्यर्थ में दुनिया का रोना-रोना था वह रो चुका।।
शोक हल से जोते उस भू पर हुई वर्षा विवेक।
बीज श्री गुरुमंत्र उसमें बोना था वह बो चुका।।
अब तो आज्ञापन करें बस आप ही या राजपुत्र।
मैं तो इस शासन का बोझा ढ़ोना था वह ढ़ो चुका।।

देवतिलक- (योगी से) योगिन् ! बिच्छू के दंश का विष काले साँप से कटाकर दूर करना तो ठीक नहीं।

गोरखनाथ- मंत्रिवर ! उलाहना देने से क्या प्रयोजन। राजा के चित्त पर शोक के कारण जो वैराग्य छा गया है उसके दूर करने का यत्न करो। मैं भी तुम्हारा साथ दूँगा।

देवतिलक- (राजा से) राजन् ! यह क्या है ?

काहे राज न प्रभु मन भायो।
चारु पाक नवनीत ज्ञान को दारुण ओज बनायो।
सूप संवलन साधु सुघृत सो तुमहिं न रुचि उपजायो।।

राजा - कहां न ! अब अवसर निकल गया।

अब तो राज न मो भन मायो।
दुसह व्याल विष से प्रदोष ज्वर अन्तर दाह बढ़ायो।
तासु विकार वमन ते थकि मैं होश-हवास गँवायो।।
मुक्त अजीरन रस प्रयुक्त अब विरत युक्त आत्मायो।
क्यों न त्यागिवे जोग राज है घृत ज्यों सहद मिलायो।।

देवतिलक- श्रीमान् ! इतनी संचित सम्पति भी आपके चित्त को क्यों नहीं लुभाती ?

राजा - औरों के प्राणो को दुःख देने से हाथ में आती है।
अपने प्राणों को दुःख दे इसकी रक्षा की जाती है ।।
थोड़ा खर्च भी आ पड़ने पर प्राणों को ये सताती है।
जाती लेकर प्राण नष्ट यह सम्पति हमें न भाती है ।।

देवतिलक- हा ! जिस अधन्य निर्धनता को कोई भी पसन्द नहीं करता उसे आप चाहते हैं।

राजा - चोरों से नहि शंक हिये भय नहिं है कुछ भूपति-गन से।
दुष्टों से नहि द्वेष है इसमें अपरितोष नहिं परिजन से ।।
हो अधन्य निर्धनता मेरी धन्य तुम्हारी धनताई।
बिजली सा सुख भोग चाहने वालों को जो मनभाई ।।

देवतिलक- महराज ! सुख से प्राप्त और सब प्रकार से हृदय को आनन्द देने वाली इस पृथ्वी का आप क्यों अनादर करते हैं ?

राजा - यदि यह पृथ्वी मुझ से प्रेम रखती तो मैं इसका क्यों अनादर करता। पर देखो -

यह है पिरथी पतुरिया काहु की न हाय !
तन मन धन से प्रीति करै चाहै प्राणँहु देय गँवाय।
ऐसी महाकठोर अहो ये तनिक तरस नहि खाय ।।
एक पुरुष की गोद में बैठी एक को रही लुभाय।
नये नये पुरुषों को चाहैं नये रमण के चाय ।।

और भी -

नित पालत है चित दै मतिहिन मही न करै कछु प्रीत हिये।
बरु बाजिन के खुर ताडन ते यह बीरन सों रहे बैर किये ।।
पुनि बेगहिं वे अपने प्रिय प्राण गवाँवत हैं रण या के लिये।
तबहूँ यह द्वैष भरी तिनकी मृत घायल देह को खून पिये।

देवतिलक- राजन् ! अनेक जन्मों के पुन्य से राजपद मिलता है। भला इसे भी कोई त्याग करता है ?

राजा - (विहँस कर)

क्या राजा होने के भय से रोग पास नहिं आते हैं।
दर्प तेज से शोक भगे या शंकट शंका खाते हैं ।।
या यम जानि महेश जीव लेने में देर लगाते हैं।
क्या प्रभाव रखता है राजपद जो ऐसा बतलाते हैं ।।

देवतिलक- हा ! कष्ट, यह रोते हुए बान्धव आपसे कैसे छोड़े जाते हैं ?

राजा - जो अच्छे बान्धव हैं वे किसी को भी अपना परलोक सुधारते देखकर प्रसन्न हीं होते हैं और जो दूसरी तरह के हैं वे -

नाश देखकर रोते हैं औ मन ही मन हुलसाते हैं।
बृद्धि समय में गाते हैं पर हिये घोर दुःख पाते हैं ।।
सम्पत सुख में विहार करते पीछे बुरा बताते हैं।
ये ही हैं जब बान्धव तो फिर दुश्मन कौन कहाते हैं ।।

देवतिलक- राजन् ! यदि ऐसा ही है तो यही बान्धव अथवा शत्रु जब इस पृथिवी पर आक्रमण करेंगे तब कैसे सहा जायेगा ?

राजा - चाहै जो हो सभी हमको गँवारा।
गया व्यामोह वह अब तो हमारा ।।
हमारा यह औ हम इसके हैं कोई।
यह झुठा हीं समझना है तुम्हारा ।।
है किसका कौन सुतहित बन्धु बैरी
ये मन के मर्म का सारा पसरा।
सभी के वास्ते धरती बनी है
हमारा खास इसमें क्या इजारा ।।
कोई लेवे इसे परवाह क्या है।
उसे क्या सोचना जिसे बिसारा ।।

देवतिलक- (सखेद) हाय राजलक्ष्मी ! तु नष्ट हुई।

राजा - यह अनर्थों की खानि नष्ट ही है, देखो-

हुई सिन्धु से ले जल की गति कालकूट की करुआई।
बडवानल की उष्मलता औ लहरों की चंचलताई ।।
छूई भी न क्यों सुरतरु की त्यागिता सुधा की मधुराई।
परलोचन प्रियता न चन्द्र की यह श्री पापिन है भाई ।।

और भी -

पतित हुये नृप नहुष राज से बलि से राजा गये पताल।
गुरु तिय चाहीं चन्द्र इन्द्र गौतम नारी पर हुए बिहाल ।।
और भी सब संसार सिंधु लहरों में डुबे ही सब काल।
लै लक्ष्मी को गोद हुआ है पार कौन माई का लाल ।।

देवतिलक- जो कुछ हो, परन्तु परलोक के हितकारी देवों की आराधना करने के लिए राजलक्ष्मी ही परमोपयोगी है, इसलिये यह अनर्थों की खानि नहीं, बल्कि सदथर्थें की मूल है।

राजा - जिन भगवान नारायण की आराधना सच्चिद्वोध मात्र से होती है उनके विद्यमान होने पर दूसरे देवता के पूजने ही से क्या प्रयोजन ?

प्रिय प्यारी को जार से दावानल को चिनगारी से क्या।
चन्द्र-उदय में जुगनू से राजा को करुणाहारी से क्या ।।
कुटों से क्या गंगा को सुधा भोजी को मूरि सेवन से क्या।
घट में स्वात्माराम प्रगट तो अन्य देव पूजन से क्या ।।

देवतिलक- राजन ! ऐसा हीं हो तो भी जवानी में विषयो को भोगकर अन्तिम अवस्था में जब तृष्णा जाती रहे उस समय आपके लिए विज्ञान सुलभ होगा।

राजा - (विहँस कर)

भ्रम ही से नर कहैं विषय ये मुझसे भोगे जाते हैं।
नहीं तो करके भोग कहो वे तृप्ति क्यों नहीं पाते हैं ।।

मेरे मत में ऊख सदृश पुरुषों को विषय ही खाते हैं।
खूब चूसकर बिरस वृद्ध खोई की तरह बहाते हैं॥

अब तृष्णा का हाल सुनिये -

यारो दिल दिवाने की तृष्णा नहीं जाती,
नहीं जाती, नहीं जाती।
फिर-फिर मज़े उड़ाने की तृष्णा नहीं जाती,
नहीं जाती, नहीं जाती।
बल बीज गवा के हुए बेहाल व बेकाम
बाला के गले लाने की तृष्णा नहीं जाती,
नहीं जाती, नहीं जाती।
कँपते हैं बुढ़ापे से न उठने की रही ताब,
कुछ और भी जी ज़ाने की तृष्णा नहीं जाती,
नहीं जाती, नहीं जाती।
कंगाल से राजा हुए राजा से महराज,
धन और अधिक पाने की तृष्णा नहीं जाती,
नही जाती, नहीं जाती।
ज्वानी गई औ आँखें गई कान गये दाँत,
तैयारी है जाँ जाने की तृष्णा नहीं जाती,
नहीं जातीं, नहीं जातीं।
केशों का कालापन दृग की ज्योति दसन की दृढ़ताई।
इनकी ग्राहकता आयुष की दीरघता तन तरुणाई॥
इसी तरह निःशरण अन्य वर्गों के विभव खाती हैं।
जराजार पराभूत जनों की तृष्णा बढ़ती जाती हैं॥

देवतिलक- हा कष्ट! योगीराज यह क्या ढंग है?

गोरखनाथ- राजन्! आओ जिस रानी के वियोग से तुम्हें वैराग्य हुआ है

उसको अपने योगबल से जिलाकर तुम्हें मिलाऊँ और तुम्हारे निर्वेद को दूर करूँ।

(राजा का हाथ पकड़ कर जाता है)

देवतिलक- (आनन्द से) तो मैं भी यहीं कहीं एकान्त में बैठूँ।

(सब जाते हैं)

इति चतुर्थोऽङ्क

पञ्चम अङ्क

स्थान-कछार

(एकान्त में मर के जी हुई भानुमती और राजा का प्रवेश)

भानुमती - प्यारे ! इस समय मेरे अंग निर्बल और ढ़ीले पड़ रहे हैं सो मुझे सम्हालिये। (आलिंगन करना चाहती है।)

राजा - (हाथ से मना करता हुआ) अलग ही।

भानुमती- (विलक्षणता के साथ) प्यारे ! क्या तुम मुझसे विमुख हो ?

राजा - विमुख हूँ कि नहीं विमुख हूँ ?

भानुमती- जब मेरी देह को छुना भी नहीं चाहते हो तो विमुख नहीं तो क्या हो ?

राजा - मुझे यह निश्चय हो गया है कि आप मेरे मरने पर अपने प्राण त्याग देती हैं, इसलिए अब मैं अजर-अमर भाव को प्राप्त करना चाहता हूँ।

भानुमती- (त्रास के साथ स्वगत)

निश्चय, यह मुझे छोड़ने ही की इच्छा से इस तरह कहते हैं। तो हाय ! इससे इन्हें कैसे रोकूँ ! अच्छा तो (कोप से चंचल और तिरछी दृष्टि से राजा की ओर देखती है।)

राजा - (स्वगत) क्या इस चंचल कमलनैनी के यह वही कालकूट से कटु कुटिल - कटाक्ष है कि जिनसे मन छणमात्र में मोह के

अन्धकार - कुहर में डूब जाता था। अहा ! तरुणियों के यह भावभंगुर कटाक्ष यदि मन में पूरी तरह से जम जाये तो बेचारा विवेक क्या कर सकता है।

भानुमती - (आनन्द के साथ स्वगत) अब तो प्रीतम अनुकूल से जान पड़ते हैं। (मुसकाकर तिरछी दृष्टि से देखती हैं।)

राजा - (आँखें हटाकर) बस, अब अधिक तिरछी से देखना व्यर्थ है।

जब लौं यह घेरे रहै, मसी तामसी वृष्टि।
तबहीं लौ हिय हारिनी, मृगनैनी की दृष्टि ।।

भानुमती- (आँसू भरकर) हा देव ! यह क्या हो रहा है।

राजा - यही कि -

अब तो मैं सदा शम्भु की धुनी जगाऊँगा।
लाखों जतन करो न मैं फन्दे में आऊँगा ।।
भौ भंग करके देखो या तिरछी चित्तौन से।
इस झूठी बनावट से मैं न धोखा खाऊँगा ।।
बस हो चुका आलाप मधुर हो चुका विलाप।
मन नाशवान वस्तु में अब न लगाऊँगा ।।
भय खा के भारी शोक से रस स्वाद छोड़कर।
मन मर गया, कहो उसे कैसे जिलाऊँगा ।।

भानुमती - प्यारे ! ऐसा ही है तो जनक आदि की तरह घर में रहकर भी आपको विज्ञान सुलभ है।

राजा - नहीं, नहीं, वे जनकादि महात्मा अनेक जन्मों की सिद्ध की हुई जीवनमुक्त अवस्था में थे। मेरी तरह कच्ची बुद्धि वालों के लिए यह रीति ठीक नहीं, इसलिए -

गुरु ने निकाला जो मन घर अंधकूप से।
संसार पथ पे चल न फिर उसको गिराऊँगा ।।

क्योंकि घर में रहकर मैं जानता भी था तो भी सम्यक् आचरण न कर सका, बल्कि -

इष्ट वस्तु को नष्ट होते ही हमने पाया बारम्बार।
फिर पाने की आस उसी में चित्त लगाया बारम्बार ॥
उन्हीं उन्हीं कर्मों को कर मर्मों को सताया बारम्बार।
इसी तरह घर में रह कर दुःख भार उठाया बारम्बार ॥

हाय ! मुझे धिक्कार है -

हाय ! निज करतब चीन्हि न पायो ॥
मैं मतिमन्द न आपु तप्यो, तप औरन ही को तपायो।
जोरि - जोरि धन भरयो कोष पै दरी कोष न समायो ॥
दोष कमायो पै न शान्तिमय दोषै सुखन बितायो।
अच्युत मोह रह्यो नितही पै अच्युत को नहिं ध्यायो ॥

(मुँह फेर कर चलता है).

भानुमती – अरे धूर्त ! मुझे छोड़कर कहाँ जाते हो ?

(राजा का वस्त्र पकड़ती है)

(राजा कपड़े छोड़कर चलता है रानी बाँह पकड़ती है।)

राजा - (खड़ा होकर क्रोध से) अरी अनर्थों की खानि ! तू नसों से लपेटी घने बालोंवाली भयावन चमड़े की गुदड़ी में खाखी हुई हाड़ मांस और चरबी की गठरी है कि जिसके भीतर मल भरा है। तू जैसी घृणित और दुष्परिणामों की खानि है उसे मैं कहता हूँ, सुन -

जो घिन के जोग हैं उससे कहो हम घिनन खायें क्यों।
नरक की रूप नारी है, हम उससे दिल लगायें क्यों ॥
कलश सोने की कहने को असल में मास के लोदे।
उन्हें हाथों से छूने को हम अपना जी चलायें क्यों ॥

बदन बिल हाड़ चमड़े का भरा कफ थूक ही उसमें।
उसी को पान कर-कर के सुधारस हम बतायें क्यों ।।
हवा आने औ जाने की या काया धौंकनी है जो।
उसे कह प्रेम की मूरत गले से हम लगायें क्यों ।।
यह है मलमूत की भाजन जो नारी नाम से जाहिर।
उसी का हाय बन कीड़ा वृथा जीवन गँवायें क्यों ।।

(हाथ छुड़ाता है)

(भानुमती रोती हुई राजा के पाँव पर गिरती है)

राजा- (खेद के साथ स्वगत) अहा ! विषय भी कैसे दुर्जय है ?

इन्द्रिन को पाषान, बज्रसार मन बिनु किये।
का पुरुषारथ आन, विषय जीतिवे के लिये ।।

(देवतिलक का प्रवेश)

देवतिलक- (स्वगत) राजा कुछ मंथर से हैं। इस अवसर पर मुझे उपस्थित होना चाहिये। (पास जाकर) (प्रगट) राजन् ! अब तो श्रीमती पर अनुग्रह होना चाहिए। हा ! आप इनका प्रणय सुख कैसे त्यागते हैं ?

राजा - (रानी से पैर छुराकर)

हरि अबोध ते हियो कछुक आनँद उपजावै।
विपुल विरसता विधुर अंत में मोह बढ़ावै ।।
बाला है विषमय मधुक की मदिरा ये तो।
जे तो दुःखनित देई न कैसहु सुख तेतो ।।
दारा दारुण दुःख की खानि,
इसने कहाँ न वैर सम्हारा ।।
धीरज नासै तेज गरासै, करै चित्त मतवारा।
पाँव परावै, घिन उपजावै, रति के अंत अपारा ।।

नींद मिटाती, करै सजाती, प्रिय बन्धुन से न्यारा।
जो बन वाले, जरा हवाले करै हरै बल सारा ।।

भानुमती - हाय ! वे आपुस की परवशता के भोग विलाश अब कहाँ चले गये ?

राजा: - यह है मेरे प्रीतम आगे यह मेरि परम पियारी।
इसकी दृष्टि वृष्टि पंकज की हँसनि सुधा विस्तारी ।।
प्रेम अचल है हम दोनों का छनिक वियोग दवारी।
ये सब जोबन रोग उपद्रव नाश विपा की भारी ।।

देवतिलक- राजन् ! आप जवानी को रोग कैसे बतलाते हैं ?

राजा - सुनिये -
जोवन रोग जबै धरि दावै ।।
काम दुसह ज्वार उपजावै नैनन को घुमड़ाबै।
जानु नितम्ब गाल हिय अङ्गन अति ही सुन्न बनावै ।।
सो-सो करत विकार कि जिनसों सुहृद गाढ़ दुःख पावै।
नारि आदि उपचार कहा यह आत्म नाश करिजावै ।।

भानुमती- (राजा से छिपकर नेपथ्य की ओर मूँह करके) बसंतिया ! राजकुमार को ले आ। उन्हें राजा के सामने करके मोह हटाऊँ।

राजा - (स्वगत) यह भी एक कठिनाई उपस्थित होती है।

(कुमार आकर माता के समीप खड़ा होता है)

भानुमती- (आँसू भरकर कुमार को राजा के सन्मुख करती हुई) नाथ ! अब इस बालक की रक्षा कौन करे ?

राजा - (वैराग्य शोकयुक्त स्वगत) ऐसे बाहिरी अन्य भाव जागृत ही हैं जिनसे बकवादी विवेक पराजित होते हैं। जो पुत्र ही से इनकी रक्षा हो जाती तो क्यों कोई इन आन्तरिक भावों को जीतने का प्रयास करता।

देवतिलक- (सानन्द की भाँति देखकर) महाराज ! अब इसका उत्तर दीजियें ।

राजा- दूसरे की वस्तु की रक्षा का भार ही क्या ?

यह मेरा आत्मा सुत है प्रतीत जीवों की ठीक यह क्योंकर है ।
आत्मा की साक्षी में भिन्न यह देह जनित देहान्तर है ॥
है अनादि आतमा अजन्मा कैसे जन्म यह पाता है ।
भिन्न देह से नित्य निवृत हो कैसे बाप हो जाता है ॥

और जो यह मान भी लिया जाय कि आत्मा ही जन्य-जनक भाव को प्राप्त होता है, तो दैव ही सदैव विश्व की रक्षा कर सकता है । जिसकी दैव रक्षा नहीं करता उसकी सर्वसत्व रक्षक विष्णु भगवान् को छोड़कर जिन्होंने ब्राह्मण के मरे पुत्रों को ला दिया, और कोई किञ्चित् भी रक्षा नहीं कर सकता ।

देवतिलक - (कुमार को दिखाकर) हा कष्ट !

हिय के सुख सनेह से चंचल चपल चोलना धारे ।
आया धाय बाल अब इसको कौन गोद बैठारे ॥
फैल रही अलकैं हैं , इनको कर से कौन सम्हारे ।
सानंद कौन बसन अँचल से धूर बदन के झारे ॥

राजा - (स्वगत) इस प्रकार के ललित भाव किसके हृदय के अंकुश होते हैं ? (प्रकाश) मंत्रिन् !

इस प्रकार के भाव के द्वारा क्षणिक मलिनता आने से ।
क्या निर्मल आत्मा को ज्यों दर्पण को भाव लग जाने से ॥

और भी-

रकत रेत के आव से बनकर नारी व्रण से जो निसरै ।
ऐसे नश्वर कीट पुत्र का किस कारण सत्कार करे ॥

देवतिलक- राजन् ! पुत्र प्रधानता स्वर्ग सुख का कारण है । इसलिए महात्मा जन इसका आदर करते हैं ।

राजा - स्वर्ग का सुख ही क्या है ?

पहिले तो पाने के हेतु तप दान पुन्य कर दुःख सहैं ।
पानेपर जाने की शङ्का दुःख से सदा मलिन रहैं ।।
जाने पर दुःख होता ही इससे हम तो यही कहैं ।
जो स्वर्गादिक सुख चाहैं वे आपद ही को क्यों न चहैं ।।

स्वर्ग में दुःख दुर्दिन कितने हैं और सुख खद्योत कितना है इस विषय में महात्मा लोग उदाहरण देते हैं -

ब्रह्मानँद धन सिन्धु को, एक बिन्दु स्वर्गादि ।
ऐसो अति ही तुच्छ सुखं, नहिँ चाहौं मैं बादि ।।

देवतिलक- हा कष्ट ! इस राजाश्रित सम्पदा आदि का क्या ढ़ङ्ग हो ?

राजा - किसी भोग भूखे का आश्रय मुझे छोड़ सम्पद लेवें ।
काम क्रोध मद की यह आपद आपीको सेवें ।।

(हाथ जोड़कर)

हे ! गुरु सुरगण विप्रगण छमहुँ चूक नहि मोर ।
श्रुति निदेश विज्ञान मोहि खींचत हरि की ओर ।।

देवतिलक- राजन् ! इस प्रकार आप अकिंचन को अपने शरीर का भरण-पोषण भी कठिन होगा ।

राजा- तन को शान्ति सुलभ सुख जौन सो सुख घर में सपने नाहिं ।।
फिरना देश देश स्वच्छन्द, रहना सभी भाँति निर्द्वन्द ।
पर घर सुर सअन्नफल कन्द, पाना नाना भोग सदा हीं ।।
कथा कोमल सेज विछाय, अपने आत्मा में चितलाय ।
सोना सुख की निद्रा पाय, शीतल घानी पेड़की छाहीं ।।
करना सुख के साथ पयान, जिससे कभी न होय थकान ।
अपनी इच्छा के अनुमान, रहना शीत-घाम के माहीं ।।
और फिर शरीर के भरण-पोषण से हीं क्या प्रयोजन हैं ।
देखो -
आयुष है कण काल स्रोत का जो सदैवं अति बेग बहै ।
तत्सम्बन्धी देह देख पड़ती यह मुझे गत ही सम है ।।

क्षण भर जो यह रहै तो रहै और जाय तो जाय चहैं।
केवल आत्मा हमेशा निर्झर परमानन्द रहैं ।।

इस पर भी जब यमराज को आज्ञा से इन राज्यादि भोगों से एक दिन हम त्यागे ही जायेंगे तो हमी इन बंचकों को क्यों न त्याग दें। ध्यान देकर विचारिये -

उस कारीगर ने क्या हीं कारीगरी दिखाई।
संकल्प हीं से सारी दुनियाँ है ये बनाई।।
विन रङ्ग और बत्ती दीवार के बिना ही।
आकाश पट्ट ऊपर है तसवीर खिचाई।।
कोई सुजान इसकी जादूगरी बतावे।
माया से देखने की दुकान है लगाई।।
'कोई कहे थे सपना कोई कहे अंतरिक्ष नगरी।
कुछ भी नहीं असल में सब कुछ नजर में आई।।

गोरखनाथ- साधु, वत्स ' साधु ! तू सब निर्वाणशाली जीवों से बढ़ गया। मंत्री ! जो किसी तरह रोकने योग्य न हो, उसे रोकने से ही क्या लाभ ? अब राज्य पर राजकुमार का अभिषेक करो। मैं भी राजा के साथ इसकी रक्षा की ओर ध्यान रखुँगा।

देवतिलक- (साँस लेकर) भगवन् ! जैसी आपकी आज्ञा।

(भानुमती शोक-विकल विलाप करती हैं)

गोरखनाथ- रानी ! तेरे स्वामी के अमृतीकरण के समय फिर तेरा समागम होगा। (राजा से) राजन् ! तेरा क्या हित करूँ।।

राजा - भगवन् ! अब आप इससे भी अधिक और क्या हित करेंगे ?

गोरखनाथ- तो भी यह होवे -

साधु काज हो सिद्ध प्रभारंजन ते राजा वृद्धि लहै।
लक्ष्मी अक्षत पक्षपात नित उदार जन के तीर रहै।।
तेरो बोध- नसावन आये सुहृदन देई सदर्थ अतोल।
गुणपरखी वचनेश गिरा 'हरिहर' की लेवे गौरव मोल।।

।। इति पंचमअङ्क के साथ नाटक समाप्त ।।

भर्तृहरिनिर्वेदस्थश्लोकानां सूची

अद्यैव त्वमनङ्ग मङ्गलकला - २/१५
अधिकतरप्रियमेतन्ममेति - ३/११
अधिकाधिकानि गुणतो - ३/१०
अन्तर्दाहिमहाहिदुःसह - ४/४
अन्यं कंचिदुपाश्रयन्तु - ५/२५
अल्पस्यापि व्यपायेन प्रेयसो - ३/४
अवि अलिअं पिअमरणं - २/१
अस्याः स्निग्धशिरीषकेसर - २/६
आयुः कोऽपि कणो महा - ५/२७
आहूयान्तर्विसृमरसुख - ५/२०
इन्द्रिपाण्युपलग्रन्थीन्वज्रसार - ५/१२
उद्भूता किमु कालकूट. - ४/१२
एता एव स्तृताः स्त्रीणां - १/१२
एषां चित्यर्घदग्धावयव - २/७
कथमपि यत्र क्लिष्टे -३/७
कथमहह तथाविधेन तादृक् - २/५
कथमहह परस्परप्ररूढप्रणय - ३/२
करीषानुच्चेतुं दहनमुपनेतुं - ३/५
कर्मणः शान्तिकस्यान्ते - १/३
कष्ट एष तरलस्तरुणीनां - ५/३
कान्तिः क्लाम्यति कुङ्कुमादपि - २/९
कामं दुर्विषहज्वरं जनयति - ५/१६
किं राजेति रुजो भिया - ४/९
किं तादृशेन धैर्येण - २/१३
किं देव्याः समभून्मनो - २/४
किं न्वेत एव तरलाम्बु - ५/२
क्षणिकादाविलीभावाद्भावा - ५/२१
गण्डाख्यां न रुजं जिघृक्षति - ५/११
चित्तं गृहादद्य महान्धकूप - ५/७
चित्रं चित्रमरङ्गवर्त्तिकमिदं - ५/२९
चिरविस्मृत-मधुर - १/५
चिराचीर्णैर्दुःखैः समुदयति - ५/२३
चेत्कल्पकोटिमथ कल्पश - ३/१२
च्युताशङ्कं चौरादपगतभयं - ४/६
जनो मृषाकरोद्धेदं विषस्य - ४/१६
जन्तोः प्रत्यय एष यन्मम - ५/१८
तन्वि त्वं निधिरेव सद्मनि - १/७
तप्तं नैव तपो मया हत धिया - ५/९
तामसी सा मसीवृष्टिर्याव - ५/४
तावकीनैर्गुणैः प्रीतश्चिर - १/६
त्वत्कान्त्या मम कौमुदी - १/१८
त्वया त्यक्ताः प्राणाः - ३/३
दन्तानां दृढतां कचस्य च - ४/१८
देहस्यास्य हितानि यद्विर. - ३/१३
धैर्यं ध्वंसयति श्रियं क्व - ५/१४
न द्यूते रमते मनोऽस्य - १/४
न प्रीणात्ववनान्मनागपि - ४/८
नष्टं नष्टं पश्यदेवेष्टमिष्टं - ५/८
नाशे रुदन्ति मनसा - ४/१०
निजकरपरीरम्भप्रीतिदायो - १/१९
नैव स्वकीयानि हिताहितानि - २/२
परोपदेशे पाण्डित्यमिदं - ३/१५
प्राप्यं प्राणान्पीडयित्वा - ४/५
प्रायः प्रेयोविरहविधुरान् - १/१०

प्रियविरहितान्हातुं प्राणानयं - २/३
प्रियस्य वस्तुनो नाम गुणान् - ३/६
प्रेयानेष ममागतः प्रियतमेयं - ५/१५
ब्रह्मानन्दघनाम्भोधेः कणाः - ५/२४
भवितव्यता भगवती वस्तु - ३/८
भावाः सन्त्येवापरे जागरूका - ५/१७
भुज्यन्ते विषया मयेति - ४/१५
मद्ग्राहोद्भ्रान्तिर्भयमकर - ३/९
मनागेवाज्ञानापहृतहृदया - ५/१३
ममामी चामीषामहमिति - ४/११
मामेवं विधिहतमित्यपोह्य - २/१६
म्रियमाणे मयि भवती - ५/१
यदामोदो मोहं दिशिदिशि - ३/१७
यदि यौवने न तृष्णा - ४/१७
यद्वन्माद्यति सौष्ठवेन - ३/१४
यस्मादासीत्तन्ममत्वं मम त्वं - ४/२
यामीमाज्ञां हा वयं - ५/२८
लावण्यौदार्यवीर्यार्जवजनित - ४/७
विश्वं शश्वद्दैवरक्ष्यं न रक्ष्यं - ५/१९
विषयेभ्यः समाहृत्य मनः - ३/१८
वैगुण्यमण्वपि सरोजदृशो - २/१२
श्रृङ्गारादिरनेकजन्ममरण - १/२
शैत्यायादृत्य मूर्ध्ना रजनि. - १/१
शोकसंवलनदावपावकप्रौढ़ - ४/१
श्रुत्वैव या मम विनाशमलीक - २/८
संविधाय नवनीतसंविदः - ४/३
संकल्पात्सकलापि संसृति - ३/१६
सतीनां वः पत्यौ प्रणय - १/११
सहजेन जरापराहता - ३/१
साधोः सिध्यतु कार्यमृध्यतु - ५/३०
सारम्भा यदि बुद्धि - ५/६
स्त्री व्रणान्नश्वरे रक्तरेतः - ५/२२
स्नाखावनद्धघन - ५/१०
स्नेहाम्भोनिधिरयं - २/१४
स्मितैश्चित्रे नेत्रे किमिति - ५/५
स्वच्छन्दाटनमात्रतः - ५/२६
स्वयं निर्मायान्धुं बत हत - २/११
स्वाधीनस्वामिकायाः किमितर - ४/११
स्वाराज्यान्नहुषः पपात - ४/१३
हित्वा मां विधिहतमेष - २/१०
प्रथमाऽङ्के - १२
द्वितीयाऽङ्के - १६
तृतीयाऽङ्के - १८
चतुर्थाऽङ्के - १८
पञ्चमाऽङ्के - ३०
आहत्य - ९४ पद्यानि

प्रस्तुत नाटक में सूक्तियों का बाहुल्य है, यहाँ उनका संकेत मात्र किया जा रहा है। यथा - २/१, २/१०, २/११, ३/६, ३/१२, ३/१४, ३/१५, ४/२ (गद्य), ४/४, ४/५, ४/११, ४/१२, ४/१३, ४/१४ (गद्य), ४/१५, ४/१७, ५/२, ५/३, ५/६, ५/११, ५/१२, ५/१३, ५/१४, ५/१५, ५/१६, ५/२६ आदि।

संवत् १९ [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] २

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

सूर स्व जो को मरम न जाने, पी मैं [illegible]

[illegible] ऐसो [illegible] और कोई [illegible]

[illegible] पीयो [illegible]

[illegible] [illegible] पीया

[illegible] [illegible] करीने

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] पीया [illegible] शरीर [illegible]

[illegible] पीके [illegible] मीरा

[illegible] पीयो [illegible]

[illegible] पीके [illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] भारत [illegible]

[illegible] [illegible]

पीया [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

फिर [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] नहीं

[illegible]

[illegible]

[illegible]

~~फिर [illegible] और [illegible]~~

[illegible]

[illegible] नहीं [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] के [illegible]

[illegible] नहीं

[illegible] में [illegible] है

[illegible] के [illegible] है

[illegible] 1/4

[illegible] नहीं